भारतीय संस्कृति

[भारतीय संस्कृति की रूपरेखा और प्राचीन भारतीय कला]

सचित्र

बाबू गुलाबराय
एम० ए०, डी० लिट्०

Ravindra Prakashan.
रवीन्द्र प्रकाशन
पाटनकर बाजार, ग्वालियर

प्रकाशक :
र वी न्द्र प्र का श न
पाटनकर बाजार, ग्वालियर

आद्योपांत संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण : १९७४–७५

मूल्य : ३५·००

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स, आगरा–३

आत्म-निवेदन

यद्यपि संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसमें साहित्य, संगीत, कला, धर्म, दर्शन, लोकवार्ता, राजनीति सभी का समावेश होता है, तथापि वह मूल रूप से इतिहास का अंग है। इतिहास में अभी तक राजनीति को ही विशेष महत्व दिया जाता रहा है और राजा-महाराजा, वीर सेनानी आदि ही इतिहास के वास्तविक सूत्रधार माने जाते रहे हैं किन्तु किसी देश की वास्तविक समृद्धि और सम्पन्नता उसके साहित्यिकों, विचारकों, कवियों, कलाकारों, जनता की मनोवृत्ति, रहन-सहन, उसकी नैतिक उन्नति, जीवनयापन के स्तर, व्यवसायियों, संस्थाओं, शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं आदि पर निर्भर होती है। अब देश के इतिहास-निर्माताओं में राजा-महाराजाओं के अतिरिक्त कवियों, विचारकों, कलाकारों और जनता-जनार्दन को भी स्थान मिलता है। राजनीति की प्रवर्तक तो जनता की विचारधारा है। इसलिए अब इतिहास का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है और राजनीतिक इतिहास के साथ सांस्कृतिक इतिहास को भी महत्व दिया जाने लगा है। यह परिवर्तित दृष्टिकोण पाठकों को देश के शरीर से नहीं वरन् आत्मा से भी परिचय करा देगा और उनको जन-जीवन का भी निकटतम सम्पर्क करा सकेगा।

"भारत का सांस्कृतिक इतिहास" लिखने के लिए उसके सागर के से विस्तार और गाम्भीर्य को एक पुस्तक के आकार में बाँधने के लिये जितना विविध विषयक ज्ञान अपेक्षित है उतना एक साधारण से मनुष्य में होना असम्भव सा है। इस सम्बन्ध में अपनी सीमाओं का पूर्ण अनुभव रखते हुए भी मैंने भारतीय संस्कृति पर पुस्तक लिखने का जो साहस किया वह कविकुलगुरु कालिदास के "तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्" से (अज्ञानवश घड़ों की नाव के सहारे दुस्तर सागर को पार करने के इच्छुक होना) कहीं अधिक था। (दुस्साहस में तो कालिदास से भी बढ़ा-चढ़ा हो ही सकता हूँ) अस्तु मुझे इस महासागर को पार करने के लिये कुछ ऐसे लेखकों का अवलम्बन लेना पड़ा जो कि इस कार्य में मुझसे कुछ अधिक सफल रहे हैं, उनमें से कुछ के नाम तथा उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—श्री रामगोविन्द त्रिवेदी कृत वैदिक साहित्य, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री लिखित संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार रचित संस्कृत वाङ्मय के अमर रत्न, डाक्टर बेनीप्रसाद प्रणीत हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, श्री हरिदत्त विद्यालंकार रचित भारत का सांस्कृतिक इतिहास, कल्याण का संस्कृति अंक, श्री रामकृष्ण परमहंस स्मारक ग्रन्थ Culturage Heritage of India Vol. III, श्री नरेन्द्रनाथ लॉ महोदय की Hindu Polity, डाक्टर यदुनाथ सरकार की India through ages, श्रीमती अक्षयकुमारी देवी लिखित The fundamentals of Hindu Sociology, श्री अम्बिका दत्त बाजपेयी लिखित हिन्दू राजस्व, डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, डाक्टर श्यामसुन्दरदास प्रणीत हिन्दी भाषा और साहित्य

प्रमुख है। इनके अतिरिक्त 'क्वचिदन्यतोऽपि' के साथ रामायण, महाभारत, काव्य, स्मृतियों आदि के चंचुप्रहारी निजी अध्ययन ने कुछ हाथ-पैर पीटने में सहारा दिया है। ऊपर जिन महानुभावों की नामावली दी है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। पाठकगण विशेषकर विद्यार्थी पाठक विषय के पूर्ण ज्ञान के लिए इन पुस्तकों का यथासमय अध्ययन कर अपने कर्तव्य का पूर्णतया पालन करेंगे।

इतिहास में मौलिकता के लिये विशेष स्थान नहीं रहता। इतिहासकार की कल्पना और मौलिकता सत्य की लोह श्रृंखला से बंधी रहती है, फिर भी उसमें बहुत-कुछ अनुमान और तर्क से काम लिया जाता है। इतिहास में भी कुछ वैज्ञानिक रूढ़ियाँ बन जाती हैं। सत्य को रूढ़िबद्ध करना उनके उन्मुक्त सौन्दर्य को आघात पहुँचाना है। माता सरस्वती के मन्दिर के द्वार सदा उन्मुक्त रहने चाहिए। वैज्ञानिक रूढ़ियों के विरुद्ध जो मत अब प्रचार में आ रहे हैं, इस पुस्तक में उनको भी समुचित आदर दिया गया है किन्तु प्रचलित और सम्मान्य मतों से विद्यार्थियों और सम्मान्य पाठकों को अनभिज्ञ नहीं रखा गया है। जहाँ तक हो सका है एक विस्तृत क्षेत्र को इस पुस्तक के घेरे में बाँधने का प्रयत्न किया गया है किन्तु पुस्तक के सीमित आकार और अपनी अल्पज्ञता के कारण बहुत से विषयों को छोड़ना पड़ा, उसका मुझे वास्तविक खेद है। उदाहरणतया दक्षिण की कला के साथ दक्षिण के साहित्य का भी परिचय देना चाहिए था, लोकवार्ता, रीति-रिवाज, मेले-तमाशे, रहन-सहन का थोड़ा-बहुत ज्ञान होते हुए इन विषयों के समावेश करने का मोह स्थानाभाव के कारण छोड़ना पड़ा। इसमें इस बात का प्रयत्न किया गया है कि एक साधारणतया विदग्ध पुरुष को अपने देश की संस्कृति के बारे में जितना ज्ञान नितान्त आवश्यक है उतना दिया जा सके।

संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में हमारे विद्यार्थियों को बहुत कम ज्ञान रहता है, उसका दिग्दर्शन कराने के साथ-साथ उसमें पाये जाने वाले सांस्कृतिक तत्वों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत साहित्य पर आधारित तथ्यों की पुष्टि के लिए उपयुक्त उदाहरण भी दिये गये हैं। इसमें इतिहास के विद्यार्थियों को साहित्य से जितना सीधा सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता है उस सम्पर्क को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार भारतीय कला के सम्बन्ध में भी दिशा-निर्देश मात्र किया गया है। कुछ कलाकृतियों के चित्र भी दिये गये हैं। पुस्तक में जो तथ्य सामने रखे गये हैं वे साहित्यिकता के साथ उनको शुष्क वैज्ञानिकता से बचाते हुए रखे गये हैं। मैं इस आशा से कि साधारण पाठक और विद्यार्थी इस पुस्तक को अपने मानसिक क्षितिज के विस्तार के लिए अपनायेंगे, इसको उनके हाथों में सप्रेम सौंपता हूँ।

गोमती-निवास,
दिल्ली दरवाजा, आगरा

विनीत
गुलाबराय

प्रकाशकीय

'भारतीय संस्कृति' पुस्तक का संशोधित संस्करण आपके समक्ष है। स्वर्गीय बाबू गुलाबराय जी की इस पुस्तक का संशोधन कार्य उनके जीवन में पूर्ण न हो सका। इस पुस्तक के कार्य को आगे बढ़ाने एवं पूर्ण करने का श्रेय डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, संस्कृत विभाग, राजा बलवन्तसिंह कॉलेज, आगरा को है, उन्होंने यथाशक्ति बाबूजी की मौलिक विचार-धारा को ध्यान में रखते हुए, बड़ी लगन व निष्ठा से इसका संशोधन एवं परिवर्द्धन किया है।

प्रथम खण्ड भारतीय संस्कृति की परम्परा का उपोद्घात है। इसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के मूल उपादान एवं उसके विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। **द्वितीय खण्ड** 'प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति' के नाम से अभिहित है। इसके अन्तर्गत वैदिक वाङ्मय, वैदिक विचारधारा, वैदिक और श्रमण संस्कृति तथा सैन्धव सभ्यता का निरूपण किया गया है। **तृतीय खण्ड** 'प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन' की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। इसमें वर्णाश्रम धर्म, सोलह संस्कार, प्राचीन भारत में शिक्षा पद्धति, भारतीय समाज में नारियों का स्थान, प्राचीन राज-व्यवस्था तथा भारतीय धर्म और दर्शनों की रूपरेखा, वर्णित है। **चतुर्थ खण्ड** में 'प्राचीन भारतीय कला और विज्ञान के द्वारा अभिव्यक्त सांस्कृतिक मूल्यों' का निरूपण है। इसके अन्तर्गत भारतीय कला, मौर्यकाल की कला, शुङ्गकाल की कला, कुषाणकाल की कला, गुप्तयुग-भारतीय कला का स्वर्णयुग, मृण्मूर्तियाँ, हर्षवर्धन काल की कला, जैन मूर्तिकला, भारतीय कला की अन्तिम दीप्ति, चित्रकला का उद्भव एवं विकास, संगीत कला का उद्भव एवं विकास तथा प्राचीन भारत में वैज्ञानिक उन्नति, संस्कृति के अभिलेख, संस्कृति एवं काव्य परम्परा का वर्णन है। **पंचम खण्ड** में बृहत्तर भारत अर्थात् 'प्राचीन भारत का विदेशों से सम्पर्क' वर्णित है। अन्त में परिशिष्ट दिया गया है, इसके अन्तर्गत प्राचीन भारतीय कला के प्रसिद्ध स्थलों एवं कृतित्व तथा सांस्कृतिक तत्वों का संक्षिप्त परिचय व हिन्दी व अँग्रेजी ग्रन्थों की सहायक सूची है।

आशा है कि इस आद्योपांत संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण से भारतीय संस्कृति के अध्येताओं को पूर्ण संतोष प्राप्त होगा।
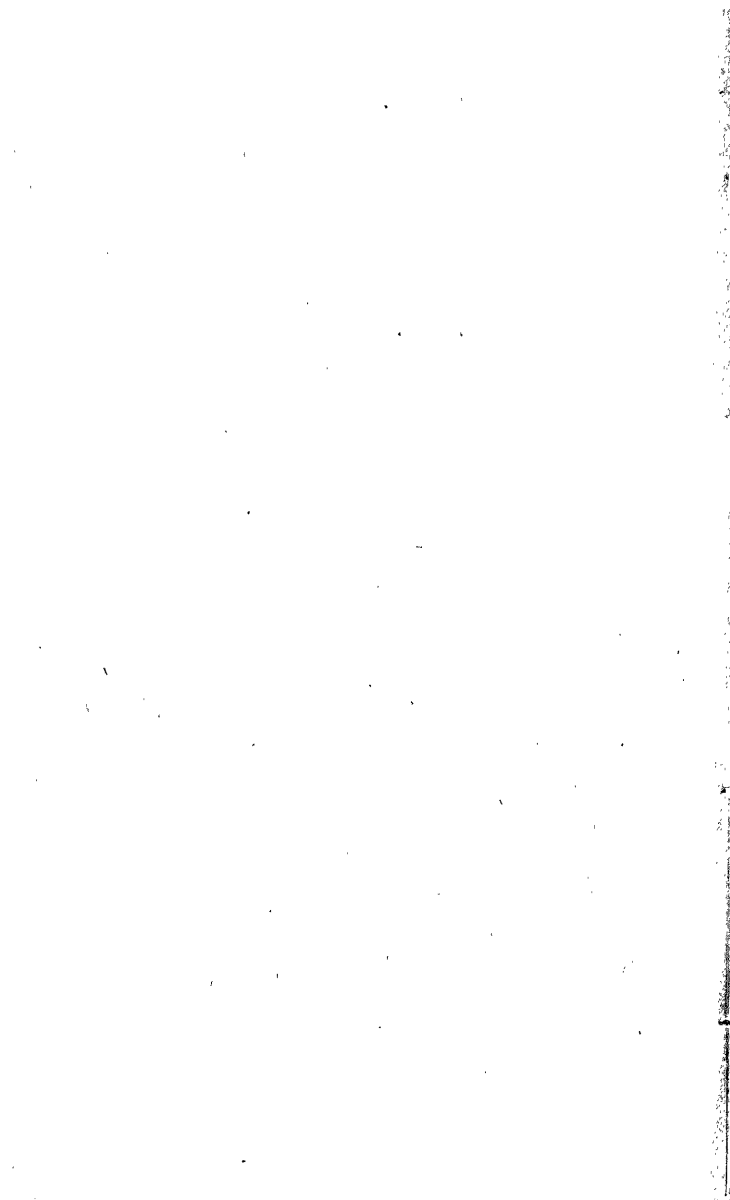
अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृति की परम्परा

द्वितीय खण्ड

प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति

तृतीय खण्ड

प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन

चतुर्थ खण्ड

प्राचीन भारतीय कला एवं विज्ञान का सांस्कृतिक मूल्यांकन

पंचम खण्ड
बृहत्तर भारत

चित्र-सूची

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृति की परम्परा

१ भारतीय संस्कृति के मूल उपादान

संस्कृति शब्द का अर्थ

'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। इसका भी अर्थ 'पैदा करना या सुधारना' है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। जातीय संस्कारों को भी संस्कृति कहते हैं।[1] भाव-वाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह-वाचक शब्द है। जलवायु के अनुकूल रहन-सहन की विधियों और विचार-परम्पराओं के, जाति के लोगों में दृढ़ मूल हो जाने से, जाति के संस्कार बन जाते हैं। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल न्यूनाधिक मात्रा में पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त करता है। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू तथा सामाजिक जीवन में परिलक्षित होते हैं। मनुष्य अकेला रहने पर भी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। ये संस्कार दूसरे देश में निवास करने तथा दूसरे देशवासियों के सम्पर्क में आने से कुछ परिवर्तित भी हो सकते हैं; और कभी-कभी दब भी जाते हैं। किन्तु, अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर फिर उभर आते हैं।

धर्म और संस्कृति

धर्म में भी प्रायः वे ही संस्कार आते हैं जो संस्कृति में हैं। हमारे यहाँ धर्म व्यापक शब्द है। वह सारे जीवन को शासित करता है। धर्म और संस्कृति में अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म में श्रुति, स्मृतियों और पुराण ग्रन्थों का आधार रहता है। किन्तु, संस्कृति में परम्परा का आधार रहता है। धर्म और संस्कृति का कोई विरोध नहीं है। धर्म देश-निरपेक्ष है, किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध देश से अधिक है। मुसलमानों में पृथक रहने की प्रवृत्ति अवश्य है, फिर भी उन्होंने देश की संस्कृति और रीति-रिवाजों को बहुत कुछ अपनाया है।

संस्कृति के दो पक्ष

संस्कृति का बाह्य पक्ष भी होता है और आन्तरिक भी। उसका बाह्य पक्ष आन्तरिक का प्रतिबिम्ब नहीं तो उससे सम्बन्धित अवश्य रहता है। हमारे बाह्य

---

१. सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम संभेदाय छान्दो० ८।४।१

आचार हमारे विचारों और मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं। यद्यपि संस्कृति का मूल आधार मानवता है तथापि देश-विशेष के वातावरण की विशेषता के कारण वह उस देश के नाम से—जैसे भारतीय संस्कृति, ईरानी संस्कृति, अंग्रेजी संस्कृति आदि नामों से—विहित होने लगती है। संस्कृति का एक ही मूल उद्देश्य मानते हुए भी हम यह कहते हैं कि संस्कृति देश विशेष की उपज होती है, उसका सम्बन्ध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित, पोषित एवं परिवर्द्धित विचारों से होता है।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति के बाह्य पक्ष को ही सभ्यता कहते हैं। सभ्यता मूल अर्थ में तो व्यवहार की साधुता की द्योतक होती है। (सभायां साधवः सभ्याः) किन्तु अर्थ विस्तार से यह शब्द रहन-सहन की उच्चता तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने के साधनों, जैसे कला-कौशल, स्थापत्य, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति पर लागू होता है। जिस सभ्यता का आधार संस्कृति में नहीं वह सभ्यता, सभ्यता नहीं। संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की भाँति निष्प्राण रहता है। विनय और शील के बिना कटी-छटी पोषाक, सुसज्जित बंगले, सेन्ट और पाउडर मनुष्य को सभ्य नहीं बना सकते। विनय और शील के बाहरी रूप को ही शिष्टाचार कहते हैं, किन्तु यह भी दिखावा मात्र नहीं है। शिष्टाचार का अर्थ है शिष्टों का आचरण, किन्तु इसमें रूढ़ि या परम्परा की भावना लगी रहती है। इसमें आन्तरिक भावना प्रधान रहती है।

संस्कृति की परम्परा

सुप्रसिद्ध विदेशी विद्वान श्री रेडफील्ड ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि संस्कृति से हमारा अभिप्राय परम्परागत समझ-बूझों के संगठित समूह से है जो कला एवं कलाकृतियों में परिलक्षित होता है तथा मानव समूह की विशेषताएं प्रगट करते हुए परम्परागत रूप में मान्य होता है। इस प्रकार संस्कृति अर्जित विशेषताओं का एवं व्यवहार के प्रतिमानों का योग है जो व्यक्ति एवं संस्था द्वारा आने वाली पीढ़ियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है।

मुनिश्री विद्यानन्दजी ने मनुष्य की शालीनता के तीन उपस्तम्भ—समाज, संस्कृति और सभ्यता माने हैं। "समाज में वह पलता है, संस्कृति-क्षीर को पीकर पुष्ट होता है और सभ्यता के अश्व पर आरूढ़ होकर समय के राजमार्ग पर द्रुतगति से दौड़ लगाता है। समाज उसे सहस्रों वर्षों का संचित गौरवपूर्ण ऐतिह्य-उपायन भेंट करता है, संस्कृति उसे आत्मधर्म का अंगराग लगाती है और सभ्यता की सुरभि से उसके मनः प्राणों को आप्यायन मिलता है।"

संस्कृति को मुनिश्री **समाज की आचार संहिता** मानते हैं क्योंकि बिना संस्कृति के समाज-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। वह समाज को मार्ग-दर्शन कराती है और अयुक्त स्वेच्छागामिता से रोकती है। साथ ही वह अपनी विशिष्ट सम्पत्तियों से उसे विभूषित करती है। कहना चाहिए कि संस्कृति समाज

तथा व्यक्ति को सुधारती है, सँवारती है और उज्ज्वलता प्रदान करती है। आत्मधर्म का जागरण संस्कृति के पावन प्रभात में होता है। युग-युग में जिन आदर्श, आचारवान् महापुरुषों ने गहन-गम्भीर ज्ञानसागर के मन्थन से जिन शाश्वत मूल्यवान् मणिरत्नों का आविर्भाव किया, उन्हीं से संस्कृति-कोष को समृद्धि मिली। वे सांस्कृतिक मणिरत्न समाज के आचार में, व्यवहार में इतने तद्रूप हो गये हैं कि उन्हें अलग से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह गई।[1]

संस्कृति के बाह्यांग

संस्कृति के तीन बाह्याङ्ग हैं—भाषा, रहन-सहन और माङ्गल्य वस्तुएँ। इनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

(१) **भाषा**—भाषा संस्कृति का कुछ बाहरी अंग-सा है, फिर भी वह हमारी जातीय मनोवृत्ति की परिचायक होती है। 'कुशल' शब्द को ही लीजिये। वह हमारी प्राचीन संस्कृति की ओर संकेत करता है। जिसमें कुश लाने की शक्ति हो (पूजा-विधान की सम्पन्नता के लिये कुश काटकर लाना एक दैनिक कार्य बना हुआ था।) अथवा जो कुश छेदनकर ला सकता था वह तन्दुरुस्त और कुशल भी समझा जाता था। प्रवीण का सम्बन्ध वीणा से है—प्रकर्षे वीणायां प्रवीणः। हमारी भाषा में 'गो' से सम्बन्धित शब्दों का बाहुल्य है, जैसे (गोधूली बेला—जिसमें विवाह जैसे शुभ कार्य सम्पन्न होते हैं), गोष्ठी गवेषणा (गाय की चाह या खोज के अर्थ-विस्तार द्वारा गवेषणा का अर्थ 'खोज' हो गया), गवाक्ष (गौ की आँखें—खिड़कियों का आकार शायद पहले गोल होता होगा), गुरसी (अंगीठी) यह शब्द गोरसी से बना है। इसमें गौ का दूध औटाया जाता था, गोपुछ (नाटक के संगठन को गौ की पूँछ के समान बताया गया है, अन्त में आकर मूल कथा ही रह जाती है और उसका फैलाव बन्द हो जाता है), गोमुखी (जिसके भीतर माला फेरी जाती है और जिससे जल गिरता है उसे भी कहते हैं), गोपन (छिपाना, यह शब्द भी गौ से सम्बन्ध रखता है—जो वस्तु पाली जाती है, सुरक्षित रखी जाती है वह छिपाकर भी रखी जाती है) आदि। यह बाहुल्य हमारे समाज में गौ की प्रधानता का द्योतक है।

मुनि श्री विद्यानन्द के शब्दों में 'यथार्थ में देखा जाय तो गौ अहिंसक समाज-रचना का मुख्य आधार है, उसकी प्रथम आवश्यकता है—शाकाहारियों की रसोई का रसमय आलम्बन घृत, दुग्ध, दधि, नवनीत, तक्र, खोवा और अनेक संयोगी व्यंजन गौ के अमृतमय स्तन्य की देन हैं। जननी के दूध को बालक कुछ वर्षों तक पीता है, परन्तु गो-दुग्धपान तो वह जीवन भर करता है। जननी केवल अपने शिशु-पुत्र को स्तन्य पिलाती है; परन्तु गौ अपने वत्स को पिलाने के साथ-साथ मानव की इच्छाओं के कलश को भी दूध से आकण्ठ-पूरित करती है। इसलिए यहाँ गौ को गृह्य पशुओं

---

१. पिच्छि कमण्डलु, पृ० १६६

में सर्वप्रथम स्थान दिया गया और 'गोधन, गजधन वाजिधन' कहते हुए उसे धन-सम्पत्ति स्वीकारा गया ।

गोरहित भारतीय संस्कृति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती । प्राणि-शास्त्र का अध्ययन अनुसंधान करने वाले पुराण-भारतीयों ने गौ को पृथ्वी के समान गुणशील कहा है । नीतिकार कहते हैं 'तृणं भुक्त्वा पयः सूते कोऽन्यो धेनुसमः शुचिः' (अहो ! तिनके चबाकर क्षीर समुद्र उत्पन्न करने वाली गौ के समान और कौन शुचि है ?) कृषि प्रधान भारत के सूक्तिकारों ने 'गोभिनं तुल्यं धनमस्ति किंचित्'—गोवंश के तुल्य अन्य धन नहीं है, कहते हुए गौ को भारतीयों का धन कहा है । पुराणों में गृहस्थों और नृपतियों के वैभव का वर्णन परिचय उनके गौ-बहुल होने से किया गया है । सारे देश में घर-घर में गोपालन हो, इसी भावना से प्रत्येक दानादि धार्मिक अवसर पर दक्षिणा रूप में गोदान होता था ।

भारत एक गर्म देश है । यहाँ हृदय को शीतल करना एक मुहावरा है । किन्तु आँग्ल देश ठण्डा है । वहाँ की परिस्थिति के अनुकूल Warm reception और Cold treatment आदि मुहावरे हैं । Breaking the Ice मौन भंग करने के अर्थ में आता है और Ice ठंडेपन का प्रतीक है । मौन ठंडेपन का ही द्योतक है । अंग्रेजी का प्रयोग Killing two birds with one stone भी हिंसात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है । हमारे यहाँ इसका अनुवाद हुआ है—'एक ढेले में दो पंछी' । किन्तु उसमें वह मधुरता नहीं जो 'एक पंथ दो काज' में है । उसके कहते ही हमको "गोरस बेचन हरि मिलन, एक पंथ दो काज" की बात याद आ जाती है । इस प्रकार भाषा-प्रयोग से सिद्ध होता है कि हमारी संस्कृति मूलतः अहिंसावादी है ।

(२) **रहन-सहन**—हमारा रहन-सहन, पोशाक आदि सभी बात जातीय परिस्थिति, देश के वातावरण और देश की भावनाओं से सम्बन्धित हैं । जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, नहाकर खाना, लम्बे-ढीले कपड़े पहनना, बेसिले कपड़ों को अधिक शुद्ध मानना, ये सब चीजें देश की आवश्यकताओं और आदर्शों के अनुकूल हैं । गरम देश में पृथ्वी का स्पर्श बुरा नहीं लगता । इसलिये यहाँ जूतों का इतना मान नहीं है जितना कि पाश्चात्य देशों में । यहाँ हाथ से खाने का चलन इसलिए हुआ है कि यहाँ पर हर समय हाथ धोये जा सकते हैं । अन्न को भी देवता माना जाता है, उससे सीधा सम्पर्क अधिक सुखद और स्वाभाविक समझा जाता है । यहाँ नहाने के लिए जल की कमी नहीं और नहाने की आवश्यकता भी अधिक होती है, इसलिये नहाना धर्म एवं संस्कृति का अंग हो गया है ।

इस देश में शरीर को अधिक महत्व नहीं दिया जाता । इसलिये लम्बे कपड़ों को, जो शरीर को उभार में न लावें और उसे पूर्णतः ढक लें, अधिक महत्व दिया जाता है । बेसिले कपड़े जैसे धोती आदि नित्य सहज में धोये जा सकते हैं । उनकी सीवन में भी किसी प्रकार का मैल नहीं रह सकता, इसलिये वे अधिक पवित्र माने जाते हैं । हमारे यहाँ नंगे सिर की अपेक्षा सिर ढकना अधिक संस्कृतिमय समझा

जाता है। ऐसा सभी पूर्वी देशों में है। यहूदियों के प्रार्थना-भवन में भी नंगे सिर नहीं बैठते। बाल भी शरीर के अंग होने के कारण ढके जाने चाहिये।

(३) **मांगल्य वस्तुएँ**—इसी प्रकार देश के वातावरण और रुचि के अनुकूल ही सामान्य वस्तुओं का विधान किया जाता है। फूलों में हमारे यहाँ कमल को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। इसका सम्बन्ध जल और सूर्य दोनों से है। वह जल में रहता है और सूर्य को देखकर प्रसन्न होता है। जल और सूर्य सृष्टि एवं मानव की महती आवश्यकताओं में से हैं, इसका दोनों से सम्बन्ध है। कमल ही सब प्रकार के शारीरिक सौन्दर्य का उपमान बनता है। चरण-कमल, नेत्र-कमल, मुख-कमल आदि कमल की महत्ता के द्योतक हैं। "नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणम्" इस पद में सभी अंग कमल बन गये हैं।

आम्र (रसाल), कदली, दूर्वादिल, नारियल, श्रीफल (शरीफा) आदि को मांगल्य कार्यों में प्रमुख स्थान दिया जाता है। आम यहाँ का विशेष फल है। इसमें रस भरा रहता है और इसका बौर बसन्त का अग्रदूत है। हमारे यहाँ अश्वत्थ को भी विशेष महत्ता दी जाती है। श्रीमद्भागवद्गीता में अश्वत्थ को भगवान् की विभूतियों में माना गया है। (भारतीय संस्कृति में जिन-जिन वस्तुओं को महत्ता दी गई है वे सब श्रीमद्भागवद्गीता में भगवान् की विभूतियों के रूप में आ गई हैं) 'अश्वत्थः सर्व वृक्षाणां।' भगवान् बुद्ध को भी अश्वत्थ वृक्ष के ही नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। बट वृक्ष को भी ऐसा ही महत्व दिया गया है। स्थावर वस्तुओं में हिमालय को, सरिताओं में गंगा को, पक्षियों में गरुड़ को तथा ऋतुओं में बसन्त ऋतु को महत्ता दी जाती है। स्त्रीलिंग चीजों में कीर्ति, वाणी, स्मृति, बुद्धि और धृति (धैर्य) को महत्ता दी गई है। यह भी हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचायक है।

संस्कृति के आन्तरिक अंग

संस्कृति के आन्तरिक अंगों को भी भारत में विशेष महत्व दिया जाता है। धर्म-ग्रन्थों में अच्छे मनुष्यों के जो लक्षण बतलाये गये हैं, मनुस्मृति में जो धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं, वे सब भारतीयों की मानसिक और आध्यात्मिक संस्कृति के अंग हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में दिये हुए दैवी सम्पदा वालों के लक्षण[1] जिनमें 'अभय' को सबसे पहला स्थान दिया गया है. स्थितप्रज्ञ के लक्षण[2], सात्विक चीजों के लक्षण[3] आदि सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल सभ्य और शिष्ट पुरुष के लक्षण हैं। सभी महाकाव्य ऐसे लक्षणों से भरे पड़े हैं। 'रघुवंश' में रघुकुल के राजाओं के जो गुण बतलाये गये हैं, वे न केवल भारत के सांस्कृतिक आदर्शों के परिचायक हैं, बल्कि उनसे अतीत का भव्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। जैन धर्म में धर्म के अंगस्वरूप दस लक्षण इस प्रकार हैं—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम

---

१. गीता, १६।१—३; २. गीता, २।५४—७२; ३. गीता, १७।७—२२

आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य।

आर्य

आर्य भारत के आदि निवासी थे। भारत की आदि सभ्यता का निर्माण भी इन्हीं आर्यों ने किया था। विश्व के कुछ भागों में इन्हीं आर्यों के वंशजों ने सभ्यता का प्रसार किया। योगवासिष्ठ में आर्य की पहचान इस प्रकार कराई गई है—

कर्त्तव्यामाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥

(योगवासिष्ठ निर्वाण० पूर्वा० १२६।५४-५५)

जो पर्याप्तरूपेण कर्त्तव्यों का आचरण तथा अकरणीय का निषेध रखता हुआ अपने स्वाभाविक चरित्र में निष्ठ रहता है, वह आर्य है। जो आचारानुकूल, शास्त्रानुकूल, शुद्धचित्त-अनुकूल, यथास्थित (यथातथ्य, वस्तुस्वभाव) व्यवहार का संग्रहण करता है, वह आर्य है—

आर्यतायां मृतो योगी शुभ संकल्प सम्भृतान्।
भोगान् भुक्त्वा चिरं कालं योगवाञ्जायते पुनः॥ (वही १२६।५७)

"शुभ संकल्प द्वारा धारण किये गये भोगों को भोगकर आर्यत्व की निष्ठा-प्रतिष्ठा रखते हुए मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति पुनर्जन्म ग्रहण करने पर योग-धारक होता है।"

योग वासिष्ठ की उपर्युक्त कारिकाओं तथा आर्यों के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद से पता चलता है कि उस प्रागैतिहासिक एवं सम्भवतः सृष्टि के आदिकाल में भी आर्यों की संस्कृति एवं सभ्यता महान् थी। यद्यपि ऋग्वैदिक काल में समग्र आर्य-वर्ग एक था, उसमें खान-पान, रोटी-बेटी का निकटतम सम्बन्ध था। उनमें उद्यम-व्यवसाय की भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। एक ऋषि का वक्तव्य द्रष्टव्य है—"मेरा पिता वैद्य है माता पिसनहारी और मैं कवि हूँ। (६/११२/३)।" किन्तु कालान्तर में सम्पूर्ण आर्य जाति कई वर्गों में विभक्त हो गई। प्रमुख वर्ग क्षत्रिय तथा ब्राह्मण थे, शेष आर्य जनता 'विश' कहलाई। ऋग्वेद के नवें मण्डल तक आर्य जाति इन्हीं तीन वर्गों में विभाजित है, दशम् मण्डल में 'विराट पुरुष' द्वारा चार वर्गों की उत्पत्ति का विवरण 'पुरुष सूक्त' से मिलता है। यह दशम् मण्डल अपेक्षाकृत बाद में निर्मित हुआ। ऋग्वैदिक काल में समाज का वर्गों में विभाजन हुआ, वह भी समान स्तर पर। वर्ण-व्यवस्था बाद में पनपी।

आर्य भी चार प्रकार के थे—क्षेत्र आर्य, जो आर्यावर्त में रहने के कारण आर्य कहलाए। धर्म आर्य, जो आर्य धर्म पालन करने से आर्य नाम से अभिहित हुए।

कर्म आर्य, जो कर्म से आर्य थे, और स्वभावज आर्य, जो स्वभाव से आर्य, कुलीन, सभ्य, सज्जन एवं साधु थे।[1]

आर्यों का मूल निवास—भारतीय संस्कृति के प्रवर्तक आर्यों के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में विश्व के प्रसिद्ध इतिहासकार एवं विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। इनमें चार मत प्रमुख हैं; पहला, जर्मन विद्वानों का मत, जिसके अनुसार आर्यों का मूल निवास जर्मन एवं रूस के बीच है। दूसरा, यूरोपियन विद्वानों का, जो मध्य एशिया को आर्यों का मूल देश मानते हैं। तीसरा, पारसी विद्वानों का, ईरान को ही मूल आर्य प्रदेश मानने वाला। चौथा मत उन प्रगल्भ भारतीय विद्वानों का है जो भारत को ही आर्यों का मूल देश मानता है।

मैक्समूलर ने आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया माना है—

"जो दल पूर्व-दक्षिण को गया वह पहले आक्सस और जाकीज नदियों के किनारे बसा और उसके उद्गम की ओर खोखन्द और बदख्शां की उच्चभूमि पर पहुँचे जहाँ उनकी दो शाखाएँ हुईं—एक फारस की ओर चला गया और ईरान, अरब, मिश्र आदि की ओर बढ़ गया और दूसरा काबुल नदी के साथ बढ़कर भारत में आया और आर्य कहलाया जो दल पश्चिम की ओर गया था वह कैस्पियन सागर तक तो एक ही दल में गया था पर वहाँ से अनेक शाखाएँ यूरोप में फैल गईं।"

मैक्समूलर ने आगे चलकर अपने उपर्युक्त मत पर सन्देह किया और अपनी अन्तिम रचना में लिखा कि "जिस प्रकार ४० वर्ष पूर्व मैंने कहा था, उसी तरह अब भी मेरा मत है कि आर्यों की मूल उद्भव भूमि कहीं एशिया में ही है।"

नेहरिंग नामक विदेशी विद्वान् ने दक्षिणी रूस को आर्यों का मूल निवास स्थान माना है। यूकराइन में प्राप्त ३००० ई० पू० के पात्रों के आधार पर उन्होंने अपना मत स्थिर किया है। पोकार्नी ने भी नेहरिंग के मत का समर्थन किया है। डा० पी० गाइल्स ने इस मत का खण्डन किया है और आंशिक प्रमाण मात्र से इस स्थान को आर्यों का मूल देश कहना अनुचित ठहराया है।

पामीर प्रदेश या रूसी तुर्किस्तान को मूल देश मानने वालों के मत का आधार एशिया माइनर में **बोगाजकेई में प्राप्त सन्धि-पत्रों के अभिलेख** हैं जिनमें वैदिक देवता इन्द्र, वरुण, मित्र आदि के रूपान्तरित नाम मिलते हैं। इन अभिलेखों की तिथि १४०० ई० पू० मानी जाती है और अनुमान है कि इस समय इण्डो-ईरानी नस्ल की जातियाँ लघु एशिया में रहती थीं। इस प्रकार आर्य १४०० ई० पू० सीरिया में राज्य करते थे किन्तु यहाँ एक साथ रहने पर भी तो वे कहीं अन्यत्र से आए होंगे। हर्ट महोदय के अनुसार इन्डो-योरोपीय कबीला ही स्थानान्तरण करके

---

१. आर्यम्लेच्छाश्च। 'महाकुल कुलीनार्य सभ्यसज्जनसाधवः।' (अमर० २।१।३)

एशिया में आ गया और अब इण्डो-ईरानी कहा जाने लगा। ये लोग काकेसस पर्वत को पार करके यहाँ पहुँचे। इनके मत का खण्डन एडवर्ड मेयर ने किया और पामीर प्लेटो को आर्यों का आदि देश निर्धारित किया।

डॉ० पी० गाइल्स ने आर्यों का मूल स्थान 'हंगरी के मैदान' को माना है—"उनकी भाषा से हमें ज्ञात है कि किन-किन पशुओं एवं वृक्षों का उन्हें ज्ञान था। उन भाषाओं के साम्य से, जिन्हें वे बोलते थे, हम ऐसा अनुमान करते हैं कि वे लोग पर्याप्त समय तक एक स्थान पर एक साथ रहे होंगे जिसमें पीढ़ियों तक वे अपने विशेष गुणों में विकास लाते रहे। यह क्षेत्र गिरि-श्रृंखला अथवा जल द्वारा अन्य स्थानों से पृथक कर दिया गया होगा। इनकी भाषाओं के अध्ययन से हमें यह आभास नहीं मिलता कि यह लोग किसी द्वीप पर रहते रहे होंगे। यह भी सन्देहात्मक है कि समुद्र के लिए उन्हें किसी शब्द का बोध भी था। अतः यह सम्भव नहीं कि वह स्थान समुद्र से परिवेष्टित हो। इनकी भाषाओं के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि इन्हें किन-किन वृक्षों का ज्ञान था। ये वृक्ष शीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होते हैं। अतः आर्यों का आदि देश शीतोष्ण कटिबन्ध में रहा होगा। वह पर्वत-मालाओं से भी घिरा रहा होगा। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि किन फलों का उन्हें ज्ञान था। यह बहुत सम्भव है कि आर्य लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करते थे। जिन पशुओं का उन्हें ज्ञान था वे बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सुअर, हिरन इत्यादि थे। गधे, खच्चर तथा हाथी से वे अपरिचित थे। जंगली पशुओं में उन्हें भेड़िया तथा भालू का ज्ञान था किन्तु बाघ अथवा सिंह से वे अपरिचित थे। बत्तख तथा गिद्ध को भी वे जानते थे। ये लोग खाद्यान्न, विशेषतया गेहूँ तथा जौ का प्रयोग जानते थे। योरुप में कोई ऐसा अन्य प्रदेश है जहाँ ये सारी बातें प्राप्त हों? केवल एक क्षेत्र ऐसा है। इसके पूर्व में कारपेथियन पर्वत-माला है। दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में आस्ट्रियन, आल्पस् तथा बोहमरवाल्ड और उत्तर में एरज वर्ग तथा अन्य पर्वत-मालाएँ हैं जो कारपेथियन से मिल जाती हैं। यह क्षेत्र बड़ा उपजाऊ है तथा हंगरी के मैदान में खाद्यान्नों के पौधे पाये जाते हैं। यहाँ घास के मैदान भी हैं जहाँ घोड़े पाले जा सकते हैं। पर्वत की उपत्यकाओं में भेड़ों के लिए काफी सुविधाएँ हैं। सुअर भी यहाँ मिलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों के ज्ञात वृक्ष भी यहाँ पाये जाते हैं। अतः यही क्षेत्र आर्यों का आदि देश रहा होगा।"[1]

उपर्युक्त सभी मत **भाषा-वैज्ञानिक एकता, जातिगत विशेषताओं के साम्य एवं पुरातात्त्विक उपकरणों की समानता** पर आधारित हैं। भाषा-विज्ञान की कसौटी प्रमाण नहीं मानी जा सकती है क्योंकि यह अनुमान और कल्पना पर निर्भर है। अतः भाषावैज्ञानिक एकता (भारोपीय भाषा परिवार का तर्क) जाति की एकता सिद्ध करने में प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

---

1. *Cambridge History of India.*

हिन्दी विश्वकोष में भाषा-वैज्ञानिक एकोद्‌भव के सिद्धान्त की अपूर्णता की चर्चा करते हुए लिखा है "भाषा और प्रजाति अनिवार्य रूप से अभिन्न नहीं है। आज आर्यों की विविध शाखाओं के बहूद्‌भव होने का सिद्धान्त भी प्रचलित होता जा रहा है जिसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आर्य-भाषा-परिवार की सभी जातियाँ एक ही मानव वंश की रही हों। भाषा का ग्रहण तो सम्पर्क और प्रभाव से भी होता आया है, कई जातियों ने तो अपनी मूल भाषा छोड़कर विजातीय भाषा को पूर्णतः अपना लिया है।"[1]

लोकमान्य तिलक का मत है कि "आर्य लोग ध्रुव प्रदेश के निवासी हैं। आज से कोई दस हजार वर्ष पूर्व ध्रुव प्रदेश में बर्फ का तूफान आया, इसी के कारण आर्य लोग वहाँ से भागे और यूरोप, मध्य एशिया, ईरान और भारत में आकर आबाद हुए।" क्योंकि तिलक जी के मतानुसार "ध्रुव प्रदेश में प्रति साढ़े दस हजार वर्ष बाद बर्फ का तूफान आया ही करता है।" तिलक जी का कहना है कि वेदों में ऐसे उल्लेख आये हैं जो उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश मानने में सहायक होते हैं। वेदों से पता चलता है कि आर्यों को एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात का एक वर्ष होना तथा कई दिनों का प्रातःकाल ज्ञात था—"कई दिनों का प्रातःकाल यह स्पष्ट बताता है कि वहाँ अधिकाधिक तुषारापात होता रहा होगा। प्रारम्भ में उत्तरी ध्रुव प्रदेश तुषारावृत्त था। एक तुषारपात का वर्णन हमें वेद के समान प्रामाणिक ईरानी ग्रन्थ अवेस्ता में मिलता है और इसीलिए तुषारपात के कारण ईरानी आर्यों को अपनी जन्म-भूमि से स्थानान्तरण करना पड़ा था। लगभग ८००० ई० पू० तक आर्य यहीं उत्तरी ध्रुव में ही रहे और तत्पश्चात् उन्होंने यहाँ से स्थानान्तरण किया और ६००० ई० पू० के लगभग उनकी एक शाखा मध्य एशिया में आकर बस गई थी।" तिलक जी के तर्क बहुत ही पांडित्यपूर्ण एवं मनोरंजक हैं। किन्तु विद्वानों ने इनको स्वीकार नहीं किया है। हिम-युग सिद्धान्त भ्रामक सिद्ध हो चुका है।

भारतीयों के आदिम जीवन एवं संस्कृति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके कुछ प्रमुख भारतीय विद्वानों ने विदेशियों द्वारा प्रतिपादित भ्रमात्मक विचारों का खण्डन किया और नये सिरे से आर्य संस्कृति के प्रामाणिक स्वरूप की विवेचना की। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने 'दि ओरायन तथा आर्किटक', 'होम इन दि वेदाज'; नारायण भवनराय पावगी ने 'दि आर्यावर्तिक होम एण्ड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्त सिंधुज'; डा० अविनाशचन्द्र दास ने 'ऋग्वैदिक इण्डिया' ; पं० भगवद्दत्त ने 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास'; पं० रघुनन्दन शर्मा ने 'वैदिक सम्पत्ति' और डा० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदि देश' नामक उत्कृष्ट शोधपूर्ण रचनाओं में आर्य-संस्कृति एवं उनके मूल निवास पर विचार किया है।

---

१. प्रथम भाग, पृ० ४२०।

आर्यावर्त (भारत)—भारतीय विद्वानों का अभिमत है कि आर्यों का मूल निवास स्थान भारत ही है और यहीं ऋग्वेदादि का निर्माण हुआ और ऋग्वैदिक संस्कृति का उद्भव तथा विकास हुआ। स्वर्गीय तिलक के अनुसार आर्य जाति अपनी इस मूल भूमि से विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त होकर विश्व के बहुत से प्रदेशों में फैल गई। अलबेरूनी ने भी माना है कि अति प्राचीन समय में आर्य लोग हिमालय पर रहते थे, कालान्तर में आर्यावर्त में आकर बस गए। टेलर ने भी कश्मीर को आर्यों का मूल देश माना है। अविनाशचन्द्र दास ने 'ऋग्वैदिक इण्डिया' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में कश्मीर और सप्त सिन्धु को ही आर्यों का मूल निवास सिद्ध किया है।[1] डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भी इस 'सप्त सिन्धव' मत का समर्थन किया है। उन्होंने जेन्द अवेस्ता और वैदिक संहिताओं में वर्णित भौगोलिक सीमाओं सम्बन्धी और खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन, सभ्यता-संस्कृति-सम्बन्धी बातों की गहरी छान-बीन करके यह सिद्ध किया कि सिन्धु नदी से सरस्वती नदी के बीच का भाग, जिसमें काबुल, गान्धार, कश्मीर और पंजाब आदि सम्मिलित हैं, सप्तसिन्धव ही उनका मूल घर था।[2] सप्तसिन्धव का ही दूसरा नाम आर्यावर्त है जिसे ऋग्वेद में 'देवनिर्मित देश' (ऋग्वेद ३।३३।४) कहा है। यही देश याग-प्रेमी आर्यों का देश है (ऋग्वेद ६।६१।६)। ऋग्वेद में सप्तसिन्धु प्रदेश की सुन्दर प्रकृति का वर्णन है। श्री अविनाशचन्द्र दास ने सिद्ध किया है कि वेदों में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें कश्मीर और हिमालय की ऊँची पर्वत श्रेणियों से देखा था।[3] ऋग्वेद में जिस भौगोलिक स्थिति का वर्णन है वह भूगर्भ शास्त्रवेत्ताओं के अनुसार आज से लगभग २५,००० और ५०,००० वर्ष पूर्व के बीच की है। ऋग्वेद में इन्द्र की स्तुति में कहा है—

> **यः पृथिवीं व्यथमानाहृद्**
> **यः पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात्**
> **स जनास इन्द्रः** (ऋक् २।१२।२)

उन दिनों पर्वत चंचल थे, हिमालय समुद्रों से ऊपर उठ रहा था, पृथिवी कम्पित होती रहती थी। इन्द्र ने पर्वतों को स्थिर किया। अतः आर्यों का मूल निवास भारत ही है।

महाभारत में आर्यों के आदि देश भारतवर्ष की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का वर्णन अग्रलिखित है—

---

१. "मेरे विचार में ऐसा जंचता है कि पंजाब और गांधार में ही आर्यों की उत्पत्ति हुई थी, एवं यही प्रदेश इनका आदि उत्पत्ति-स्थल है। सृष्टि काल में आर्य-जाति यहीं बसती थी, पीछे भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली।" [गंगा, पुरातत्वांक, जनवरी १९३३]

२. आर्यों का आदि देश, पृ० ३०-३३

३. ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ३७६

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः ।
अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः ॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तम पर्वतः ।
ततःसर्वा समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तमः ॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥

अर्थात् संसार में पवित्र हिमालय विख्यात है। इसमें एक योजन चौड़ा और पाँच योजन घेरे वाला मेरु उत्तम पर्वत है, जहाँ पर सब मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि सरिताएँ प्रवाहित हो रही हैं। यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए, इसे भारतवर्ष कहते हैं। वायु पुराण में मेरु के दक्षिण और मानसरोवर के ऊपर वैवस्वत मनु का निवास-स्थल वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में मनु की कथा आती है कि वे हिमालय में रहते थे और वहाँ जलप्लावन हुआ, जिससे बचने के लिए वे नौका पर सवार हुए और हिमालय के उत्तुंग शिखर के समीप पहुँचकर उस शृंग से नाव को बाँधा।[1]

इस प्रकार आर्यों का आदि देश वह आर्यावर्त[2] प्रदेश है जिसके उत्तर में हिमालय है, जिसमें सप्त-सरिताएँ प्रवाहित हो रही हैं।

भरत और भारत—आर्यावर्त का नाम भारतवर्ष कब से पड़ा, इसका निश्चित पता नहीं चलता। यह नाम बहुत प्राचीन है। सम्भवतः यह वैदिक युग का है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि किन्हीं प्रतापी सम्राट भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है। भरत चार हुए हैं। एक भरत ऋग्वेद में वर्णित जैन धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभनाथ के प्रतापी पुत्र—भरतः श्री ऋषभसूनुः। ऋषभाद्भरतोऽभवत्—अग्निपुराण—(अ० १०।१२)। दूसरे दशरथ पुत्र एवं राम के भाई भरत—भरतः श्री दशरथस्य कैकेयामुत्पन्नः श्री रामस्यानुजः। तीसरे भरत चन्द्रवंशी दुष्यन्त पुत्र भरत—भरतः दुष्यन्तपुत्रः चन्द्रवंश्यः।[3] चौथे भरत नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत-मुनि—नाट्यशास्त्र प्रवक्ता मुनिर्भरतः।[4]

---

१. अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीतमाचिरम्। —महाभारत वनपर्व

२. आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः। —अमरकोष २
'चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन देशे न विद्यते।
म्लेच्छदेशः स विज्ञेय आर्यावर्तस्ततः परम्॥'

३. दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत्। —महाभारत आदिपर्व (७४।१२६)

४. तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः। —नाटयशास्त्र, बड़ौदा प्रति, ५।५

उपर्युक्त चार भरत विख्यात हैं। इनमें से भारत देश के नामकरण के निमित्त दो ही भरत विद्वानों में मान्य हैं, एक दौष्यन्ति पुत्र भरत और दूसरे ऋषभ पुत्र भरत। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने 'भरत' की व्याख्या करते हुए 'दौष्यन्ति पुत्र भरत' लिख दिया और बहुत से विद्वानों ने उनका अनुसरण कर इन्हीं भरत को भारत देश के नामकरण का श्रेय प्रदान किया। किन्तु अब यह भ्रम सर्वथा दूर हो चुका है। ऋषभनाथ[1] के प्रतापी सुपुत्र सम्राट भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारत पड़ा। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सम्राट भरत के पूर्व इतिहास का परिचय देते हुए स्पष्ट लिखा है—"नाभि के पुत्र ऋषभ हुए। इन्हीं ऋषभ के पुत्र भरत हुए। भरत को राज्य देकर ऋषभदेव ने प्रव्रज्या ग्रहण की। जम्बूद्वीप के दक्षिण में हिम नाम का वर्ष भरत को मिला था, जो कालान्तर में उनके नाम से भारतवर्ष कहलाया। इस विषय में यह बात स्पष्टता से जान लेनी चाहिए कि पुराणों में भारतवर्ष के नाम का सम्बन्ध नाभि के पौत्र और ऋषभ के पुत्र भरत से है—

> **ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।**
> **तस्मात्तुभारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥**
> **(वायुपुराण, अध्याय ३३।५२)**

दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत से भारत नाम का सम्बन्ध पुराणकारों ने नहीं कहा। भागवत में भी ऋषभ-पुत्र महायोगी भरत से ही भारत नाम की ख्याति मानी गई है—

> **येषां खलु महायोगी भरतो श्रेष्ठः गुण आसीत्।**
> **येनेदंवर्षभारतमितिव्यपदिशन्ति॥**[2] **(भागवत ५।४।९)**

भागवत में एक और भी आश्चर्यजनक तथ्य लिखा है—

> **तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण परायणः।**
> **विख्यातवर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥११।२।१७**

"इसके अनुसार भरत भी परम भागवत थे और नारायण भगवान विष्णु के भक्त थे। अतएव एक ओर जहाँ जैन धर्म में उनका अत्यन्त सम्मानयुक्त पद था, वहीं दूसरी ओर भागवत जनता भी उन्हें अपना आराध्य मानती थी। इतना ही नहीं ऋषभ और भरत इन दोनों का वंश सम्बन्ध उन्हीं स्वायम्भुव मनु से कहा

---

१. वर्षीयान् वृषभो ज्यायान् पुरुराद्यः प्रजापति।
ऐक्ष्वाकुः काश्यपो ब्रह्मा गौतमोनाभिजोऽग्रजः॥ —नाममाला १४४
वर्षीयान, वृषभ, ज्यायान, पुरु, आद्य प्रजापति, ऐक्ष्वाकु, काश्यप, ब्रह्मा, गौतम, नाभिज और अग्रज ये वृषभ या ऋषभनाथ के नाम हैं।

२. मार्कण्डेय पुराण : एक अध्ययन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १३८।

गया है जिनमें और भी ऋषियों का वंश और राजर्षियों की परम्परा प्रख्यात हुई। स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि हुए।"[1]

सम्राट भरत समस्त देशों पर विजय करने वाला पहला चक्रवर्ती सम्राट हुआ। मार्कण्डेयपुराण में भरत के आधार पर इस देश के 'भारतवर्ष' नामकरण का उनकी ऐतिहासिक वंशावलि देते हुए वर्णन किया है—

अग्नीन्ध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् सुतोद्विजः।
ऋषभाद्भरतोजज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ॥ ३९।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ॥ ४०।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥ ४१।

(मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ५०।)

अर्थ—अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत का जन्म हुआ जो कि अपने सौ भाइयों से बड़ा था। ऋषभदेव ने अपने बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके स्वयं प्रव्रज्या (साधुदीक्षा) ग्रहण की और तप करने लगे। भगवान ऋषभदेव ने भरत को हिमालय पर्वत से दक्षिण का राज्य दिया था, इस कारण उस महात्मा भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण में लिखा है—

मनुश्चक्रभृतामाद्यः षट्खण्डभरताधिपः।
राजराजोऽधिराट् सम्राडित्योद्घोषितं यशः ॥
नन्दनो वृषसेषस्य भरतः शतमातुरः।
इत्यस्य रोदसीव्यापशुभ्रा कीर्तिरनश्वरी ॥ (३७।२०-२१)

श्रीमद्भागवत में भी भरत को महायोगी और श्रेष्ठ गुण सम्पन्न माना है।[2] जिनसेन के महापुराण में भरत के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा।
तमाह्वद् भरतं भाविसमस्त भरताधिपम् ॥
तन्नाम्ना भारतवर्षं इति हासीज्जनास्पदम्।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥ १५।१५८-५९

अन्य पुराणों में भी 'भरत' से भारत के नामकरण की चर्चा स्पष्ट शब्दों में हुई है—

ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद्भरतोऽभवत्।
तस्माच्चभारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभूत ॥ १२

(अग्निपुराण, अ० १०।)

---

१. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८।
२. येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुणश्चासीत। ५।४।९

"मरूदेवी माता से ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई और भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।"

आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठो भरतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते।५। नारदपुराण, अ० ४८।

"पुरातन समय में ऋषभ का पुत्र मुनिश्रेष्ठ भरत नाम का राजा था उसके नाम से इस देश का नाम भारत कहा जाता है।"

ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।।३२

विष्णुपुराण, अंश २—अ० १

"सौ पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र भरत ऋषभदेव जी से उत्पन्न हुआ। उस भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष कहा जाता है।"

कल्पसूत्र की भूमिका में अंग्रेज विद्वान जे० स्टीवेन्सन ने लिखा है—"ब्राह्मण पौराणिक ग्रन्थ बतलाते हैं कि ऋषभ के पुत्र भरत हुए, उनके नाम से इण्डिया का नाम भारतवर्ष हुआ।"[1]

कूर्मपुराण, गरुड़पुराण, ब्रह्माण्डपुराण आदि ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है।

भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्व

प्रत्येक देश की संस्कृति के दो पक्ष अवश्य होते हैं, लेकिन वे एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। भारतीय संस्कृति में हम भाषा को ले सकते हैं। भाषा हमारी जातीय मनोवृत्ति की परिचायिका होती है। हमारी भाषा में गो शब्द का विशेष महत्व है क्योंकि हमारी संस्कृति में गो का विशेष महत्व है। हमारा रहन-सहन, वस्त्राभूषण आदि सभी जातीय परिस्थिति, देश के वातावरण और देश की भावनाओं से सम्बन्धित हैं। जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, स्नान करके खाना, लम्बे ढीले कपड़े पहनना, बेसिले कपड़ों को अधिक शुद्ध मानना, ये सब वस्तुएँ देश की आवश्यकताओं और आदर्शों के अनुकूल हैं।

इस देश में वातावरण और रुचि के अनुसार कपड़े और माङ्गल्य वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। यहाँ शरीर को अधिक महत्व नहीं दिया जाता, अतः वस्त्रों का उपयोग शारीरिक सौन्दर्य के प्रदर्शन करने के लिए न होकर शरीर की सुरक्षा के लिए होता है। भारत में संस्कृति के आन्तरिक अंगों को भी विशेष महत्व दिया जाता है, यथा धृति, क्षमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या, सत्य और अक्रोध।

---

1. Brahmanical Puranas prove Rishabha to be the father to that Bharata from whom India took its name Bharatavarsha.
[*Kalpasutra*, Introduction, p. XVI.]

संक्षेप में भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्व इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं—

(१) **आध्यात्मिकता**—इसके अन्तर्गत नश्वर शरीर का तिरस्कार, परलोक और सत्य, अहिंसा, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व देना, आवागमन की भावना, ईश्वरीय न्याय में विश्वास आदि बातें हैं। हमारे यहाँ की संस्कृति तपोवन की संस्कृति रही है, जिसमें विस्तार ही विस्तार था—'प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम सामरव तव तपोवने।' इस विस्तार के वातावरण में आत्मा का संकुचित रूप नहीं रह सकता। इसी के अनुकूल आत्मा का सर्वव्यापक विस्तार माना गया है। इसलिये हमारे यहाँ सर्वभूतहित को अधिक महत्व दिया है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः।' कीरी और कुंजर में एक ही आत्मा का विस्तार देखा जाता है। हमारे यहाँ के मनीषी **'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः'** का पाठ नित्य पढ़ते थे।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना हमारे यहाँ के लोगों को बड़े-बड़े बलिदानों के लिए तैयार कर सकी। शिवि, दधीचि, मोरध्वज इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। हमारे यहाँ का मार्ग साधना का मार्ग रहा है और तप, त्याग और संयम को महत्ता दी गई है। वैदिक और श्रमण दोनों संस्कृतियों में इन गुणों की महत्ता प्रतिपादित है।

हमारे यहाँ की आध्यात्मिकता मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से परे है। वह आत्मा का साक्षात् अनुभव करना चाहती है। यही भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का अन्तर है। हमारे यहाँ दर्शन का अर्थ आत्मा का दर्शन ही है,[1] पाश्चात्य देशों में वह बुद्ध-विलास के रूप में रहा है।

भारतीय संस्कृति में जीवन के समस्त पहलुओं पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार हुआ है। **ब्रह्म की सर्वव्यापकता को** भारतीय संस्कृति में सर्वोपरि माना है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति।
तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।　　**—तैत्तिरीय उपनिषद्**

'निश्चय ही ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, अन्त में जिसको प्राप्त कर उसमें लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।

---

१. 'विसृज्य सर्वतः संगमितरान् विषयान् बहिः।
बहिः प्रवृत्ताक्षगणं शनैः प्रत्यक् प्रवाह्य ॥'　　[अध्यात्म रामायण, युद्ध०, ६।४८]

अर्थात्—मनुष्य को चाहिए कि वह चारों ओर के संग का (मानसिक आसक्ति) का विसर्जन करके तथा विषयों को बाहर ही छोड़कर शनैः शनैः अपने आपको अन्तर्मुख प्रवाहित करना सीखे।

ऐतरेय उपनिषद् (१।१-२) में भी कहा गया है कि "प्रारम्भ में यह जगत् केवल एक आत्मा के रूप में ही था। उसके अतिरिक्त कोई अन्य क्रियाशील पदार्थ नहीं था। उसने सोचा कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ। तब उसी ने इन लोकों को रचा।

सारांश यह है कि अध्यात्म भावना भारतीय संस्कृति की मूल भावना या मूल दृष्टि रही है। उत्कृष्ट चरित्र वाले से लेकर निन्द्य कर्म करने वाले तक इस अध्यात्म भावना का प्रसार होने से यह भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता बन गई है। यहाँ तक कि हिन्दुओं में शवयात्रा के समय राम या ब्रह्म के नाम को ही सत्य मानकर जड़ शरीर का संस्कार किया जाता है। श्रीमद्भागवत् गीता में आत्म तत्व को अजर, अमर, सनातन घोषित किया है। यही भावना भारतीय दर्शनों की विचारधारा में मिलती है। इसीलिए यहाँ मानव जीवन की दृष्टि आशापूर्ण है। इसमें कहीं भी निराशा नहीं है। आपत्ति-विपत्ति मरण तक में कोई निराशा या विषाद की भावना नहीं है क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—

तरति शोकमात्मवित् ।७।१।३

"जो आत्मा को जानता है, वह शोक को तर जाता है। अध्यात्म भावना के कारण ही भारतीय संस्कृति आशावादी एवं सृष्टि को ईश्वर का मंगलमय विधान या लीला मानने वाली है। महात्मा गांधी ने 'हिन्दू धर्म की देन' के सम्बन्ध में लिखा है 'पश्चिम में जिस प्रकार भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक शोध हुई है, उसी प्रकार हिन्दुओं ने धर्म सम्बन्धी, आत्मा सम्बन्धी उससे भी आश्चर्यजनक शोध की है। लेकिन इन महान् और सुन्दर शोधों को देखने के लिए हमारे पास आँखें नहीं हैं। पश्चिमी सभ्यता ने जो भौतिक उन्नति की है, उसी से हमारी आँखें चौंधिया गयी हैं।..........आखिर हिन्दू धर्म में कोई ऐसा तत्व है जो इसे अब तक जिलाये हुए है। इसने बेबीलोन, सीरिया, फारस और मिस्र का पतन देखा है। अपने चारों ओर दृष्टि डालिए, कहाँ है रोम और कहाँ है यूनान? संसार प्रसिद्ध ग्रीक सभ्यता कहाँ है? मैं यहाँ प्राचीन भारत को अब भी जीवित देखता हूँ।"

(२) **परलोक और आवागमन में विश्वास**—भारत के सभी धर्मों में चाहे वे ईश्वरवादी हों और चाहे अनीश्वरवादी, परलोक और आवागमन में विश्वास प्रकट किया गया है। यह विश्वास हमारे जीवन-दर्शन को प्रभावित करता है। मनुष्य जीवन की विषमताओं से असन्तुष्ट नहीं होता। वह उनको पूर्व जन्म के कर्मों का फल मानता है। हमारे यहाँ भाग्यवाद अवश्य है, किन्तु वह अकारण नहीं। वह ईश्वर की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। वह परलोक और जन्मान्तर पुरुषार्थ और अच्छे काम करने के लिए भी प्रवृत्त करता है। हमारा कर्मवाद हमारे पुरुषार्थ में बाधक नहीं होता, किन्तु एक सन्तोष की भावना अवश्य उत्पन्न करता है।

मैक्समूलर ने लिखा है—"यूरोप को यह ध्यान अब आ रहा है कि पुनर्जन्म और भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म कुछ मनगढ़न्त नहीं है, बल्कि सत्य घटना है।" यह सम्पूर्णतया हिन्दू धर्म या भारतीय संस्कृति की देन है।

(३) **समन्वय बुद्धि**—आत्मा की एकता के आधार पर हमारे यहाँ अनेकता में एकता देखी गई है। हमारे विचारकों ने सभी वस्तुओं में सत्य के दर्शन किये हैं। उनका धर्म अविरोधी धर्म रहा है। इसीलिये हमारे यहाँ धर्म-परिवर्तन को विशेष महत्व नहीं दिया गया है। हमारे यहाँ की प्रवृत्ति सब धर्मों को समान रूप से आदर देने की रही है। 'सर्व देव नमस्कार: केशवं प्रति गच्छति।' सब देवताओं को किया हुआ नमस्कार केशव के ही प्रति जाता है। महिम्न-स्तोत्र में कहा है कि लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल टेढ़ा और सीधा रास्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु तुम्हीं सब की पहुँच के निर्दिष्ट स्थान हो जैसे कि सब नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नाना पथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

और भी, हमारे इतिहास के मध्यकाल में भी तत्त्व विचारकों ने—

यं शैवा: समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव: कर्तेति नैयायिका:।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता: कर्मेति मीमांसका:,
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि:॥

"शैव, वेदान्ती, बौद्ध, जैन आदि क्रमश: शिव, ब्रह्म, बुद्ध, अर्हन् आदि के रूप में एक ही तत्व की उपासना करते हैं।" ऐसे सुन्दर और हृदयाकर्षक शब्दों में जनता में समन्वयात्मक भावना जगाने का प्रयत्न किया था।

स्याद्वाद की प्रतिष्ठा में जैन दर्शन का अति उदार दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। इसे अनेकांतवाद भी कहते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मक है। स्याद्वाद का स्वरूप जैन दर्शन में वर्णित सप्तभंगी वाक्यों से समझा जा सकता है जो एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने का उपदेश देता है। सत्य को भी एक ही दृष्टिकोण से न देखना चाहिए। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से सत्य के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं। अन्धे के गाँव के हाथी की कथा इसी देश की है। भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखकर मूल्यांकन करना हमको समन्वय की ओर ले जाता है।

(४) **वर्णाश्रम विभाग**—हमारी संस्कृति में कार्य-विभाजन को बड़ा महत्व दिया गया है। समाज को भी चार भागों में बाँटा है और मानव जीवन को भी। सामाजिक विभाजन बढ़ते-बढ़ते संकुचित और अपरिवर्तनीय बन गया। अपरिवर्तित बनने में भी इतनी हानि न थी, यदि सबका महत्व, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में एकसा मान लिया गया होता। कुछ लोगों ने श्रेष्ठता का एकाधिकार कर लिया और 'पंडित: समदर्शिन:' की बात भूल गये। हमारे सभी प्रचारकों और सुधारकों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई, और उन सबमें जोरदार आवाज रही भगवान महावीर, गौतम बुद्ध, सन्त कबीर और महात्मा गाँधी की। पुरुष सूक्त ने तो चारों वर्णों को एक ही विराट शरीर का अंग माना था। "**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत बाहू राजन्य: कृत:, ऊरूस्तदस्य यद्वैश्य:, पद्भ्यांशूद्रोऽजायत**।" शूद्र भगवान् के चरणों से

निकले। इसी आधार पर कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त ने उन्हें सुरसरि का सहोदर कहा है।

> **उत्पन्न हो तुम प्रभु पदों से, जो सभी को ध्येय हैं।**
> **तुम हो सहोदर सुरसरी के, चरित जिसके गेय हैं।।**
>
> **(भारत-भारती-भविष्यत् खण्ड, ८३)**

एक ही शरीर के विभिन्न अंगों में कोई ऊँचा नीचा नहीं होता है। सामाजिक संगठन का हमारे यहाँ बहुत ऊँचा आदर्श रखा गया था। वैदिक ऋषियों की तो यही भावना थी लेकिन हम उसे भुला बैठे। ब्राह्मण का आदर महावीर एवं बुद्ध भगवान् ने भी किया है, किन्तु उनका ब्राह्मण का आदर्श बहुत ऊँचा है। वे गुणों से मनुष्य को ब्राह्मण मानते हैं।

आश्रम व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को उन्नत करके समाज का कल्याण करना था। मनुष्य की आयु के चार भाग कल्पित करके अवस्थानुसार उसके कर्म नियत किये गये थे। चार आश्रम क्रम से इस प्रकार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इस व्यवस्था से समाज में सुख, सन्तोष और शान्ति की अभिवृद्धि होती थी तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति में भी यह व्यवस्था महत्त्वपूर्ण थी।

महात्मा गाँधी ने आश्रम व्यवस्था का महत्त्व निरूपित करते हुए लिखा है— "चार आश्रमों की देन तो है ही। यह भी अपूर्व ही भेंट है। संसार में इसके समान कुछ भी नहीं है। कैथोलिक ईसाइयों में ब्रह्मचारियों का संघ अवश्य है, किन्तु वह कोई संस्था नहीं है। पर यहाँ भारत में प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करना ही पड़ता था। क्या ही उदात्त कल्पना है।'

गृहस्थाश्रम में संयम, त्याग और वासना-विकार को सीमित करने तथा प्रेम और सहयोग आदि गुणों की शिक्षा मिलती है। इस आश्रम में त्याग की अद्भुत परम्परा है। पति-पत्नी परस्पर एक-दूसरे को सुखी बनाना चाहते हैं और माता-पिता बच्चों के लिए महान् त्याग करते हैं। अन्य तीन आश्रम इसी पर निर्भर हैं, अतः यह सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। वानप्रस्थ में समस्त इच्छाओं का दमन, भोग से विरक्ति का अभ्यास करने की ओर प्रवृत्ति मिलती है और संन्यास में इन्द्रियों को वश में करके सत् की प्राप्ति की जाती है।

(५) **बाह्य और आन्तरिक शुद्धि**—भारतीय संस्कृति में भीतर, बाहर दोनों की शुद्धि को विशेष महत्व दिया गया है। शौच को धर्म के दस लक्षणों में माना गया है। हमारे यहाँ का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार मन का असर बाहरी चीजों पर पड़ता है, उसी प्रकार बाहरी चीजों का असर मन पर भी पड़ता है। यद्यपि मन की शुद्धि को प्रधानता दी गई है—"मनः पूतं समाचरेत" तथापि बाह्य शुद्धि को भी बराबर महत्व दिया गया है। बाहरी शुद्धि में नहाने-धोने की सफाई, कपड़ों की सफाई, स्थान की सफाई, भोजन की सफाई आदि सभी बातें आ जाती हैं। शरीर के अंगों की शुद्धि जल से होती है। मन की शुद्धि सत्य से होती है। 'अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति

मनः सत्येन शुद्धयति।' आत्मा की शुद्धि एवं प्रक्षालन ज्ञान गंगा के जल से ही सम्भव है।

(६) **संस्कार**—भारतीय संस्कृति में संस्कारों का विशेष महत्व है। यहाँ मनुष्य जीवन का लक्ष्य निर्दिष्ट है, जिसे प्राप्त करने के लिए ही भारतीय धर्म-शास्त्रियों का सतत प्रयास रहा है। इस लक्ष्य की ओर मानव को अग्रसर करने के लिए हृदय में जिन प्रेरणाओं की आवश्यकता होती है, उनकी भावनाओं का मानव हृदय में वपन (बोना) करने का नाम ही संस्कार है। मनुष्य जन्म से पूर्व ही इन संस्कारों का आयोजन करके जीवन को परिष्कृत बनाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार इन संस्कारों का व्यक्ति के जीवन में बड़ा महत्व है। समाज के मूल्यों एवं उसकी धारणाओं की रक्षा करने की दृष्टि से भी इनका कम महत्व नहीं है। समाज को अपने मूल्यों, प्रतिमानों एवं आदर्शों को सजीव रखने के लिए व्यक्तियों को उनमें अनुशासित एवं दीक्षित करना होगा। संस्कार व्यक्तियों को अनुशासित एवं दीक्षित करने के सफल एवं सशक्त माध्यम हैं।

संस्कारों के द्वारा प्राचीन ऋषियों ने मानव जीवन के प्रत्येक अंग को गुणों से भरने एवं विकसित करने का यत्न किया। उन्होंने संस्कारों को धार्मिक रूप दिया जिससे प्रत्येक परिवार में बालकों के संस्कारों को सम्पन्न किया जाना अनिवार्य हो गया। आयु के अनुसार मानव विकास की अनेक अवस्थायें होती हैं। अतः आयु के अनुरूप संस्कारों की व्यवस्था की गई। संस्कारों का प्रारम्भ शिशु के माता के गर्भ में आने के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है और इनकी परम्परा मृत्यु पर्यन्त चलती रहती है। प्रथम संस्कार गर्भाधान और अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है। आयु के अनुरूप संस्कारों की उपयोगिता भी है। प्राचीन शास्त्रों में सामान्यतः सोलह संस्कारों को सम्पन्न करने का आदेश दिया गया है। हिन्दू रिवाजों के अनुसार संस्कारों की सम्पन्नता सार्वजनिक रूप से की जाती है।

(७) **अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय**—इन चार गुणों के मूल में अहिंसा की भावना है और करुणा, मैत्री तथा विनय अहिंसा-व्रत के पालन में सहायक होते हैं। अहिंसा पंच महाव्रतों में भी है। अहिंसा को परम धर्म कहा गया है—'अहिंसा परमो धर्मः।' जैन, बौद्ध और हिन्दू लोग विशेषकर वैष्णव इसमें विशेष विश्वास रखते हैं। हिन्दू शब्द की व्युत्पत्ति ही हिंसा से बचना है।

हिंसा केवल वध करने से ही नहीं होती, वरन् किसी का उचित भाग हड़प लेने और दूसरों के जी दुखाने में भी होती है। इसीलिये हमारे यहाँ 'सत्यं ब्रूयात' के साथ 'प्रियं ब्रूयात्' का पाठ पढ़ाया गया है। करुणा छोटे के प्रति होती है, मैत्री बराबर वालों के प्रति और विनय बड़ों के प्रति, किन्तु हमें सबों के प्रति शिष्टता का व्यवहार करना चाहिये। विनय शील का एक अंग है। उसको बड़ा आवश्यक माना गया है। भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मणों के विशेषणों में विद्या के साथ विनय भी लगाया—'विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे।' विनय भारतीय संस्कृति की विशेषता है। असांस्कृतिक

लोग ही उद्धत होते हैं। इन सब गुणों में एक विशेष अहंभाव का त्याग रहता है। गुरुजनों को नित्य प्रणाम आदि करने और वृद्धजन की सेवा को मनुस्मृति में विशेष महत्व दिया गया है :

'अभिवादनशीलस्य नित्यं, वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्यायशोबलम् ॥'

हिंस्र पशुओं आदि की हिंसा की जाय या नहीं इस बात में भी थोड़ा मतभेद अवश्य है, किन्तु अधिकांश शास्त्र हिंसक पशुओं और आतताइयों को मारने में दोष नहीं मानते। वैसे तो हिन्दू लोग नाग-पंचमी के दिन सर्प को भी दूध पिलाते हैं, किन्तु नीति यही कहती है :—'पयः पानं भुजंगानां केवलं विष वर्द्धनम्।' अहिंसा-मूलक जैन धर्म के अनुसार यदि पड़ोसी कुत्ता रखता है तो हमें डंडा रखना चाहिए, जिससे कुत्ता हमें काट न सके।

(८) **प्रकृति प्रेम**—भारतवर्ष पर प्रकृति की भी विशेष कृपा रही है। यहाँ सभी ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं और पर्याप्त काल तक ठहरती हैं। ऋतुएँ अपने अनुकूल फल-फूलों का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्य-श्यामला हो जाती है। यहाँ का नगाधिराज हिमालय कवियों को सदा प्रेरणा देता आ रहा है[1] और यहाँ की नदियाँ मोक्षदायिनी समझी जाती रही हैं। यहाँ कृत्रिम धूप और रोशनी की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारतीय मनीषी जंगल में रहना पसन्द करते थे। प्रकृति-प्रेम के कारण ही यहाँ के लोग पत्तों में खाना पसन्द करते हैं। वृक्षों में पानी देना एक धार्मिक कार्य समझते हैं। सूर्य और चन्द्र-दर्शन नित्य और नैमित्तिक कार्यों में शुभ माना जाता है। यहाँ पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के एक अंग बन गये थे तभी तो शकुन्तला के पतिगृह जाते समय कण्व ऋषि उसके जाने के लिए उन सबों से आज्ञा दिलवाते हैं।[2]

(९) **उत्सव-प्रियता**—उत्सव-प्रियता भारतीयों के प्रकृति-प्रेम और उनकी धार्मिकता का फल है।[3] भारतीयों में और जातियों की अपेक्षा सामूहिक भावना का अपेक्षाकृत अभाव-सा रहा है। उनके जीवन में पारिवारिकता अधिक है। किन्तु, उत्सव और पर्व इस कमी को पूर्णरूपेण पूरा कर देते हैं। जितने उत्सव और पर्व भारतीय संस्कृति में हैं उतने अन्यत्र नहीं। तीर्थ, गंगा-स्नान, होली-दीवाली, रक्षा-

---

१. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः। —कुमारसम्भव, १

२. पातुं प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नाऽऽदत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं, सर्वैरनुज्ञायताम् ॥"
—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, ९

३. उत्सवप्रियाः मानवाः —महाकवि कालिदास

बन्धन और मेले आदि भारतीय जीवन में सामाजिकता की वृद्धि करते हैं। हमारे पर्व प्रकृति से भी सम्बन्ध रखते हैं, जैसे दीपावली शरद ऋतु का[1] और होली बसन्त का उत्सव है। रामनवमी, जन्माष्टमी आदि अवतारों और महापुरुषों के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इन सभी उत्सवों और पर्वों से धार्मिक कृत्य लगे हुए हैं।

(१०) **विश्वबन्धुत्व**—वैदिक काल से ही भारतीय हृदय सार्वजनीन भावनाओं के संस्कार से भावुक एवं उदार हो गया। सभी के सुख की जितनी चिन्ता भारतीय संस्कृति में मिलती है, उतनी विश्व की अन्य किसी संस्कृति में नहीं।[2] भारतीय ऋषियों ने विश्व के मानवों के सुख की नित्यप्रति प्रार्थना को अपनी संध्या का अंग बनाया है—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

(११) **सनातनता**—भारतीय संस्कृति में जीवन की मान्यताओं के सम्बन्ध में कुछ सनातन सत्यों की प्रतिष्ठा हुई है। ये सनातन सत्य इस प्रकार हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि। इसीलिए यह सनातन संस्कृति कहलाती है।

हमारी संस्कृति इतने में ही संकुचित नहीं है। पारिवारिकता पर हमारी संस्कृति में विशेष बल दिया गया है। हमारा झुकाव सम्मिलित परिवार की ओर अधिक रहा है। यह व्यक्तिपरकता और समाजपरकता के बीच की स्थिति है। इसमें आत्मा के विस्तार की भी झलक है। वैसे आदर्श में तो लोग 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानते हैं, किन्तु, व्यवहार में सम्मिलित परिवार तक ही उदारता सीमित रहती है। इसके गुण भी हैं और दोष भी हैं। भारतीय संस्कृति में शोक की अपेक्षा आनन्द को अधिक महत्व दिया गया है। इसीलिये हमारे यहाँ शोकान्त नाटकों का निषेध है। भारत में आतिथ्य को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। अतिथि को भी देवता माना गया है—'अतिथि देवोभव।'

(१२) **प्रगतिशील एवं असाम्प्रदायिक संस्कृति**—भारतीय संस्कृति स्वभावतः प्रगतिशील है। शूद्र कहलाने वाली भारतीय 'जातियों' के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामयिक परिस्थितियों एवं सन्त-महात्माओं के आन्दोलनों के कारण शनैः शनैः होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

"धर्मशास्त्रों का कलि-वर्ज्य प्रकरण[3] प्रसिद्ध है। इसमें प्राचीन काल में किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदि का कलियुग में निषेध

---

१. दीपमालिकोत्सवः शारदोत्सवश्च।
२. जैन तीर्थङ्करों ने विश्व के सम्पूर्ण जीवाजीव के प्रति निर्बैर भाव व्यक्त किया है 'वैरं मज्झण केणवि।
३. देखिए—निर्णयसिन्धु, कलिवर्ज्यप्रकरण।

किया गया है। विभिन्न परिस्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति के स्वरूप में प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं, इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रों के ही शब्दों में, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा।"
—डा० मंगलदेव शास्त्री

भारतीय संस्कृति की असाम्प्रदायिकता प्रसिद्ध है। भारतीय संस्कृति की आन्तरिक धारा में चिरकाल से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है। नैतिकता तथा मानव-हित की भावना की सीमा के अन्दर वह सम्प्रदायों का सम्मान करती है और किसी मुख्य धारा की सहायक नदियों के समान, उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है।

डा० शास्त्री ने लिखा है कि "भारतीय संस्कृति की धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियों में से गुजरती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं को आत्मसात् करती हुई शनैः शनैः अपने विशालतर और गंभीरतर रूप में आगे बढ़ती हुई ही दिखाई देती है। भारतीय संस्कृति की प्रगति में वैदिक युग के समान ही बौद्ध-युग या सन्त-युग का भी महत्व रहा है।"

संस्कृतियों का मिश्रण

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति प्रकृति की गोद में पली हुई आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसमें विनय और शील को प्रमुखता दी गई है। सब में एक ही आत्मा के दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है और सबके लिए 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' की सद्भावना की गई है।

भारत में विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्पर्क में आने से संस्कृति की समस्या कुछ जटिल हो गई है। पुराने जमाने में द्रविड़ और आर्य संस्कृति का समन्वय बहुत उत्तम रीति से हो गया था। प्राचीन काल में शक, हूण आदि विदेशी जातियाँ आईं। वे घुल-मिल गईं। हमारे बीच में ही जैन और बौद्ध संस्कृतियाँ उठीं किन्तु उनका मूल स्रोत भारतीय ही रहा।[1] उनकी संस्कृति भारतीय ही रही, किन्तु कुछ बातों पर उन्होंने विशेष बल दिया। उनकी विशेषतायें अपनी ही विशेषतायें हैं, किन्तु वे भुलाई नहीं जा सकतीं। इस समय मुस्लिम और पाश्चात्य संस्कृतियों का और मेल हुआ है। हम इन संस्कृतियों से अछूते नहीं रह सकते हैं। इन संस्कृतियों से कितना लें और कितना छोड़ें, यह हमारे सामने बड़ी समस्या है। अपनी भारतीय संस्कृति को तिलांजलि देकर इनको अपनाना आत्म-हत्या होगी। भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता यहाँ भी अपेक्षित है, किन्तु समन्वय में अपनापन न खो बैठना चाहिये। दूसरी संस्कृतियों के जो अंग हमारी संस्कृति में अविरोध रूप से अपनाये जा

---

१. "बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के प्रभाव को समझे बिना हम गृह्यसूत्रों आदि में वर्णित वैदिक धर्म के कालान्तर में होने वाले पौराणिक धर्म के रूप में महान् परिवर्तन को समझ ही नहीं सकते।"
—डा० मंगलदेव शास्त्री

सकें। उनके द्वारा अपनी संस्कृति को सम्पन्न बनाना आपत्तिजनक नहीं। अपनी संस्कृति चाहे अच्छी हो या बुरी, चाहे दूसरों की संस्कृति से मेल खाती हो या न खाती हो, उससे लज्जित होने की कोई बात नहीं है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा भी है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३।३५।

अर्थात् भली भाँति अनुष्ठान किये गये परधर्म की अपेक्षा गुणरहित भी अनुष्ठान किया हुआ अपना धर्म कल्याणकर है। परधर्म में स्थित पुरुष के जीवन की अपेक्षा स्वधर्म में स्थित पुरुष का मरण भी श्रेष्ठ है, क्योंकि दूसरे का धर्म भयदायक है—नरक आदि रूप भय का देने वाला है।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्मतत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्य विक्रमः ॥

—महाभारत (वन पर्व) १३१।११

जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचावे, दूसरे धर्म से रगड़ पैदा करे, वह धर्म नहीं, वह तो कुमार्ग है। धर्म तो वह है जो धर्म विरोधी नहीं होता। यह है हमारी प्राचीन एवं सनातन भारतीय संस्कृति और धर्म का सच्चा स्वरूप। भारतीय संस्कृति की सनातनता ने ही उसे इतने संघर्षों और सम्मिश्रण के होते हुए आज भी जीवन्त, महिमाशालिनी बनाये रखा है और अनन्त काल तक यह संस्कृति सनातन ही रहेगी। यह विश्व की प्राचीनतम ही नहीं श्रेष्ठतम संस्कृति है, इसीलिए आज यूरोप और पश्चिमी देशों में भारतीय रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार के प्रति आकर्षण एवं रुचि दिखाई पड़ती है। अध्यात्म के क्षेत्र में तो भारत सदैव से विश्व-जन का नेतृत्व करता रहा है।

यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्री चरणों की पूजा नहीं करते तो तुम्हारी सारी विद्वता किस काम की। **—मुनि विद्यानन्द**

२ | भारतीय संस्कृति का विकास

संस्कृति युग-युगों में विकसित होती रहती है। डॉ० रामजी उपाध्याय ने संस्कृति के विकास की चर्चा करते हुए लिखा है—"संस्कृति का इतिहास मानवता की प्रगति का परिचायक है। मानव अपना विकास करने के लिये संसार के अन्य जीवधारियों से अधिक प्रयत्नशील रहा है। मनुष्येतर प्राणियों को प्रकृति जैसा रखना चाहती है, प्रायः वैसे ही वे रहते आये हैं। यही कारण है कि उनकी बोल-चाल और रहन-सहन आदि आज से हजारों वर्ष पहिले जैसी थी, प्रायः उसी रूप में आज भी मिलती है। इन दिशाओं में उनका विकास नहीं हुआ है। सम्भव है, आदिमकाल में कुछ समय तक मनुष्य पशु-पक्षियों की भाँति रहा हो, किन्तु वह प्रकृति-प्रदत्त सुविधाओं से सदा के लिये सन्तुष्ट न रहकर शीघ्र ही अधिक से अधिक वस्तुओं को अपने लिये उपयोगी बनाने का प्रयत्न करने लगा। यही मानवता का प्रगतिशील विकास है।"

संश्लिष्ट एकता

भारतवर्ष के धर्म, भाषा तथा प्रान्तीय भेदों पर विदेशियों ने बहुत बल दिया है। इस देश को उन्होंने एक उप-महाद्वीप कहा है। इस भेद-बुद्धि को तीव्र करके उनको देश पर अधिकार जमाये रखने में सुविधा मिलती थी। यह बात नहीं कि भारत में प्रान्तीय और भाषा आदि के भेद नहीं हैं किन्तु ये भेद सर्वत्र हैं। इंगलैंड, अमेरिका और अन्यत्र भी हैं। भेदों में जो एकता होती है वही संश्लिष्ट और सम्पन्न एकता कहलाती है। सर्वत्र एकरसता की एकता दरिद्र एकता होती है। स्वर-साम्य में ही संगीत की अवतारणा होती है।

भारतीय संस्कृति में भी इसी प्रकार की संश्लिष्ट एकता है। इस एकता का मूल स्रोत आर्य-संस्कृति है। गंगाजी की भाँति उसमें नदी-नालों का मिश्रण होता रहा है, परन्तु उसकी पावनी शक्ति इतनी प्रबल रही है कि सबको गांगेय रूप मिल गया है। इस संगमित रूप में ही इसका विकास होता रहा है। यद्यपि इस विकास-शृंखला की आदिम और अन्तिम कड़ियों में महान् अन्तर है तथापि उनमें एक विशेष तारतम्य रहा है और उनमें माला के गुरियों को बाँधने वाली एकसूत्रता का अभाव नहीं रहा है।

प्रो० श्रीकृष्णदत्त बाजपेयी ने भारतीय संस्कृति की व्यापकता की चर्चा करते हुए लिखा है—"भारतीय संस्कृति का ध्येय व्यापक रहा है। चिन्तन की स्वतन्त्रता, बाह्य उपादेय तत्वों को पचाने की क्षमता और समयानुकूल परिवर्तन इस संस्कृति के गुण कहे जा सकते हैं, जिन्होंने इसे व्यापकता प्रदान की। विचार स्वातन्त्र्य के कारण हमारे यहाँ श्रुति, स्मृति, षड्-दर्शन, बौद्ध-जैन मत, लोकमत अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि कितने ही दर्शनों एवं मतमतान्तरों की सृष्टि हुई। आधुनिक काल में भी अनेक महात्माओं ने चिंतन के अपने-अपने दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं। परन्तु जीवन-दर्शन के विविध पक्षों के होते हुए तथा इस विशाल देश में भौगोलिक विविधता के कारण बाह्य में अन्तर होते हुए भी हमारी संस्कृति की आत्मा एक रही है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और सौराष्ट्र से आसाम तक सारा भारत एक ही सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित रहा है। विविधता में एकता की यह भावना दर्शनीय है।"

एकता के सूत्र—यद्यपि यह बात ठीक है कि भारत का प्रान्तों में विभाजन करके उनमें पार्थक्य की खाई को गहरा बनाने वाली भाषा, रीति-रिवाज, शिष्टाचार, ऊसर, पर्वत, सघन वन तथा गम्भीर नदियाँ और ऊबड़-खाबड़ मार्ग जैसे कारण वर्तमान रहे हैं, तथापि भारत में एकता का तारतम्य स्थापित करने वाले सूत्रों का भी अभाव नहीं रहा है। संस्कृत भाषा और पीछे से प्राकृत भाषाओं का धार्मिक महत्व रहा है। ये भाषाएँ पारस्परिक सम्बन्ध को स्थापित करने में बड़ी सहायक हुईं। हिन्दू-तीर्थ बदरीनारायण से सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक, जगन्नाथपुरी से द्वारका तक यात्री को भारत-भूमि की चारों दिशाओं से परिचित करा देते हैं। मथुरा, माया, काशी, कांची, आदि सप्त मोक्षदायक पुरियाँ भारत की प्रदक्षिणा करा देती हैं। तक्षशिला (पंजाब), नालंदा (बिहार), विक्रमशिला (भागलपुर जिले के सुलतानगंज के पास) आदि विश्वविद्यालय; काशी, नवद्वीप (बंगाल) आदि अखिल भारतवर्षीय ख्याति के शिक्षा-केन्द्र थे। विद्यार्थी और शिक्षक प्रांतीय भेद भूलकर एक व्यापक संस्कृति के निर्माण में योग देते थे। आचार्य, वैरागी, स्वामी, संन्यासी और व्यापारी संस्कृति की धाराओं का सम्मिश्रण करते रहे हैं। सिपाही और विजेता लोग भी संस्कृति और भाषा के प्रचारक और वाहक रहे हैं। इस प्रकार खाई-खंदकों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति के प्रचार, विकास और एकीकरण के लिए राज-मार्ग खुले रहे हैं।

आर्य और द्रविड़

सबसे पहले भेद की बात आर्य और द्रविड़ संस्कृति की कही जाती है। द्रविड़ों को मूल निवासी और आर्यों को बाहर से आये विजेता बतलाया जाता है। उन विजेताओं के आगे-पीछे आने वाले भी माने जाते हैं और द्रविड़ लोग भी बाहर के आए हुए बतलाये जाते हैं। यह प्रश्न तो बहुत विवादग्रस्त है कि आर्य लोग कहाँ से आये और जब स्वयं भारत की उत्तरी सीमाएँ निश्चित न हों तब यह प्रश्न और

भी जटिल हो जाता है। भारतीय दृष्टिकोण तो यह है कि द्रविड़ लोग भी बिगड़े हुए आर्य हैं। मनु महाराज ने भी शक आदि को क्रियाहीन क्षत्रिय माना है। रावण ब्राह्मण ही था और पुलस्त्य ऋषि का नाती था, फिर भी उससे संघर्ष रहा। वेदों में शत्रुओं से संघर्ष की बात अवश्य आती है, किन्तु यह बिगड़े हुए आर्यों से भी हो सकता है। शकों, यवनों, दरदों आदि के सम्बन्ध में मनु महाराज का यही कहना है कि ये क्रियालुप्त हो जाने के कारण तथा ब्राह्मण-दर्शन के प्रभाव से बाहर हो जाने के कारण आर्यों से बाहर हो गये थे। देखिये—

> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
> पौण्ड्रकाश्चौड्र द्रविड़ाः काम्बोजा यवना शकाः।
> पारदा पल्हवाश्चीना किराता दरदाःखशाः ॥
> मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
> म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यव स्मृतः ॥

(मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ४३, ४४, ४५)

अर्थात् धीरे-धीरे क्रिया के लोप होने से ब्राह्मण-शास्त्रों से सम्पर्क छूट जाने से ये सब क्षत्रिय जातियाँ वृषल तथा दस्यु बन गईं; जैसे पौंड्र, औड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, दरद, खश आदि। चार वर्णों से रहित जो जातियाँ हैं, वे चाहे म्लेच्छ भाषा बोलें और चाहे आर्य भाषा बोलें, सब दस्यु हैं।

मध्य एशिया या यूरोप के लोगों के साथ संस्कृत भाषा की समानता की बात दुधारी तलवार है। यहाँ से भी आर्य लोग उधर जा सकते थे। इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक 'इदं इत्थं' कह देना कुछ कठिन बात है। पाश्चात्य विद्वानों के तर्क को सहसा तो निराधार नहीं ठहराया जा सकता, किन्तु उसके लिए वैज्ञानिक सत्य का आग्रह करना और विपक्ष की बातों को अवैज्ञानिक कहकर उपेक्षा करना एक दूसरा अन्ध-विश्वास होगा।

बाहर की जातियाँ

हम लोग बाहर से आये अथवा भारत के ही सप्तसिन्धु भाग से सब जगह फैले, यह विवादास्पद है। किन्तु हमारे देश की सम्पन्नता ने, जिसके लिये देवता भी आकर्षित रहते थे, विदेशियों को आकर्षित अवश्य किया। सबने अपनी भाग्य-परीक्षा की। कुछ तो यूनानियों की भाँति यहाँ आये, थोड़े दिन ठहरे और कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान के पश्चात् (जैसे गान्धार कला पर यूनानी प्रभाव की बात) दबे पैर लौट गये। वे कुछ दे भी गये और ले भी गये। पैथेगोरस आदि यूनानी दार्शनिकों पर भारतीय प्रभाव है। अरबों से भी बहुत-कुछ आदान-प्रदान रहा। उनके अंक हिन्दसे कहलाते हैं। हिन्दशा शब्द हिन्द का ऋण स्वीकार करता है। यूरोप में इन्हीं को 'Arabic Numericals' कहा जाता है। हमारे यहाँ उत्तर-पश्चिमी दर्रों से ही जन-आयात नहीं हुआ वरन् हमारे समुद्री तट भी जन-आयात

में उदार रहे हैं। फिनीशियन्स आदि से व्यापारिक सम्बन्ध रहे हैं। हमारे लोग भी उपनिवेश बनाने में पीछे नहीं रहे हैं। सुमात्रा, जावा, बाली, बोरनियो, कोलम्बिया, श्याम आदि द्वीपों में भारतीय संस्कृति की छाप है। वहाँ रामायण का बहुत प्रभाव है। शक-हूण भी आये, या तो हममें समा गये या भाग गये। उन दिनों हमारी पाचन-शक्ति जो प्रबल थी। तुर्क और मंगोल जाति के राजाओं ने हिन्दू नाम स्वीकार किये। पारसी लोग यहाँ शरणार्थी बनकर आये और बड़े प्रेमपूर्वक रहे। वे हिन्दू संस्कृति को मानने के लिये गोहत्या से बचते रहे। पीछे से भारतीय लोग अपने जातीय व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखने के लिये दूसरों को पचाने में संकोच करने लगे और जाति-पांति का बन्धन कड़ा कर दिया। मुसलमानों ने हिन्दुओं से कुछ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये, किन्तु उनमें बराबरी की भावना न थी। मुसलमानों ने हमारी संस्कृति को बहुत-कुछ अपनाया और हमने भी उनकी संस्कृति को जहाँ तक जाति-पाँति के बन्धनों में जकड़े रहकर अपना सके, अपनाया। सबसे ज्यादा कुप्रभाव भाषा, शिष्टाचार और कला पर पड़ा। मुसलमानों ने भारत को अपना घर बनाया था। उन्होंने, जैसे खुसरो, कबीर, जायसी, कुतबन, रहीम, रसखान ने हिन्दी भाषा को और हिन्दू विचारों को अपनाया था। उनके रहन-सहन, रीति-रिवाज हिन्दुओं से प्रभावित हुए। मुसलमानों की संस्कृति एशियायी संस्कृति होने के कारण हमसे कुछ निकट थी, जैसे आदर में सिर झुकाना हिन्दू और मुसलमान दोनों में एकसा है। मुसलमान लोग नमाज सिर ढककर ही पढ़ते हैं। जूते चाहे उनके चौके में चले जायँ, नमाज के समय उतर जाते हैं। बहुत-सी बातों में भारतीय मुसलमान विदेशी मुसलमानों से भिन्न हैं। अधिकांश मुसलमानों को विशेषकर गाँव के मुसलमानों को जो, धर्म परिवर्तन द्वारा मुसलमान हुए हैं, भारतीय जातिगत संस्कार प्राप्त हैं। किन्तु, अंग्रेज लोग भारत में तेल और पानी की भाँति अलग ही रहे। सामाजिक सम्बन्धों में भी पार्थक्य भाव अधिक रहा। इसका मूल कारण यही था कि वे लोग इतनी संख्या में नहीं रहे कि जनता बनकर रहते। वे शासक बनकर ही रहे। फिर भी; उनके साथ बहुत-कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

उत्तर और दक्षिण—यह सब विकास हुआ, किन्तु हमारी संस्कृति की धारा अपना व्यक्तित्व बनाये रही। आर्य लोग चाहे बाहर से आये हों और चाहे द्रविड़ लोग स्वतन्त्र जाति के हों या दूसरी जाति के हों, (भेद की बातों को भी हमें भुलाना न चाहिये जैसे भाषा का भेद) किन्तु दोनों सभ्यतायें घुल-मिल गईं। धर्म में वे उत्तरी लोगों से अधिक आर्य-धर्मावलम्बी हैं। शिव को पाश्चात्य विद्वान्, अनार्य देवता कहते हैं, किन्तु हमारी भारतीय परम्परा में तो रावण भी पुलस्त्य ऋषि का नाती और ब्राह्मण था। उसके नाम से वेद-भाष्य प्रसिद्ध है। वह शिव-पूजक था, किन्तु राम भी शिवोपासक कहे गये हैं। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि शालिग्राम की पूजा तथा नाग की पूजा आर्यों ने अनार्यों से ग्रहण की। किन्तु, यह बात समझ में नहीं आती कि तथाकथित अनार्य शिव का कैलाश से कैसे सम्बन्ध

स्थापित हुआ...? नाग-पूजा चाहे जहाँ से आई हो, आर्यों की अहिंसा-वृत्ति से मेल खाती है। अस्तु, जो कुछ भी हो, द्रविड़ों ने आर्यों की देववाणी संस्कृत को अपनाया और उस भाषा में ग्रन्थ-रचना की। उसका महत्व उत्तर भारत ने स्वीकार किया। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य की गुरु-शिष्य परम्परा सारे उत्तर भारत में फैल गई। हमारी भाषा में कोड़ी (बीस) और पिल्ला (बच्चे को कहते हैं) जैसे शब्द दक्षिणी भाषाओं से आये। दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा को भी स्वीकार करते जाते हैं। अनार्य लोग (द्रविड़ आदि) कला, भवन-निर्माण आदि में बहुत दक्ष थे। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में भी इसकी स्वीकृति है। मय दानव ने ही युधिष्ठिर का भवन बनवाया था, जिसमें जल थल-सा दिखाई देता था और थल जल-सा।

यूनानी—यूनानियों का प्रभाव अधिक काल तक नहीं रहा, फिर भी हमारी ज्योतिष आदि पर उनका आंशिक प्रभाव पड़ा, किन्तु हमने उनका अनुकरण नहीं किया। हमारे सिद्धान्तों से जो बातें मेल खाती थीं, उन्हीं को हमने अपनाया। किन्तु, जो कुछ लिया है वह अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा है।

जैन और बौद्ध—जैन और बौद्ध अपने ही हैं। बहुत प्राचीनकाल से ही वैदिक और श्रमण (जैन) धारा समानान्तर रूप में चलती आई हैं। उनकी संस्कृति अपनी है। त्याग और तप की महिमा जो आर्य संस्कृति में है वही उनके यहाँ भी है। योग के नियम जैनियों के यहाँ महाव्रत कहलाते हैं और बौद्धों के यहाँ पंचशील के नाम से पुकारे जाते हैं। महात्मा गांधी ने उनको अपनाया था।[1] फिर भी वैष्णवों, जैनों और बौद्धों में कुछ अन्तर है और उन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनी-अपनी देन से सम्पन्न बनाया है। ये तीनों ही अहिंसा को परम धर्म मानते हैं। बौद्ध धर्म ने जाति-पांति की विषमताओं को दूर किया। जाति-पांति के बन्धनों को शिथिल करने के लिये जितने आन्दोलन चले उनका मूल स्रोत वही कहा जा सकता है। जैन धर्म में यज्ञादि कर्म-काण्ड की अपेक्षा नैतिक-चारित्रिक उत्थान पर अधिक बल दिया गया है। बौद्ध धर्म में जनवाद का अधिक प्रचार है। उन्होंने संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत, पाली आदि को अधिक अपनाया और दृष्टान्तों द्वारा उच्च सिद्धान्तों का बोध कराने का प्रयत्न किया। यद्यपि बौद्धों में प्रारम्भ में तो धर्म-चक्र की ही उपासना थी, तथा-गत के पीछे से भगवान् बुद्ध की एक ईश्वर के रूप में उपासना होने लगी।

बौद्ध धर्म में तो भिक्षुओं, मठों और बिहारों को अधिक महत्व दिया गया है। प्रत्येक बौद्ध जहाँ 'बुद्धं शरणं गच्छामि' और 'धर्मं शरणं गच्छामि' कहता था, वहाँ 'संघं शरणं गच्छामि' भी कहता था। बौद्ध धर्म ने भारत का विदेशों से सम्पर्क बढ़ाया और अपनी संस्कृति की छाप भारत के बाहर भी डाली। ईसाई प्रचारकों ने भी बौद्ध प्रचारकों का अनुकरण किया है।

---

१. "भूतदया, जैनों का मुख्य तत्व है, मैं सब अहिंसावादी लोगों को जैन ही समझता हूँ।"

—महात्मा गान्धी

बौद्धों ने भारतीय कला को भी बहुत समुन्नत बनाया। सबसे बड़ी देन बौद्ध धर्म की थी समत्व-भावना और स्वतन्त्र चिन्तन। पीछे से बौद्ध धर्म बहुत विकृत हो गया। शायद यह भिक्षुओं के कठिन शासन की प्रतिक्रिया थी। महायान शाखा का जन्म ही इसी प्रतिक्रिया में हुआ। जैन लोगों ने चरित्र पर बल दिया और उसकी विशेषता यह रही कि वह बौद्धों के तन्त्रवाद में नहीं फँसा। भारत की प्रकृति के अनुकूल उसने वर्ण-व्यवस्था को अंगीकार किया, किन्तु जैन धर्म में ब्राह्मण का वह मान नहीं रहा जो हिन्दू धर्म में था। देवार्चन और शास्त्र की व्याख्या का समान अधिकार स्वीकार किया गया। अहिंसावाद को जैन धर्म ने बुद्ध की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से अपनाया। जैनों ने भी भारतीय कला को सम्पन्न बनाया और बौद्धों की भाँति लोकभाषाओं को प्रोत्साहन दिया। जैनों ने अपभ्रंश को अधिक अपनाया।

हिन्दू-जैन-बौद्ध—हिन्दू धर्म का जैन और बौद्ध धर्मों से थोड़ा-बहुत शास्त्रीय विरोध तो रहा ही है। वैसे विरोध भी रहा हो, किन्तु पीछे से भगवान् बुद्ध की तो दशावतारों में गणना हुई है। 'गीत गोविन्द' के कर्ता जयदेव ने दशावतारों में उनकी स्तुति भी की है—

सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
केशव धृत बुद्ध शरीर ।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी भगवान् बुद्ध की अन्य अवतारों के साथ वन्दना की है—'शुद्धबोधैक घनज्ञान गुणधाम अज बुद्धावतार बंदे कृपालं' (विनय पत्रिका)।

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव का ऋग्वेद तथा श्रीमद्‌भागवत् में बड़े आदर के साथ उल्लेख हुआ है।

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः..................मैत्रः कारुणिको
धर्मार्थयशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ॥

(श्रीमद्‌भागवत ५।४।४)

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव, यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार के अनर्थों से रहित थे, केवल आनन्द स्वरूप और स्वयं ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्व न जानने वाले लोगों को समझाया। साथ ही, सम, शान्त, सुहृद और कारुणिक रहकर अर्थ, काम, सन्तान, भोग, सुख और मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम के लोगों को नियन्त्रित किया।[1]

वैष्णव—वैष्णव लोग भी जैनियों की भाँति पूर्ण अहिंसावादी हैं। वे वेदों का प्रामाण्य मानते हुए भी पशु-बलि के पक्ष में नहीं हैं। भक्ति-भावना वैष्णवों की

---

१. वास्तव में कृष्ण, बुद्ध, महावीर और गांधी जैसे महापुरुष, किसी सम्प्रदाय के क्या, किसी देश विशेष के भी नहीं होते। वे तो संसार भर के होते हैं। —डा० मंगलदेव शास्त्री

विशेष देन है। उन्होंने भक्ति और शरणागति पर विशेष बल दिया है। उन्होंने नियम की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व दिया है। यह बात कृष्ण-भक्त कवियों में अधिक रही है। वैष्णव लोग बड़ी कोमल प्रकृति के होते हैं। शूद्रों के प्रति भी उनका उदार भाव रहा है। उसकी भक्ति में जाति-पाँति का बन्धन नहीं है। वह सबके लिये सुलभ है। जाति-पाँति के बन्धन जो बीच में खड़े हो गये थे, उनमें वैष्णव लोग कुछ शैथिल्य ले आये। महात्मा गांधी का प्रिय गीत, जिसके रचयिता नरसी मेहता हैं, वैष्णवी मनोवृत्ति का अच्छा दिग्दर्शन कराता है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे,
पर दुःखे उपकार करे तो ये मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोक मां सहुने बन्दे, निन्दा न करे केनी रे।

इस प्रकार वैष्णव भावना भक्ति से भरपूर और सेवा-परायण थी। केवल शाक्त लोग ही पशु-बलि के समर्थक हैं।

इस्लाम का प्रभाव

मुसलमान लोगों ने भी भारतीय संस्कृति पर अपनी कुछ छाप छोड़ी, किन्तु प्रायः ऊपरी बातों पर। मुसलिम संस्कृति ने मूर्तिपूजा को ठेस पहुँचाई। उनका कार्य विध्वंसात्मक रहा। कबीर से लेकर स्वामी दयानन्द तथा राजा राममोहनराय आदि ने जो मूर्तिपूजा का विरोध किया, उसमें विध्वंसक प्रभाव की अपेक्षा सुधारक प्रभाव अधिक था। मुसलमानी साम्राज्य के साथ एक सम्मिलित व्यापक राज-भाषा का प्रचार हुआ। प्रान्तीय भाषाओं को विशेषकर हिन्दी को भी प्रोत्साहन मिला। प्रारम्भ में हिन्दी और उर्दू में विशेष भेद न था।

भारत में चाहे पहले पर्दे का कोई रूप रहा हो, स्त्रियाँ मुँह पर अवगुण्ठन डालकर निकलती हों और राज-घराने की स्त्रियाँ चाहे असूर्यपश्या रही हों, किन्तु पर्दे का प्रचार जैसा मुसलमानी समय में हुआ वैसा कभी नहीं हुआ। इससे भारतीय जीवन, विशेषकर नारी-जीवन पर, बहुत कुप्रभाव पड़ा।

मुसलमानी प्रभाव से जहाँ शहरी शिष्टाचार बढ़ा, वहाँ शहरी विलासिता भी बढ़ी। रीतिकालीन वर्णनों में उस विलासिता की छाप है। भारतीय पोशाक पर भी बहुत-कुछ मुसलमानी प्रभाव पड़ा। भक्ति-काल के वर्णनों में भी मुसलमानी प्रभाव पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्री रामचन्द्रजी को चौगोशिया टोपी और सूर ने कृष्ण को कुलही पहनाई है।

मुसलमानी प्रभाव से लोगों की ऐतिहासिक साहित्य की ओर रुचि बढ़ी। युद्ध-कला में भी उन्नति हुई और शासन सम्बन्धी शब्दावली आदि का प्रचार बढ़ा। चित्र-कला, स्थापत्य-कला (मूर्ति-कला नहीं) और कपड़े पर कढ़ाई आदि के काम की भी उन्नति हुई। मुसलमानों ने शुरू में लूट-मार और हत्याकाण्ड किया, पीछे उन्होंने देश में इस्लाम तथा कट्टर साम्प्रदायिकता का कुप्रचार किया।

पाश्चात्य प्रभाव

अँग्रेजों के आगमन से डाक, रेल, तार आदि के द्वारा एकता के साधनों की वृद्धि हुई और जाति-पाँति के बन्धन शिथिल पड़े, शासन में एकसूत्रता आई और अँग्रेजी भाषा द्वारा पारस्परिक प्रान्तीय सम्बन्ध बढ़े। शासन की कठोरता और शोषण ने भारत की बिखरी हुई शक्तियों को एक किया। अँग्रेजी माध्यम द्वारा स्वतन्त्रता-प्रेम-वर्द्धक साहित्य का प्रचार हुआ। भारत में यद्यपि मानसिक दासता बढ़ी तथापि विचार और रहन-सहन में एकसूत्रता आई। प्राचीन साहित्य, शिलालेखों, भग्नावशेषों के अध्ययन और शोध की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। विदेशों से हमारा सम्पर्क बढ़ा। यद्यपि यह सम्पर्क स्वतन्त्र न था तथापि हमारा उससे बहुत-कुछ नेत्रोन्मीलन हुआ।

विज्ञान और स्वतन्त्र चिन्तन की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। जहाँ ये सब गुण थे वहाँ अँग्रेजी शिक्षा ने भारतीय विद्यार्थियों के मन में अपनी संस्कृति के प्रति उपेक्षा उत्पन्न करदी। प्राचीन साहित्य और खोज की प्रवृत्ति कुछ ही विद्वानों में सीमित रही।

भारत का पुनर्जागरण

भारत के पुनर्जागरण के अग्रदूत हैं—महर्षि दयानन्द तथा बंगाल के राजा राममोहनराय। हमारे युवकों पर स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द का भी अधिक प्रभाव पड़ा है। थियोसॉफी ने भी शिक्षित वर्ग का ध्यान भारतीय संस्कृति की ओर आकर्षित किया। आर्यसमाज और सनातनधर्म-सभाओं ने जनसाधारण में संस्कृति के अध्ययन की रुचि जाग्रत की। गुरुकुल और ऋषिकुलों में प्राचीन ढंग की शिक्षा का प्रचार हुआ। इन सबके अतिरिक्त कांग्रेस ने हमारे स्वदेशाभिमान की वृद्धि की। स्वदेशाभिमान के साथ धीरे-धीरे स्वदेशी वस्त्रों, स्वदेशी रहन-सहन और स्व-भाषा की ओर मोह बढ़ा। कांग्रेस के नेतृत्व में हिन्दू-मुसलमान ऐक्य और अछूतोद्धार के प्रयत्न हुए। वर्ण-व्यवस्था शिथिल हुई। यद्यपि स्वभाषा के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति हिन्दी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी की ओर अधिक रही तथापि सारे देश में एक भाषा के प्रचार की भावना को पूज्य बापू के प्रयत्नों से प्रोत्साहन मिला। **महात्मा गांधी** ने साम्प्रदायिक सहिष्णुता को बढ़ाया। हिन्दू संस्कृति के स्थान में भारतीय संस्कृति का प्रचार होने लगा। किन्तु, उन्होंने प्राचीन संस्कृति से सम्पर्क स्थापित रखा। उन्होंने पंच महाव्रतों को अपनाया। साथ ही, स्वदेशी और अस्पृश्यता निवारण को भी व्रत का सा महत्व दिया। उनका विचार न्याय पर आधारित था। वे समझते थे कि जब तक हम अपने समाज में ही समानता का भाव उत्पन्न नहीं करेंगे, तब तक अँग्रेजों से समानता की माँग नहीं कर सकते। उन्होंने जो सबसे बड़ी बात की वह यह थी कि राजनीति को धर्मनीति में परिवर्तित कर दिया और सत्य और अहिंसा के अस्त्रों से भारत की दासता छुड़ाई। उन्होंने शत्रु से भी प्यार किया, उससे छिपा-चोरी की नीति का व्यवहार नहीं किया। किन्तु, स्वयं कष्ट सहकर और दूसरों को

कष्ट सहना सिखाकर शत्रु के हृदय-परिवर्तन का प्रयत्न किया। वीरता के भी अर्थ बदले। अब वीरता दूसरों को मारने में नहीं है, बल्कि निर्भयता के साथ सत्य पर आरूढ़ रहने के लिए कष्ट सहने में है।

महात्मा गांधी की देन को हमने पूरी तौर से नहीं अपनाया है। उनको हम समझ भी नहीं सके हैं। सत्य का हममें वह आदर नहीं है, जो प्राचीन काल में था। फिर भी हमारे राष्ट्र का आदर्श वाक्य 'सत्यमेव जयते' ही है। आशा है कि आदर्श यथार्थ को सुधारेगा। हममें प्राचीन संस्कृति के बीज मौजूद हैं। अनुकूल वातावरण की आवश्यकता है। स्वराज्य ने हमको अनुकूल वातावरण दिया है, उससे वे बीज पुनः अंकुरित और पल्लवित होंगे।

भारतीय संस्कृति की महत्ता

संस्कृति स्थिर वस्तु नहीं है, फिर भी उसमें कुछ शाश्वत तत्व हैं, और कुछ परिवर्तनशील हैं। हमारी संस्कृति के जो शाश्वत तत्व हैं, वे मानवता के तत्व हैं। अद्वेष-भाव, आत्मौपम्य दृष्टि, करुणा, मैत्री, मुदिता ये तत्व हमको भारतीय संस्कृति ही नहीं, मानव संस्कृति की ओर ले जाते हैं। हमारा अद्वेष भाव हमको सब संस्कृतियों के उत्तम और संरक्षणीय तत्वों को ग्रहण करने के लिये प्रेरित करता है। हमारा हिन्दुत्व दूसरों के साथ अद्वेष-भाव रखने में ही संरक्षित रहा है। दूसरों के साथ उदारता करके हम अपनी ही संस्कृति का पोषण करते हैं, किन्तु दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार करते हुए हमको यह न भूलना चाहिए कि हमारी संस्कृति हमारे देश की जलवायु और वातावरण के अनुकूल है। हम विदेशी संस्कृति का अन्धानुकरण न करें। अपनी संस्कृति पर गर्व करना सीखें। हमारी संस्कृति में पर्याप्त वैज्ञानिकता है, विशेषकर खान-पान के नियमों में। हमारी पोशाक भी देश के वातावरण के अनुकूल है। हमारी संस्कृति जीवित और सबल है। दूसरी संस्कृतियों के संरक्षणीय तत्वों को अपनाकर भी अपनपत्व और अपनी विशेषता रख सकती है। हमको अपनी विशेषता न खो देनी चाहिए। अपनी विशेषता बनाये रखने के लिए हमको अपनी विशेषताओं का अध्ययन करना चाहिए। इसी दृष्टि से अगले अध्याय लिखे गये हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति के मूल स्रोत हैं, हमारे वेद-शास्त्र, काव्य और कला-कृतियां। इनकी उपेक्षा करना अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता है। हमारे रीति-रिवाज, पर्व और उत्सव भी हमारी संस्कृति के परिचायक हैं। हमारी संस्कृति के विराट् स्वरूप के ये अंग हैं। हमको संस्कृति के बाहरी चिह्नों का आदर करते हुए और उसको अपनाते हुए उसकी आत्मा को न भूलना चाहिए। दिगम्बर मुनिश्री विद्यानन्दजी वर्तमान काल में भारतीय समन्वयवादी संस्कृति के सर्वोच्च उन्नायक हैं। समस्त देश आशापूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देख रहा है।

द्वितीय खण्ड

प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति

१ | वैदिक साहित्य
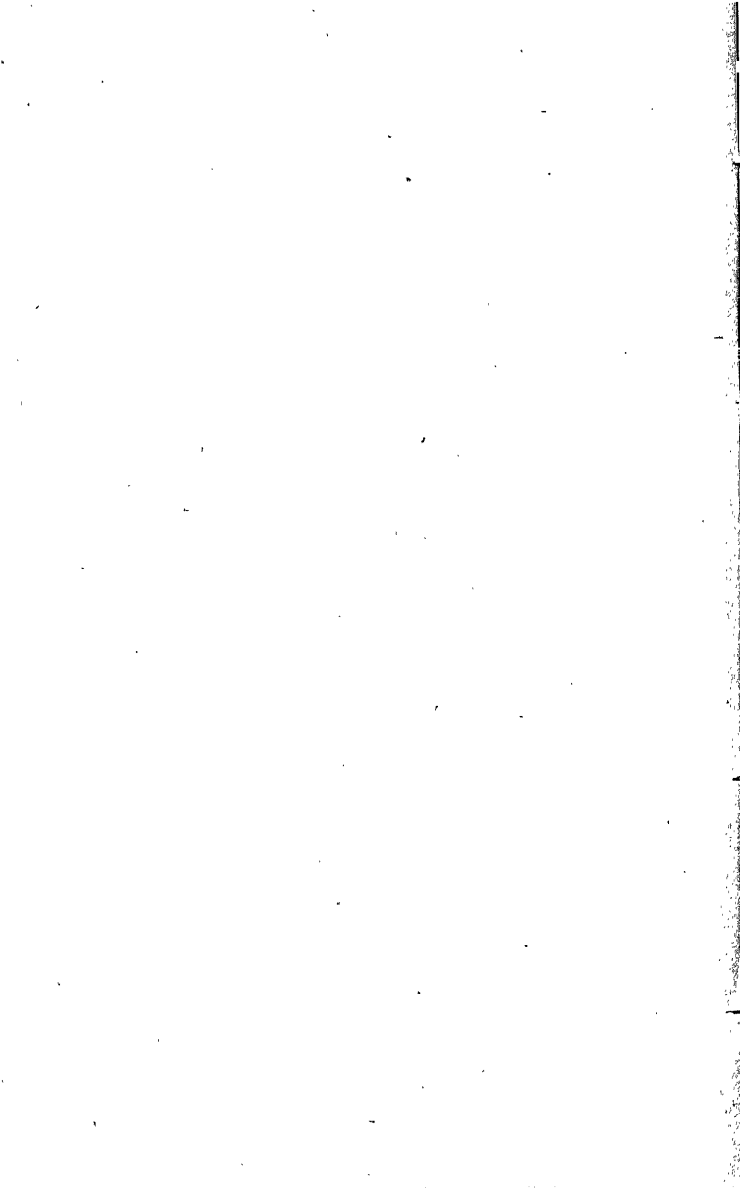
लौकिक और धार्मिक साहित्य

साहित्य संस्कृति का एक प्रधान अंग है। साहित्य में जाति के मनोगत भाव सुरक्षित रहते हैं और उसके द्वारा उनके विकास क्रम का भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

भारतीय साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन है और उसकी शाखायें भी चारों ओर फैली हुई हैं। वैसे तो भारतीय साहित्य कहने से वैदिक और लौकिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा भिन्न-भिन्न उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के प्रान्तों के साहित्य का अनन्त विस्तारमय क्षेत्र हमारे सामने आ जाता है और उसको एक छोटी-सी पुस्तक के किसी अध्याय की सीमा में बाँधना इस लेखनी की शक्ति के बाहर है, किन्तु जो कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ा और सुना है उसके आधार पर हम उस संस्कृत-साहित्य-परम्परा का दिग्दर्शन मात्र करा सकते हैं जिसका सभी प्रान्त की भाषाओं ने थोड़ी-बहुत मात्रा में उत्तराधिकार प्राप्त किया है। यद्यपि भारतवर्ष में धार्मिक और लौकिक साहित्य में कोई अन्तर नहीं है तथापि कुछ साहित्य को हम विशेष रूप से धार्मिक कह सकते हैं, शेष को हम लौकिक कहेंगे।

संस्कृत भाषा का स्वरूप

संस्कृत भाषा संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम है। निश्चय ही यह संसार भर की समस्त भाषाओं में वैदिक तथा अन्य महान साहित्य के कारण श्रेष्ठ है। इसको धार्मिक दृष्टि से 'देववाणी' या 'सुर भारती' भी कहा जाता है। हिन्दू धर्म के सभी शास्त्र इसी भाषा में निबद्ध हैं और उनका उद्भव ऋषियों एवं देवताओं से माना जाता है। अतः उनसे सम्बद्ध होने के कारण यह देववाणी कहलाती है। देवताओं को आवाहन करने के लिए मन्त्र आदि का निर्माण इसी भाषा में हुआ है। उन मन्त्रों में अपार शक्ति है। दूसरे शब्दों में देवता इसी भाषा को समझते एवं बोलते हैं, ऐसी हिन्दू धर्म की मान्यता है। दण्डी ने काव्यादर्श में लिखा है—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।

संसार के सर्वप्रथम ग्रन्थ तथा हिन्दू धर्म के सर्वस्व ऋग्वेदादि इसी गौरवमयी वाणी में महर्षियों द्वारा भगवान की आन्तरिक प्रेरणा से निर्मित हुए थे। इसी भाषा में अध्यात्म की गम्भीर गुत्थियों को सुलझाने वाले उपनिषदों का प्रणयन हुआ। सृष्टि के विकास-क्रम एवं प्रलय का वर्णन करने वाले इतिहास ग्रन्थ, पुराण आदि का निर्माण भी इसी भाषा में हुआ। हमारे पूर्वज आर्यों की उत्कृष्ट संस्कृति, रीति-रिवाज एवं परम्परा आदि का अवतरण भी इसी सुर भारती में हुआ है। इस प्रकार लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक निःश्रेयससिद्धि के साधन जितने ज्ञान-विज्ञान, कर्मकाण्ड, शास्त्र-पुराण आदि हैं वे इसी देववाणी में अवतरित हुए हैं।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संस्कृत आर्य-परिवार की भाषा है। इसे भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मनीय परिवार भी कहते हैं। आर्य-परिवार की दो विशिष्ट शाखाएँ हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पूर्वी शाखा के अन्तर्गत भी दो प्रमुख वर्ग हैं—भारतीय वर्ग तथा ईरानी वर्ग। भारतीय वर्ग के अन्तर्गत वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा इससे उद्भूत हिन्दी, बंगाली, गुजराती आदि भारतीय भाषाएँ आती हैं। ईरानी वर्ग में ईरानी भाषा तथा उससे उत्पन्न फारसी, पश्तो आदि हैं। भारतीय वर्ग की भाषाओं का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। अन्य नव्य आर्य भारतीय भाषाओं का मूल यही वैदिक संस्कृत है। ईरानी भाषा का प्राचीनतम रूप पारसियों के मूल धार्मिक ग्रन्थ 'जेन्द अवेस्ता' में निहित है। पश्चिमी शाखा में नौ वर्ग हैं जिनमें यूरोप की सभी प्राचीन और नव्य भाषाएँ सम्मिलित हैं। ये वर्ग इस प्रकार हैं—
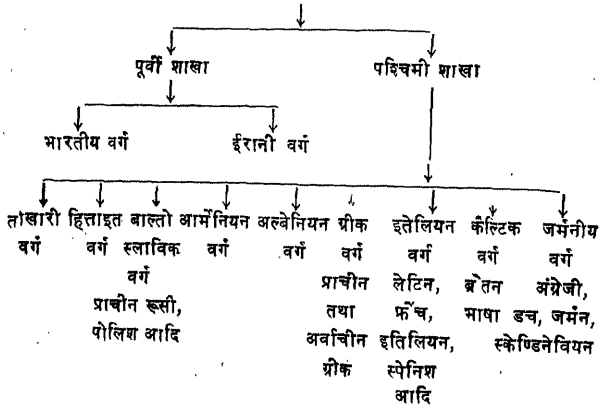
भारोपीय परिवार की उपरोक्त दोनों शाखाओं और उनके वर्ग की भाषाओं में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कुछ ऐसी समानताएँ पाई जाती हैं जिनके कारण हम

इन सबको एक ही परिवार की भाषाएँ मानते हैं। कालान्तर में ये समानताएँ अज्ञात हो गईं एवं देशों की जलवायु-भिन्नता आदि के कारण उच्चारण में भिन्नता के कारण ये एक दूसरे से एकदम पृथक् हो गईं। संस्कृत का पितृ (पितर) शब्द ग्रीक के पतेर (Pater) लैटिन पतेर (Pater), जर्मन वातेर (Vater) तथा अंग्रेजी के फादर (Father) शब्द से मिलता है। इन सभी शब्दों में पदान्तता की समानता है। उपरोक्त शब्दों में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे जलवायु तथा अन्य कारणों से ध्वनि में परिवर्तित हुए हैं तथा ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुकूल हैं। ग्रिम नियम के अनुसार संस्कृत की अघोष अल्पप्राण ध्वनि, अंग्रेजी में महाप्राण तथा जर्मन में सघोष अल्पप्राण पाई जाती है। भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन भाषाओं की अपनी निजी विशेषताओं के होते हुए भी इनमें कुछ ऐसी समान विशेषताएँ हैं जिनसे हम एक मूल भारोपीय भाषा की कल्पना कर सकते हैं। यह काल्पनिक आदिम भाषा ही भारोपीय परिवार की मूल भाषा रही होगी, ऐसा अनुमान विज्ञान के नियमों के अनुकूल होते हुए भी इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[1]

डॉ० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में "ऋग्वेद के मन्त्रों की भाषा प्राचीनतम भारतीय भाषा है। यह भाषा अवेस्ता की भाषा के अत्यधिक निकट है, तथा प्रा० भा० यू० 'गुन्द्रस्प्राख' (Grunds prache) का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है। इसी का विकसित रूप लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत है।[2] अवेस्ता की प्राचीनतम भाषा अभिव्यक्ति की दृष्टि से वैदिक संस्कृत से भिन्न नहीं मानी जा सकती। देखा जाय तो वह कालिदास की संस्कृत से वैदिक भाषा के कहीं अधिक नजदीक है।"

वैदिक और लौकिक संस्कृत

भाषा की दृष्टि से भी वैदिक और लौकिक संस्कृत में भेद किया जाता है। वैदिक संस्कृत बोल-चाल की भाषा के कुछ अधिक निकट थी, उसमें तरलता थी—एक-एक विभक्ति के कई-कई रूप होते थे। लौकिक संस्कृत पाणिनि के व्याकरण के सूत्रों में ऐसी बंध गई थी कि उसमें तरलता का अभाव-सा हो गया था। उससे बिगड़ कर चाहे जितने रूप बने हों, किन्तु शुद्ध संस्कृत का रूप अक्षुण्ण रहा। उसकी स्फटिक की-सी शुद्धता और स्वच्छता में मलिनता नहीं आई।

वैदिक भाषा और संस्कृत यद्यपि भाषाविज्ञान की दृष्टि से समान एवं एक ही वर्ग की भाषाएँ हैं। यों कहना चाहिये कि संस्कृत वैदिक भाषा का भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुरूप विकसित रूप है। किन्तु दोनों में व्याकरणगत बहुत सी असमानताएँ हैं। वैदिक भाषा और संस्कृत का व्याकरण बहुत भिन्न है। साहित्य

---

१. देखिए—डा० भोलाशंकर व्यास का 'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' पृ० ६४।

२. यहाँ 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग हम कुछ विस्तृत अर्थ में कर रहे हैं, जिसमें अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं।

की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त भेद है। वैदिक भाषा से संस्कृत तक आते-आते शब्दों के अर्थों में भी अन्तर आ गया है। उदाहरणार्थ वैदिक भाषा में 'वध' शब्द का अर्थ 'भयंकर हथियार' होता है किन्तु संस्कृत में 'मार डालना'। इसी प्रकार 'श्रद्धा' शब्द का व्यवहार वैदिक भाषा में गर्भवती स्त्री की 'भीतरी इच्छा' था किन्तु लौकिक संस्कृत में इसका अर्थ परिवर्तित होकर 'पूज्य बुद्धि का संचार' हो गया।

'संस्कृत' शब्द का अर्थ है संस्कार की हुई भाषा। यह शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना हुआ है। संस्कृत और वैदिक भाषा एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता रखती हैं। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि बोलचाल की भाषा और साहित्य रचना की भाषा एक दूसरे से बहुत भिन्नता रखती हैं। जिस युग में वेद साहित्य की रचना हुई, उस युग में साहित्यिक अनुष्ठान की भाषा वैदिक भाषा थी और बोलचाल की उससे थोड़ी कम परिष्कृत एवं व्याकरण के नियमों से कम जकड़ी हुई भाषा—लोक भाषा—बोलचाल की भाषा थी। वैदिक भाषा का ठीक उच्चारण भी एक बड़ी साधना की अपेक्षा करता है अतः केवल तपःपूत ऋषिगण ही उसका सस्वर उच्चारण कर सकते थे। इसी भाषा में उन्होंने अपने अन्तःकरण में प्रतिभासित होने वाले आध्यात्मिक तत्व एवं ईश्वरीय ज्योति का प्रभाव निबद्ध किया है। धीरे-धीरे समय की गति के साथ तपःपूत ऋषियों का अभाव हो गया और उन्हीं के साथ वैदिक भाषा का भी 'साहित्यिक मरण' हो गया अर्थात् वैदिक भाषा में साहित्य का सृजन युग की प्रमुख प्रवृत्ति न रहा। अब जनसाधारण के भली-भाँति समझ में आने वाली एवं उनके द्वारा बोली जाने वाली लोकभाषा में साहित्य की रचना होने लगी। लोकभाषा को साहित्य-सर्जन के उपयुक्त बनाने के लिए उसे व्याकरण के नियमों में बाँधकर तथा अन्य प्रकार से भी शिष्ट एवं सभी प्रकार की भावाभिव्यक्ति के योग्य बनाने के लिए संस्कृत किया गया। संस्कार की गई लोकभाषा अथवा बोलचाल की भाषा लौकिक संस्कृत कहलाने लगी। कालान्तर में लौकिक शब्द का लोप हो गया और इसका नाम 'संस्कृत' पड़ा। यास्क ने बोलचाल की भाषा को केवल भाषा कहा है—

भाषायामन्वध्यायञ्च। (निरुक्त।१।४।)

इसी प्रकार अष्टाध्यायी में पाणिनि ने लोक व्यवहार में आने वाली बोली का नाम केवल भाषा दिया है—

भाषायां सदवसश्रुवः ॥ (अष्टाध्यायी।३।२।१०८)

इस प्रकार प्रारम्भ में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। वैदिक भाषा का 'साहित्यिक मरण' होने के बाद इस लोक व्यवहार की लोकभाषा का संस्कार किया गया और इस संस्कृत की हुई भाषा का नाम संस्कृत पड़ा। जब संस्कृत साहित्य पद पर आसीन हुई तो बोलचाल एवं लोक व्यवहार में जिस भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ वह प्राकृत या जनसाधारण की भाषा कहलायी। यह घटना वाल्मीकि के युग की है।

वेद

हमारी संस्कृति के प्राचीनतम भण्डार वेद हैं।[1] इनमें हमारे पूर्वजों के तपोमय चिन्तन और अन्तर्दृष्टि का फल निहित है। विदेशियों ने भी ऋग्वेद की महिमा मुक्त कंठ से स्वीकार की है। (चाहे उसके समय-निर्धारण और अर्थ में भूलें की हों)। मैक्समूलर का कहना है कि जब तक भूतल पर नदी और पर्वत रहेंगे तब तक लोकों में ऋग्वेद की महिमा का प्रचार रहेगा—

यावत्स्थास्यन्ति गिरयःसरितश्च महीतले।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

दार्शनिकों में मीमांसक इनको अपौरुषेय[2] और नैयायिक ईश्वर-कृत और अनादि मानते हैं। ईश्वर को न मानने वाले स्वतन्त्र विचारक सांख्य वालों ने भी उनको अपौरुषेय कहकर उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है। (अपौरुषेय का अर्थ है किसी पुरुष ने—चाहे वह ईश्वर हो या मनुष्य—नहीं बनाया।) वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान अनादि है, किन्तु उसका प्रकाश समय में होता है। वेदों की ऋचाओं के दृष्टा हुये हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं। 'ऋषयः मन्त्र द्रष्टारः'। उनको यह ज्ञान उनकी अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त था। ऋषि लोग वेदों के कर्ता नहीं वरन् दृष्टा ही माने गये हैं। दर्शन उसी वस्तु का होता है जो पहले से वर्तमान हो। यह भावना भारत की मौलिक धार्मिक भावना है कि मनुष्य का ज्ञान ईश्वराधीन है। उसमें उसके अहंभाव का निषेध रहता है। वेदों को श्रुति भी कहते हैं। इनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि कितने दिनों तक यह मौखिक परम्परा में रहे और कब लिखे गये।

वेदों का समय—वेद मनुष्य जाति के **प्राचीनतम ग्रन्थ** हैं। इनके निर्माण के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पाश्चात्य काल-गणना पहले बहुत संकुचित थी। बाइबिल के हिसाब से सृष्टि का आरम्भ ही पाँच या सात हजार वर्ष पूर्व का माना जाता है। किन्तु विकासवाद के विज्ञान ने अब दृष्टिकोण बदल दिया है। मनुष्य को संसार में आये लाखों वर्ष हो गये। फिर आर्य लोग जो प्राचीन समय में गणित, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि में संसार पर अपना सिक्का जमा चुके थे, मिश्र या चीन से क्यों पीछे रहते ?

वेद इतने प्राचीन हैं कि उनके निर्माण-काल का अनुमान लगाना कठिन है। लोगों ने जो अनुमान लगाये हैं वे अग्रलिखित हैं।

---

१. वेदाऽखिलो धर्ममूलम्। (मनुस्मृति २।६)
सर्वज्ञानमयोहि सः। („ २।७)

२. तस्मै नूनम् अभिद्यवेवाचा विरूपनित्यया। (ऋक्)
इस मन्त्र में 'नित्यया वाचा' वेद मन्त्रों को कहा है। मीमांसकों के अनुसार वेद अपौरुषेय, नित्य एवं स्वतःप्रामाण्य हैं।

१. साहित्य एवं भाषा के आधार पर

पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य एवं भाषा तत्त्व के आधार पर वेदों के रचना-काल का इस प्रकार अनुमान लगाया है :

(i) **मोक्षमूलर** (मैक्समूलर)—इन्होंने भाषा तत्त्व के आधार पर ऋग्वेद की रचना लगभग १२०० ई० पू० में मानी है। इन्होंने छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मण काल और सूत्रकाल के कालीय विभाग कर इनका पृथक-पृथक काल निश्चित किया। प्रत्येक काल के बीच में इन्होंने २०० वर्षों का अन्तर स्वीकार किया है। सूत्रकाल इन्होंने ६०० ई० पू० सिद्ध किया है। इस आधार पर छन्दकाल १२०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० के बीच निश्चित हुआ। इस प्रकार इन्होंने ऋग्वेद की रचना लगभग १२०० ई० पू० में मानी है।

(ii) **बाईबिल के साथ तुलना**—आर्कविशप और प्राटे नामक विद्वानों ने ऋग्वेद की बाईबिल से तुलना करके उसका रचनाकाल २००० ई० पू० के आस-पास माना है।

२. ज्योतिष के आधार पर काल-निर्णय

(i) **जैकोबी का मत**—जैकोबी ने ध्रुव नक्षत्र की स्थिति पर विचार कर वेद का रचनाकाल ४५०० ई० पू० निश्चित किया है।

(ii) **लोकमान्य तिलक का मत**[1]—वेदों की संहिताओं में नक्षत्रों की गणना मृगशिरा से होती है। यह स्थिति आज से ६५०० वर्ष पूर्व थी। इसलिए तिलक वेदों के प्रारम्भिक काल को ६५०० ई० पूर्व तक ले जाते हैं।

(iii) **शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मत**—इन्होंने शतपथ ब्राह्मण के एक ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेख के आधार पर गणना करके ऋग्वेद का रचना-काल ५५०० ई० पू० निश्चित किया है।

(iv) **डा० सम्पूर्णानन्द का मत**[२]—डा० सम्पूर्णानन्द ने वेदों का रचना-काल २५००० वर्ष से भी पूर्ववर्ती माना है। उनका अनुमान है कि सभी मन्त्र १८ से २५, ३० सहस्र वर्ष पुराने नहीं हैं किन्तु मन्त्रों की पुष्ट काव्य शैली से पता चलता है कि उसके पीछे बहुत लम्बा साहित्यिक इतिहास होगा। कालान्तर में प्राचीन रचनाएँ नष्ट हो गयीं किन्तु उनमें जो स्मृतियाँ सुरक्षित थीं, वे नवीन रचनाओं में अनुस्यूत हुईं। अब भी ऋग्वेद में ऐसे बहुत से मन्त्र हैं जो १५ हजार वर्ष से पूर्व के हैं।

३. सांस्कृतिक दृष्टि से काल-निर्णय

मैकडोनेल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एशिया माइनर में प्राप्त बोगाकजाई शिलालेख में उल्लिखित वैदिक देवताओं के नामों को देखकर ऋग्वेद का रचना-काल १३ वीं शती ई० पू० के आस-पास माना है।

---

1. **B. C. Tilak :** *The Orion or Researches into the Antiquity of the Vedas.*
२. डा० सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदि निवास।

४. भूगर्भ विद्या के आधार पर मत

ऋग्वेद में पूर्व और पश्चिम समुद्रों का उल्लेख देखकर पूना के नारायण भवनराव की धारणा है कि पश्चिम समुद्र उस स्थान पर था जहाँ आजकल भारत के पश्चिमी पर्वत और रेगिस्तान हैं। समुद्र से हिमालय को बाहर निकलने में २५ हजार वर्ष से भी अधिक लगे होंगे। इस आधार पर उन्होंने ऋग्वेद का रचनाकाल ६६००० वर्ष पूर्व माना है।

डा० अविनाशचन्द्र दास[1] ने भी भूगर्भ-शास्त्र सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर वेदों का रचना-काल २५ हजार वर्ष से पूर्व माना है।

५. ऐतिहासिक मत

डा० विन्टर निट्ज ने भगवान् बुद्ध के उदयकाल के एक हजार वर्ष पूर्व वेदों का विकास माना है। इस प्रकार वे वेदों का रचना-काल १५००–१२०० ई० पू० के बीच मानते हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त मतों में ज्योतिषीय गणना पर आधारित लोकमान्य तिलक का ६५०० ई० पू० का मत अधिक मान्य ठहरता है।

वेदों का महत्व

वेद और संस्कृति—आर्यों की संस्कृति, सभ्यता एवं उनकी मानसिक प्रवृत्तियों का जैसा सुन्दर परिचय वेदों में उपलब्ध है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वेदों में अतीव अतीत काल अर्थात् प्रागैतिहासिक काल के मानवों के व्यवहार एवं विचारों का परिचय मिलता है। यदि हमें अपने पूर्वजों के जीवन व्यवहार एवं उनकी संस्कृति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना है तो वेदों का गंभीर अध्ययन आवश्यक है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी भारतीय जीवन के संस्कार वेद विहित हैं। आज भी हिन्दुओं के जन्म, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कारों में वैदिक मंत्र प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार हमारे जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से वेदों का महत्व अक्षुण्ण है। वेद हिन्दुओं के मस्तिष्क की प्रेरक विचारधारा के मूल स्रोत रहे हैं और आज भी हैं। उनमें धार्मिक और याज्ञिक विधान के अतिरिक्त गृहकार्यों के सम्बन्ध में भी ऋचाएँ हैं। उनमें उस युग के आर्यों के सामाजिक कृत्य एवं रहन-सहन, क्रीड़ा-विनोद तथा अन्य परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। उनमें वैदिक युग के जीवन का पूर्ण चित्र है।

वेद और हिन्दू धर्म

वेद हिन्दू धर्म के मूल ग्रन्थ हैं। वेद के आधार पर ही समस्त हिन्दू धर्मशास्त्र का निर्माण हुआ है। तिलक जी ने हिन्दू धर्म का लक्षण 'प्रामाण्य बुद्धिर्वेदेषु' (अर्थात् वेदों को एक मात्र प्रमाण मानना) किया है। हिन्दुओं के देवता, उनका स्वरूप, स्तुति-अर्चना-उपासना, उनसे प्राप्त होने वाले लाभ आदि सभी धार्मिक तत्वों का निरूपण

1. *Rigvedic India*, Ist Ed., Cal. (1921).

वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में यज्ञ से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म निरूपित करके प्रजापति और विष्णु का रूप बताया है। यज्ञ परोपकार की वृत्ति के सूचक ही नहीं हैं वरन् वे हमें विधि-निषेध (भले काम करें, बुरे कार्यों से बचें) और प्रायश्चित भी बताते हैं। वेद धार्मिक-भाव को केवल याज्ञिक विधान तक ही सीमित नहीं करता वरन् एक नैतिक शासन का वर्णन करता है जो उस समय प्रचलित था। इस शासन का नाम ऋत था। वरुण देवता इस ऋत के रक्षक माने गये हैं—'गोपा ऋतस्य'। यही वरुण ऋत अथवा नैतिक नियमों को तोड़ने वालों को दण्ड भी देते थे। वेदों में धर्म का मूलाधार नैतिकता, सद्गुण, सदाचरण आदि है। ऋत-प्रणाली में नीतिशास्त्र की परम्परा छिपी है। आर्य धर्म बहुदेवतावाद को लेकर चला। आर्य देवताओं के परम भक्त पौरुष के पूजक, उत्साही एवं आशावादी थे। देवता प्राकृतिक शक्तियों के अधिष्ठाता हैं। ऐसे देवता जिनका प्राकृतिक स्वरूप विस्मृत हो गया तथा जो अत्यन्त शक्तिशाली एवं महान् हैं, उनके नाम ये हैं—इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषा, अश्विनी, रुद्र और परजन्य। ऋग्वेद में देवताओं की संख्या तेंतीस है।

आर्यों ने समस्त सृष्टि में व्याप्त परम सत्ता को ईश्वर माना और देवताओं को उस शक्ति के विभिन्न अंगों का प्रतीक—

महाभाग्यात् देवताया: एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥

(यास्क, निरुक्त ७।४।८)

वैदिक आर्य इन्द्रादिक देवताओं के अतिरिक्त अपने पूर्वज पितरों को भी देव-लोक में विराजमान, कल्पित कर उनकी पूजा करते थे। ऋग्वेद के ऋषि और देवता एक दूसरे पर आश्रित हैं। ऋषि देवताओं से यज्ञ, हवन या सोमपान करते-कराते उनसे अपनी कामनाओं की पूर्ति की अभिलाषा करते हैं। हवन की सामग्री नानाविध थी। पुरोडाश दूध में चावल अथवा जौ डालकर बनाते थे। जौ की खीर को यवशिर और केवल गाय के दूध को पकाकर गवशिर बनता था।

आर्यों का मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने, जड़ी-बूटियों पर भी विश्वास था। ऋग्वेद संहिता के प्रारम्भिक काल में इनका प्रचार कम था किन्तु अथर्ववेद काल तक बहुत बढ़ गया।

आर्यों को परलोक पर विश्वास था तथा वे स्वर्ग-नर्क को भी मानते थे। स्वर्ग को सदैव-ज्योतिष्मान, सुख-युक्त, आनन्द, मोद-प्रमोद का स्थल अमृतलोक एवं देवलोक माना है।

ऋग्वेद में सर्वप्रथम अग्नि पूजा का मन्त्र देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने आर्यों को जड़ोपासक कहा किन्तु यह निर्मूल है। अग्नि का अर्थ प्रकाश स्वरूप ईश्वर है। इसमें तेजोमय ईश्वर की अभ्यर्थना है। जड़ पदार्थ तो चैतन्य अधिष्ठाता के बल पर

कार्य करते हैं। अतः अग्नि, वायु आदि चैतन्य देव भी हैं और ऐसे असंख्य देवताओं के अधिष्ठाता परमात्मा हैं। इस प्रकार ऋग्वेद का धर्म चैतन्योपासक तथा एकेश्वरवादी था।

वेद और दर्शन

वेद ही ऐसा स्रोत है जहाँ से भारतीय दर्शन की विभिन्न धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। आस्तिक दर्शनों का तो वेद मूल ही है किन्तु नास्तिक दर्शन भी अपनी विचारधारा का प्रतिपादन वेद की विचारधारा को आधार बनाकर करते हैं। यथा उपनिषद् का 'नेहनानास्तिकिञ्चन' अद्वैत तत्व का बीजरूप है तो 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां' सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का प्रतीक है। उपनिषदों में वेदों के तत्वों का ही विशद चिन्तन है, अतः वे वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हैं।

वेद और काव्य

वेदों का साहित्यिक महत्व भी स्पष्ट है। वैदिक ऋषि छन्द एवं भाषा की योजना में, उपयुक्त सादृश्यमूलक मार्मिक उपमाओं की कल्पना में एवं प्रकृति के सुन्दर एवं सजीव चित्र अंकित करने में अपने को कवि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उषा एवं सृष्टि सूक्त में हमें उनकी काव्यात्मक शक्ति के उदाहरण उपलब्ध हैं। सूर्य देवता का सविता के रूप में गायत्री मन्त्रों में किया गया आवाहन अत्यन्त काव्यात्मक है। उषा, वरुण, इन्द्र, वाणी के सूक्तों में मार्मिक उपमाएँ प्रस्तुत की गई हैं। आकाश और पृथ्वी को माता-पिता के रूप में काव्यात्मक ढंग से वर्णित किया गया है। इनमें वर्णित देवता प्राकृतिक तत्वों के पीछे छिपी ईश्वरीय शक्ति के मानवीकृत रूप हैं। इन्द्र का व्यक्तित्व एक महान् शक्तिशाली, विजयी योद्धा का प्रतीक है तो अग्नि मानव जाति का मित्र एवं उनकी भेंट को उर्ध्वलोकों को भेजने वाला है। वैदिक साहित्य में तत्कालीन संस्कृति का भी सुन्दर चित्रण है। वैदिक ऋषि की निरीक्षण एवं मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया का विश्लेषण करने में भी गहरी अभिरुचि है। ऋग्वेद के अष्टम् मण्डल के १०० वें सूक्त में कहा है कि कवि ने यह अनुभव किया कि उसकी वाणी ईश्वरीय वरदान है और उसे मस्तिष्क में परिष्कृत करके उसने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ऋचाओं का निर्माण किया। उनके द्वारा इस प्रकार प्रेरित किये जाने पर वाणी ने अपना चमत्कार उनके सम्मुख प्रदर्शित किया और उन्हें महान् द्रष्टा बना दिया। वैदिक ऋषियों की वाणी प्रथम काव्यात्मक रचनाएँ बनीं, जो छन्द के रूप में थीं। छन्द का वेदों में विशेष महत्व है। इसका एक अर्थ इच्छा और अभिलाषा भी है। वैदिक काल में छन्द के सात रूप मिलते हैं, यथा गायत्री, त्रिष्टुप और जगती आदि। इनमें गायत्री सर्वाधिक प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण है। वेदों में श्रृंगार रस की व्यंजना पायी जाती है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में पुरुरवा तथा उर्वशी वाला सूक्त विप्रलंभ श्रृंगार का और यम-यमी सूक्त संयोग श्रृङ्गार का रूप प्रस्तुत करता है। पंचम मण्डल के उषा-सूक्त में उषा के रूप में सद्यःस्नाता नायिका की कल्पना भी उत्तम है—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात् ।
अपद्वेषो बाधमाना तमोंस्युषा दिवो दुहिता ।।
(ज्योतिषागात ।५।८०।५)

सूर्य उषारूपी सुन्दरी का पीछा करता हुआ कामुक पुरुष के समान दिखाई देता है—

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्योति पश्चात ।।

वेद-मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों को कवि कहा गया है। कवि को मनीषी, स्वयंभू एवं साक्षात् परमात्मा कहा है। परवर्ती लौकिक संस्कृत काव्य में वेदों की मार्मिक उपमाओं एवं काव्यात्मक विशेषताओं का अनुकरण हुआ है। काव्यान्त में विभिन्न छन्दों का प्रयोग करने की परम्परा वेदों से गृहीत है। आगे हम वेदों के कुछ काव्यमय उद्धरण दे रहे हैं जिनमें उपमादि अलंकारों का वैभव प्रदर्शित है—

"हे इन्द्र, जैसे आमरण माता-पिता के साथ रहने वाली पुत्री अपने पितृकुल से ही अंश के लिए प्रार्थना करती है। वैसे ही मैं तुम्हारे पास धन की याचना करता हूं।"[1]

"हे व्रतकारी, शीघ्र गमनशील और सबके प्रार्थनीय आदित्यगण, गुप्तप्रसविनी स्त्री के गर्भ की तरह मेरा अपराध दूर देश में फेंक दो।"[2]

"कल्याणी और हास्यवदना स्त्री जैसे एकचित्त होकर पति के प्रति आसक्त होती है, उसी प्रकार घृतधारा अग्नि के प्रति गमन करती है।"

"कन्या जैसे पति के निकट जाने के लिए वेश-विन्यास करती है, हम देखते हैं कि यह घृतधारा भी उसी तरह करती है।"[3]

"हे आदित्यगण, तुम लोग दुःख निवारण को जानते हो। जैसे चिड़िया अपने बच्चों पर पंख फैलाती है वैसे ही तुम हमें सुख प्रदान करो।"[4]

"जैसे शिशु के पास माता जाती है, और दुग्धवती गाएँ बछड़े के पास जाती हैं वैसे ही शब्द करती नदियाँ सिन्धु के पास आती हैं।"[5]

"जैसे अच्छा सारथी रासों से घोड़ों को हाँकता है उसी तरह जो मनुष्यों को चलाता है वह हृदय में प्रतिष्ठित, बूढ़ा न होने वाला, वेगवान मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।"[6]

वेद एवं भाषा-शास्त्र

भाषा के उद्भव एवं विकास की दृष्टि से भी वेदों का बहुत महत्व है। सत्रहवीं शती के अन्त में यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और उन्हें भाषा-वैज्ञानिक विवेचन की प्रेरणा मिली। उन्होंने वैदिक संस्कृत को

---

१. ऋग्वेद २।१७।७
२. वही २।२९।१
३. ऋग्वेद ४।५८।८-९
४. वही ८।४७।२
५. वही १०।१५।३४
६. यजुर्वेद ३४।६

मूलाधार बनाकर भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया। वैदिक संस्कृत ने भाषा-विज्ञान को सुदृढ़ भूमिका प्रदान की। वैदिक भाषा का परिचय होने से पूर्व यूरोपीय भाषाविदों में 'मूल भाषा' के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद था किन्तु इसका ज्ञान होने से भारोपीय मूल भाषा का एकमत से स्वरूप निर्धारण करने का सफल प्रयत्न किया गया। वैदिक संस्कृत का मूल भाषा के साथ अधिकतम सामञ्जस्य होने के कारण तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इसका महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। संस्कृत शब्दों के अर्थ परिवर्तन की जानकारी के लिए वेद एवं वैदिक भाषा का अध्ययन नितान्त अपरिहार्य है। भाषा-शास्त्र का यह एक सामान्य नियम है कि भौतिक अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द कालान्तर में मानस स्तर पर पहुँच जाते हैं, यथा, इन्द्रस्तुति में कहा गया 'यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्' अर्थात् इन्द्र ने चलायमान पर्वतों को स्थिर किया। यहाँ 'कुप' का अर्थ भौतिक संचलन और 'रम्' का स्थिरीकरण है। किन्तु इन वैदिक शब्दों के अर्थ में कालान्तर में परिवर्तन हुआ और लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग (कुप्=कोप, रम्=रमता) मानसिक स्तर पर होने लगा।

वेद एवं लिपि का विकास

लिपि का विकास ऋग्वेद काल में ही आर्यों ने कर लिया था। कुछ विद्वानों का मत है कि लेखन-कला का उद्भव उत्तर वैदिक काल में सर्वप्रथम ८०० ई० पू० के लगभग मेसोपोटैमिया के प्रभाव से हुआ। किन्तु यह मत भ्रामक, तथ्यहीन एवं प्रमाणरहित है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'प्राचीन लिपिमाला' में यह मत व्यक्त किया है कि प्राचीन भारतीय लिपि में भारतीयता का पुट इतनी अधिक मात्रा में है कि वह हमें शीघ्र ही यह स्वीकार करने नहीं देता कि भारतीय लिपि का जन्म मेसोपोटैमिया के प्रभाव से हुआ। ब्यूलर का मत है कि नवीं शताब्दी ई० पू० तक भारत में लेखन-कला का भली-भाँति प्रचलन हो चुका था। आर० डी० भंडारकर ने प्रबल तर्क एवं पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया है कि ऋग्वेद के मंत्र सुनकर याद किये जाते थे। इससे यह अनुमान लगाना कि आर्यों को लेखन-कला नहीं आती थी, एक दूरारूढ़ कल्पना है। ऋग्वेद काल में ही भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान था। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहरों से यह धारणा बनी है कि सिन्धु लिपि ब्राह्मी लिपि से पूर्ववर्ती थी और उसी से ब्राह्मी लिपि व्युत्पन्न हुई। जहाँ तक वेदादि के कंठस्थ करने की बात है, वह तो आज लेखन-कला के समुन्नत काल में भी प्रचलित है क्योंकि धर्म-ग्रन्थों को कंठस्थ करना पुण्य कार्य माना जाता है। अतः वेदों को कंठस्थ करने से ऋग्वेद काल में लेखन-कला के अभाव की कल्पना भ्रामक व्युत्पत्ति ही कही जायेगी।

निष्कर्ष—वेदों के महत्व के विवेचन को हम पं० रामगोविन्द त्रिवेदी के इस वक्तव्य से समाप्त करते हैं—"जो पक्षपातहीन होकर भाष्यों और टीकाओं के साथ वैदिक साहित्य का सविधि स्वाध्याय कर चुके हैं और साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर

तथा तटस्थ होकर सारे वैदिक वाङ्मय को मथ चुके हैं, वे कहते हैं—वेद आर्य-सभ्यता और हिन्दू संस्कृति का मूलाधार हैं। वेद आर्य ज्ञान-विज्ञान का उज्ज्वल धाम हैं। वेद सम्पूर्ण आर्य वाङ्मय का प्राण हैं। वह भक्ति रस की मन्दाकिनी और उच्च गम्भीर विचारों का सुखद आवास हैं। वेद में ओज, तेज और वर्चस्व की राशि है। वेद ब्रह्मगवी का गान और रणाङ्गण का विहाग हैं। वेद में दिग्दिगन्त को पावन करने वाले उदात्त उपदेश हैं। वेद में मानवता के विद्रोहियों में हड़कम्प मचाने वाले अनुपम आदेश हैं। वेद अत्याचारियों-अनाचारियों को ध्वस्त-विध्वस्त करने वाला रणोन्मादी आर्यों का ब्रह्मास्त्र है। वेद मानव के समस्त उच्च गुणों की क्रीड़ा-स्थली है। वेद में आधिभौतिक उन्नति की चरमसीमा है, आधिदैविक अभ्युदय की पराकाष्ठा है और आध्यात्मिक उन्नयन का चूड़ान्त रूप है।" त्रिवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि गीता वेद के केवल दो मन्त्रों की टीका है जिसका सांस्कृतिक प्रभाव विश्व की अनेक भाषाओं और देशों में पड़ा है। "इससे स्पष्ट विदित होता है कि वेद-मन्त्रों के आधार पर ऐसी सैकड़ों गीताएँ बन सकती हैं। वैदिक वाङ्मय और संस्कृत वाङ्मय के अधिकारी विद्वान जानते ही हैं कि वेद-मन्त्रों के आधार पर गीता ही नहीं, सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र, अखिल पुराण, निखिल धर्मशास्त्र और समस्त संस्कृत साहित्य निर्मित हुए हैं। यह भी सब जानते हैं कि २४ अक्षरों वाले गायत्री-मन्त्र के आधार पर ही २४ हजार श्लोकों की बाल्मीकीय रामायण बनी है।"

वेदों का सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक महत्त्व निरूपित करते हुए विद्वद्वर डा० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है—"वेद हमारे राष्ट्र की अमूल्य शाश्वत निधि तो हैं ही; पर अपनी अद्वितीय उदात्त भावनाओं और अमूल्य जीवन-संदेश के कारण उनका सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व भी है। इसका गर्व और गौरव प्रत्येक भारतीय को होना चाहिए।"

अथर्ववेद में लिखा है—

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसेहुवे ॥ (६।१०८।२)

"ऋषियों द्वारा संस्तुत, ब्रह्मचारियों से सेवित, वैदिक मंत्रों को प्रकाश में लाने वाली, वेदमय प्रथम मेधा का हम आवाहन करते हैं जिससे समस्त दैवी शक्तियों का सान्निध्य और संरक्षण हमको मिल सके।" डा० मंगलदेव शास्त्री के शब्दों में "इसका अर्थ यही है कि वह दिव्य मेधा, जिसने ऋषियों द्वारा वैदिक धारा को प्रवाहित किया था, जिसने भारतीय संस्कृति के उषा काल में विश्व में व्याप्त उस मौलिक तत्त्व का साक्षात्कार किया था, जिसकी दिव्य विभूतियों का वैदिक देवताओं के रूप में मन्त्रों में गान किया गया है और जिसने मानो प्रकाशमय आनन्दमय लोकों से लाकर मानव-जीवन के लिए दिव्य संदेशों को श्रुति-मधुर पवित्र शब्दों में सुनाया था, भारतीय संस्कृति के अमृत-स्रोत के रूप में अब भी वैदिक मन्त्रों में सुरक्षित है।"

शुष्क आदर्शहीन याज्ञिक कर्म-काण्ड के रूप में वैदिक धारा का ह्रास हो जाने पर भी, वह स्वयं अजर और अमर है। हमारा परम कर्तव्य है कि हम परम-तीर्थ रूप उस अमृत-स्रोत तक पहुँचकर, उसमें अवगाहन कर, उसकी दिव्य पवित्रता और सजीवनी शक्ति का स्वयं अनुभव करें और भारतीय संस्कृति के लिए उसकी व्यापक देन की बेल का, जो उस अमृत-प्रवाह से विच्छिन्न होकर सूख रही है, उस अमृत-स्रोत से पुनः सम्बन्ध स्थापित कर, उसको फिर से उज्जीवित और हरा-भरा करें।

ब्राह्मण ग्रन्थ

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित रूप में वेद हैं। प्रयोगकाल में वेदपाठी जिसे 'मन्त्र' नाम देता है उसके अतिरिक्त सब ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण ब्रह्म के व्याख्यात्मक ग्रन्थ का नाम है। ब्रह्म शब्द का एक अर्थ मन्त्र है—ब्रह्मवैमन्त्रः—(शतपथ ब्राह्मण) इस प्रकार वैदिक संहिताओं के मन्त्र भाग का व्याख्यान करने के कारण ये 'ब्राह्मण' कहलाए। ब्रह्म शब्द का एक अर्थ यज्ञ भी है। अतः वेदों के कर्मकाण्ड (यज्ञीय-विज्ञान) की व्याख्या करना ब्राह्मण ग्रन्थों का कार्य है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों, कर्मों एवं विनियोगों की विस्तृत व्याख्या है। विंटरनिटज का मत है कि यज्ञीय कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में विशिष्ट आचार्यों के उच्चारण एवं व्याख्यानों के संग्रह का नाम ब्राह्मण है। उन्होंने इनको यज्ञ-विज्ञान का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थ कहा है।

कर्मकाण्डों की विभिन्नता के कारण उन पर प्रकट किये गये विचारों में विभिन्नता है। प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ऐसा उल्लेख मिलता है कि ११३० वैदिक संहिताओं के उतने ही ब्राह्मण ग्रन्थ थे किन्तु इस समय केवल १८ ब्राह्मण ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण ग्रन्थ 'ऐतरेय' और 'कौषीतकी' हैं। कृष्ण यजुर्वेद का 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', शुक्ल यजुर्वेद का 'शतपथ ब्राह्मण' है। सामवेद की तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं। कौथुमीय संहिता का ब्राह्मण 'पंचविंश' या 'ताण्ड्य' कहलाता है। सामवेद की कौथुमीय संहिता के दो ब्राह्मण जैमिनीय (आर्षेय) ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् (छान्दोग्य) ब्राह्मण हैं। अथर्ववेद संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम 'गोपथ-ब्राह्मण' है।

महत्व—ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-विज्ञान का व्याख्यान है। इनमें यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा है, अतः यज्ञ करने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है—

सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते यं एव विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।

यज्ञ करने से व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण होता है। यज्ञ में दी हुई हवि से देवगण प्रसन्न होते हैं और प्रजा का कल्याण करते हैं। यज्ञ करने से मनुष्य इहलौकिक सुख प्राप्त करता है, विपत्तियाँ दूर होती हैं और वह मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में सांसारिक क्रिया-कलापों के साथ ही

अध्यात्म-विषय का भी गम्भीर वर्णन है। उनमें सत्य की महिमा पर बड़ा बल दिया गया है। इन ग्रन्थों में आर्यजाति की समग्र संस्कृति के दर्शन मिलते हैं।

आरण्यक ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों के बाद आरण्यक ग्रन्थों का स्थान है। यदि ब्राह्मण संहिताओं के अन्तिम भाग हैं तो आरण्यक ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं। ब्राह्मणों में गृहस्थों के कर्मकाण्ड का वर्णन है तो आरण्यकों में वानप्रस्थों के कर्मकाण्ड का वर्णन है। सायण के अनुसार अरण्यों अर्थात् वनों में पढ़ाये जाने के कारण इनका नाम आरण्यक पड़ा—'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।' आरण्यकों में यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या का सुन्दर प्रतिपादन है। उनमें कर्म-मार्ग और ज्ञानमार्ग का सुन्दर समन्वय विवेच्य बना है।

मन्त्र संहिताओं की भाँति आरण्यक-ग्रन्थों की संख्या ११३० अनुमानित है किन्तु केवल आठ ही उपलब्ध हैं, जिनके नाम ये हैं ऐतरेय आरण्यक, शांखायन आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, बृहदारण्यक, माध्यन्दिन-बृहदारण्यक, काण्वबृहदारण्यक, जैमिनीयोपनिषदारण्यक और छांदोग्यारण्यक।

उपनिषद

उपनिषद ग्रन्थों में वेदों का ज्ञान काण्ड है। उप शब्द का अर्थ है समीप और निषद का अर्थ है अच्छी तरह बैठना। इस प्रकार इसके दो अर्थ होते हैं—जो ज्ञान गुरु के समीप अच्छी तरह बैठकर प्राप्त किया जाता है अथवा जो ज्ञान ब्रह्म के समीप पहुँचाकर बैठा देता है, वह उपनिषद ज्ञान कहलाता है। वैसे तो उपनिषदों की संख्या २२० है, किन्तु उनमें नीचे लिखे उपनिषद मुख्य हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वेतर और कोषीतकि। उपनिषदों की मुख्यता की कई कसौटियाँ हैं। उनमें से एक यह भी है कि जिन उपनिषदों पर श्री स्वामी शंकराचार्य ने अपना भाष्य लिखा है, वे मुख्य हैं।

उपनिषदों की महत्ता—उपनिषदों में वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया है। वे ब्रह्मविद्या के भण्डार हैं। श्रीमद्भगवद्गीता को भी उपनिषद कहकर उपनिषदों का महत्व बढ़ाया गया है। इनमें सब दर्शनों के बीज हैं और अद्वैतवाद का विशेष पोषण है। भारतीय संस्कृति का इनमें सच्चा स्वरूप आया है।

जीवात्मा का विश्वात्मा से (जीव और ब्रह्म) सम्बन्ध बतलाना तथा इन दोनों की एकता प्रतिपादित करना उपनिषदों का लक्ष्य है। पाप और पुण्य (यज्ञादि) दोनों ही बन्धनकारक हैं, ज्ञान ही ऐसा तत्त्व है जो आवागमन के चक्र से आत्मा को छुड़ाकर परमात्मा में लीन करता है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला ऋषि 'देवयान' नामक मार्ग से जाकर ब्रह्म से एकत्व को प्राप्त होता है और 'गमन प्रत्यागमन' से छूट जाता है।[1]

---

१. छान्दोग्य उपनिषद।

उपनिषदों को दाराशिकोह ने बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा था। उनका उसने फारसी में अनुवाद कराया। उस फारसी से फारासीसी तथा लेटिन भाषा में अनुवाद हुआ। जर्मन दार्शनिक शापनहॉर ने उपनिषदों को अपने जीवन और मरण दोनों का संतोषदायक माना है।[1]

विचार और उपदेश—ब्रह्म को ही सब वस्तुओं का आदि स्रोत माना गया है। उसी से सबका जन्म होता है, उसी में जीवित रहते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए—

यतो व इमानि भूतानि जायतं।
येन जातानि जीवंति यत्प्रयंति।
अभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति। (तैत्तिरीय उपनिषद ३।१)

वह ब्रह्म सबमें रहता हुआ भी संसार के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि सूर्य सब संसार की आँख है, किन्तु संसार की आँख के दोष उसको लिप्त नहीं करते हैं—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न,
लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः॥
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
न लिप्यते लोक-दुःखेन बाह्यः॥ (कठ २।२।११)

एक ही परमात्मा सब प्राणियों के भीतर छिपा है, सबमें व्याप्त है, सब जीवों की अन्तरात्मा है, जो कुछ कार्य सृष्टि में हो रहा है, उसका नियन्ता है। सब प्राणियों के अन्तर में स्थित है, सब संसार के कार्यों को साक्षी रूप में देखने वाला, चैतन्य, केवल, एक, अद्वितीय और निर्गुण है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ (श्वेताश्वेतर उपनिषद ६।११)

वह ब्रह्म एक होकर सबकी अन्तरात्मा है, सबमें एक रूप होकर भी सबमें अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वायु सब भुवनों में उन्हीं का रूप धारण कर लेता है; किन्तु सबसे बाहर भी रहता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सबमें व्याप्त रहकर भी सबसे परे है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो,
रूपं रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ (कठ २।२।१०)

---

1. "It has been the solace of my life and it will be the solace of my death."

यदि इस मनुष्य-शरीर में ही उस परमात्म-तत्व को जान लिया तो उत्तम है अन्यथा महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा का चिन्तन कर, परमात्मा को समझकर इस देह को छोड़ अमृत स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (केन० २।५)

इसीलिए श्रुति भगवती घोषणा करती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। (कठ १।३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त कर इस तत्व को जानो।'

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष,
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या,
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैव सेतुः ॥ (मुण्डक० २।२।५)

जिसमें द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणों के सहित मन ओत-प्रोत है, उस एक आत्मा को ही जानो, और सब बातों को छोड़ दो। यह अमृत (मोक्ष प्राप्ति) का सेतु (साधन) है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ (मुण्डक० ३।१।५)

यह आत्मा सदैव सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से ही प्राप्तव्य है। जिसे दोषहीन योगीजन देखते हैं। वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ (मुण्डक० ३।१।८)

यह आत्मा न तो नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्ध चित्त हो जाता है, तभी वह ध्यान करने पर उस निष्कल आत्मतत्व का साक्षात्कार करता है।

वेदान्त का पूरा-पूरा रूप इन तीन महावाक्यों में आ गया है—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'तत्वमसि' (तू वह है), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है)। ऐसी श्रुतियों की भी कमी नहीं है, जो द्वैतवाद का पोषण करती हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (मुण्डक० ३।१।१)

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी सखा और सहचर रूप से रहते हैं। उनमें एक फल को खाता है, दूसरा कुछ नहीं खाता, तटस्थ देखता रहता है। फल को खाने वाला जीव है, न खाने वाला ईश्वर है। उपनिषदों में सत्य की बड़ी महिमा गाई गई है।

'सत्यमेव जयते नानृतम्।' (मुण्डक० ३।१।६)

अर्थात् सत्य की ही जय होती है, झूठ की नहीं।

कर्म का उपदेश उपनिषदों में भी दिया गया है। कर्म करते रहकर ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीना चाहिए। इस प्रकार उसको कर्म लिप्त नहीं करेंगे।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः॥ (ईशावास्य० २)

उपनिषदों की सबसे बड़ी शिक्षा त्यागमय भोग की है। ईशावास्योपनिषद् कहता है कि सारा संसार और उसमें जो कुछ है, ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए त्याग के साथ भोग करो, किसी दूसरे के भाग के धन पर लालच मत करो। अपने भोग को सीमित रखने से दुनिया में सुख और शान्ति रह सकती है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यचिद्धनम्॥ (ईशावास्य० १)

स्नातक जब गुरू का घर छोड़ता था, उस समय के दीक्षांत उपदेश की झलक हमको उपनिषदों में मिलती है। उसमें 'भारतीय संस्कृति' के मूल तत्व निहित हैं।

"सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान् मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।" (तैत्तिरीय० १।११।२)

अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। कभी भी स्वाध्याय अर्थात् वेदादि के अध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन में आलस्य न करना चाहिए। सत्य को बोलने में असावधानी न करनी चाहिए। धर्म के पालन में अवहेलना न करनी चाहिए। देवों और पितरों के प्रति जो कर्तव्य हैं, उनसे कभी विरत न होना चाहिए। माता को देवता मानने वाले बनो। पिता को देवता मानो और आचार्य को देवता मानो, अतिथि को देवता समझो। जो अनिन्दनीय कार्य हैं, उन्हीं को करना चाहिए, दूसरों को नहीं।

उपनिषद शब्द का प्रयोग रहस्यात्मक ज्ञान या विद्या (विशेषतः आत्मपरक) के अर्थ में देखा जाता है। उपनिषदों की शैली अधिकतर गद्यात्मक और अंशतः पद्यात्मक है। उपनिषदों की मूल प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

१. आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति,
२. तात्विक ज्ञान की प्रवृत्ति,
३. श्रेयः और प्रेयः का विवेक,

४. मृत्यु, पुनर्जन्म और अमृतत्व-प्राप्ति का विचार,

५. वैराग्य और संन्यास की प्रवृत्ति ।

औपनिषद् धारा के विशिष्ट व्यक्ति ये हैं—श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य, नारद, सनत्कुमार, राजा जनक आदि, आचार्यकुल, परिषदें एवं राजसभाएँ । उपनिषद में आचार्य का स्वरूप इन शीर्षकों से स्पष्ट हो जावेगा[1] —

(i) शिष्यों के प्रति सस्नेह सम्मान ।

(ii) आचार्य की नम्रता और सत्यवादिता ।

(iii) सत्यान्वेषण और जिज्ञासा की प्रवृत्ति ।

(iv) स्वाध्याय तथा प्रवचन का मुख्य कर्तव्य ।

(v) अकामहत श्रोत्रिय का महत्तम आदर्श ।

गुरु-शिष्य के मध्य संवाद शैली में उपनिषदों में समस्त तत्त्व चर्चा हुई है । प्रायः अधिकारी की परीक्षा करके ही तत्त्व ज्ञान कराने की परिपाटी का पालन हुआ है । साधक की परीक्षा के लिए दो ही प्रधान शास्त्र होते हैं—एक भय और दूसरा लोभ । जो इन दोनों से नहीं डिगता, वह अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद भारतीय ज्ञान और सदाचार के भण्डार हैं । वे हमारी संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं ।

वेदाङ्ग साहित्य

वेदाङ्ग शब्द का अर्थ है वेद का अङ्ग । ये छः माने गये हैं । इनके नाम मण्डूकोपनिषद् में इस क्रम से वर्णित हैं—शिक्षा, छन्दस्, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष ।

वेद साहित्य के अध्ययन, उनका उचित अर्थ समझने में तथा यज्ञादि क्रियाओं के समय उनका ठीक विनियोग करने के लिए वेदांग साहित्य का उदय हुआ । वेदाङ्ग ग्रन्थों के स्वाध्याय के बिना वेद का ज्ञान कठिन है । इन ग्रन्थों के द्वारा वेद के स्वरूप एवं अर्थ का संरक्षण करने का प्रयत्न किया गया । वेदांग साहित्य ब्राह्मण काल के अनन्तर आने वाले सूत्रकाल में निर्मित हुआ । इनमें हमें सूत्र शैली का चमत्कार देखने को मिलता है । वस्तुतः यज्ञीय विधान का इतना विस्तार हो गया था कि उसे स्मरण रखना कठिन था, अतः सूत्र शैली में रचे हुए ग्रन्थों की आवश्यकता हुई । सूत्र शैली के द्वारा अल्प अक्षरों में विपुल अर्थ छिपा रहता है जो स्मरण रखने में अत्यन्त सुलभ है । विन्टरनिट्ज का मत है कि वेदांगों का आरम्भ ब्राह्मण और आरण्यकों में ही उपलब्ध होता है । कालान्तर में इनका व्यवस्थित अध्ययन होने लगा और वैदिक शाखाओं में ही इनकी पृथक् शाखाएँ हुईं । तब

१. विशेष अध्ययन के लिए डा० मंगलदेव शास्त्री का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति का विकास' (द्वितीय खण्ड) औपनिषद् धारा द्रष्टव्य है ।

इनके सूत्र ग्रन्थ बने। 'पाणिनीय शिक्षा' में वेदांगों का कार्यानुरूप वर्णन वेद को एक पुरुष रूप में वर्णित करके किया है—

> छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौकल्पोऽथ पठ्यते।
> ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
> शिक्षा घ्राणंतु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
> तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।४१-४२।

'वेद-पुरुष के दोनों चरण छन्द हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष आंख है, निरुक्त श्रोत्र हैं, शिक्षा घ्राण है, व्याकरण मुख है। इसलिए वेद का सांग अध्ययन करके ही मनुष्य प्रतिष्ठा पाता है।

शिक्षा—इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है वह शास्त्र जिसमें स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की व्यवस्था होती है—

> **स्वर वर्णाद्युच्चारण प्रकारोयत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा।**

तैत्तिरीय उपनिषद् में 'शिक्षा' का विवेचन करते हुए उसके छः अंगों का उल्लेख किया गया है—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान।

शिक्षा ग्रन्थों में प्रातिशाख्य ग्रन्थ प्रमुख हैं। वैदिक साहित्य बड़ा विशाल था। वैदिक संहिताओं की ११३० शाखाएँ बताई जाती हैं। प्रत्येक शाखा की उच्चारण प्रणाली अपनी मौलिकताएँ और विशिष्टताएँ रखती थीं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में इन्हीं का वर्णन किया गया है। प्रातिशाख्यों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय पाँच हैं—

१. वर्ण साम्राज्य—स्वर व्यंजनों की गणना और उनके उच्चारण आदि के नियम।
२. सन्धि—अच, हल, विसर्ग आदि।
३. प्रगृह्य—अवग्रह योजना के नियम।
४. उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि की व्यवस्था।
५. संहिता पाठ को पद पाठादि में बदलते समय विचारणीय नियम।

आजकल केवल छः प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके नाम ये हैं—ऋक् प्रातिशाख्य, शुक्ल यजु प्रातिशाख्य, साम प्रातिशाख्य, अथर्व प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।

इनके अतिरिक्त बहुत से शिक्षा ग्रन्थ भी मिलते हैं। प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ पन्द्रह हैं—पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य, वाशिष्ठी, कात्यायनी, पराशरी, मांडव्य, अमोघनन्दिनि, केशवीय, मल्लशर्म, स्वरांकुश, षोडस श्लोकीय, अवसान निर्णय, स्वरभक्ति लक्षण, नारदीय शिक्षा तथा माण्डूक्य शिक्षा।

शिक्षा के वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान के समुचित निर्वाह से ही वेद पाठ शुद्ध हो जाता है।

छन्द—छन्द नामक वेदाङ्ग वेद पुरुष के चरण हैं 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'। वेद के मन्त्र छन्दोबद्ध हैं, अतः छन्द का ज्ञान प्राप्त किये बिना उनका ठीक उच्चारण नहीं किया जा सकता। सर्वानुक्रमणी में छन्द की परिभाषा इस प्रकार दी है—यदक्षरं परिमाणं तच्छन्दः अर्थात् अक्षरों की गणना-विचार को छन्द कहते हैं। छन्द की व्युत्पत्ति 'छन्द्' धातु से बताई जाती है। छन्द वास्तव में वेदों के ढकने वाले साधन हैं। सामवेद का निदान सूत्र केवल छन्द्र के अक्षरों की मीमांसा ही नहीं करता वरन् उसमें सामवेद के उक्थ, स्तोम तथा ज्ञान की विवेचना करता है जिससे इसका महत्त्व व्याकरण की दृष्टि से बढ़ गया है। वेबर ने इसे पतंजलि द्वारा रचित माना है। पिंगल कृत 'छन्द सूत्र' को ऋग्वेद और यजुर्वेद का छन्द नामक वेदाङ्ग माना जाता है किन्तु इसमें लौकिक छन्दों का विवेचन देखकर इसे परवर्ती काल की रचना माना जाता है। शौनक रचित 'ऋक् प्रातिशाख्य' में वैदिक छन्दों का पर्याप्त विवेचन मिलता है। यह ऋग्वेद का व्याकरण है किन्तु वेद मन्त्रों का ठीक से उच्चारण करने हेतु छन्द का ज्ञान अनिवार्य समझकर रचयिता ने छन्दों का विवरण देना भी उचित समझा। कात्यायन द्वारा रचित दो अनुक्रमणियों में भी कुछ अंश छन्द चर्चा का है।

व्याकरण—व्याकरण की व्युत्पत्ति है 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्' अर्थात् जिसके द्वारा सुबन्त तिङन्त पदों की व्याख्या की जाती है, उसे व्याकरण कहते हैं। इसे वेद पुरुष का मुख कहा गया है—'मुखं व्याकरणं स्मृतम्। इस अंग का लक्ष्य वेद की रक्षा करना और उसकी भाषा को अपने मूल रूप में सुरक्षित रखना है। ऋक्संहिता में व्याकरण का वर्णन देवता का रूपक बाँधकर किया गया है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो।
अस्य त्रिधा बद्धो वृषभोरोखीति महादेवो मर्त्यां आविवेश॥

(ऋग्वेद ४।५८।६)

"व्याकरण रूपी वृषभ के नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात नामक चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल ही तीन पाद हैं और सुप और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ ही सात हाथ हैं। यह उर, कण्ठ और शिर इन तीनों स्थानों में बाँधा गया है। यह देव महान् है जो मनुष्यों में प्रवेश किये हुए है।"

वैदिक व्याकरण ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के पूर्व पूर्ण विकसित रूप में वर्तमान था। इसका प्रमाण गोपथ ब्राह्मण के (१–२४) वे प्रश्न हैं जिनमें लिङ्ग, विभक्ति, प्रत्यय, सर्गनिपात, विकार, मात्रा, पद, संयोग आदि के सम्बन्ध में पूछा गया है। व्याकरण की यह प्राचीन परम्परा महर्षि शाकटायन के अनुसार ब्रह्मा से चली। उन्होंने इसका कथन बृहस्पति से किया। बृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भरद्वाज से, भरद्वाज ने ऋषियों से, ऋषियों ने ब्राह्मणों से कथन किया। व्याकरण के सूत्रों के

निर्माणकर्त्ता भी महेश्वर कहे जाते हैं। परवर्ती लौकिक कवियों ने वेदों की भाँति 'दृष्ट' मन्त्रों की अभिव्यक्ति नहीं की वरन् व्याकरण आदि के नियमों का अध्ययन करके तथा अलंकारशास्त्र आदि में वर्णित नियमों के अनुरूप अपनी रचनाएँ कीं।

वेदों के लिए जैसा 'शिक्षा' का महत्त्व था, वैसा ही व्याकरण का भी, क्योंकि अर्थ लगाने और शुद्ध पाठ दोनों के लिए उनकी जानकारी आवश्यक थी। वेदों की एक-एक शाखा के व्याकरण को प्रातिशाख्य ग्रन्थ कहते हैं क्योंकि उनका वेद की प्रतिशाखा से सम्बन्ध था। पाणिनि से पूर्व प्रमुख वैय्याकरणों के नाम ये हैं—इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करादि, चारायण, काशकृत्स्न, व्याघ्रपद्म, माध्यन्दिनि, रोदि, शौनक, गौतम और व्याडि। प्राचीन वैय्याकरण सम्प्रदायों में सबसे विशेष उल्लेखनीय ऐन्द्र सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय का व्याकरण आज अनुपलब्ध है। कुछ विद्वान् कातन्त्र व्याकरण को ही ऐन्द्रतन्त्र मानते हैं, किन्तु यह भ्रम है।

निरुक्त—वेदों के लिए पृथक् कोष भी बने। ये निघण्टु नाम से प्रसिद्ध हुए। निघण्टु शब्द वैदिक कोष के अर्थ में रूढ़ है। यह संग्रह वेदों का निगमन या बोध कराता है, इसलिए इसका नाम निघण्टु पड़ा। लेकिन शब्दों का अर्थ जानना ही पर्याप्त न था, उनकी व्युत्पत्ति और भाषा-विकास के नियम जानना भी अपेक्षित था। निरुक्त द्वारा इस कमी की पूर्ति की गई। प्राचीनकाल में ऐसे बहुत से ग्रन्थ रहे होंगे, जिनमें वैदिक शब्दों की व्याख्या रही होगी किन्तु सम्प्रति हमें 'निरुक्त वर्ग' का केवल यास्क मुनि (८०० ई० पू०) रचित ग्रन्थ ही प्राप्त है।

निरुक्त निघण्टु की व्याख्या है। सायण के शब्दों में "अर्थ की जानकारी के लिए पदों का स्वतन्त्र संग्रह निरुक्त है।"[1]

दुर्गाचार्य (छठी शती) निरुक्त के प्राचीनतम टीकाकार हैं। इन्होंने १४ निरुक्त बताये हैं—**निरुक्तं चतुर्दशं प्रभेदं**। यास्क ने अपने से पूर्व बारह निरुक्तकारों का नामोल्लेख किया है। इन बारह में शाकपूणि सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उनके मत के उद्धरण बहुत मिलते हैं। यास्क के निरुक्त में शाकपूणि से भिन्न विचार मिलते हैं।

निरुक्त के विवेच्य के सम्बन्ध में यह कारिका प्रसिद्ध है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

निरुक्त के पाँच कार्य हैं—वर्णागम, वर्ण विपर्यय, वर्ण विकार, वर्णनाश और धात्वर्थ सम्बन्ध। ये पाँचों कार्य व्याकरण द्वारा भी सम्पन्न होते हैं, अतः निरुक्त को व्याकरण कहा जाता है। प्रातिशाख्यों में वैदिक व्याकरण की त्रुटियों के निवारणार्थ निरुक्तों की रचना हुई है। वस्तुतः निरुक्त का विषय व्याकरण से भी व्यापक है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं 'निरुक्त' निघण्टु की व्याख्या है। निघण्टु निरुक्त से भिन्न है किन्तु दोनों के साथ-साथ रहने के कारण सायण ने निघण्टु को

---

१. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तत् निरुक्तम्।

ही निरुक्त कहा है, और लाक्षणिक रूप से उसकी व्याख्या को भी निरुक्त कहा है। यास्क के निरुक्त में बारह अध्याय हैं।

निघण्टु भारत का प्रथम उपलब्ध शब्दकोश है। निघण्टु वैदिक शब्दों का पूर्ण-कोश नहीं, इसमें किसी भी वेद के सारे शब्द गिनाये नहीं गये, तथापि कोश-रचना के तात्कालिक सिद्धान्त को देखने पर उसे पूर्ण ही कहना पड़ेगा। निघण्टु पाँच अध्यायों में बँटा है। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक-काण्ड कहलाते हैं और इनके शब्दों की व्याख्या यास्क ने द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में की है। निघण्टु के इन अध्यायों में कुल १३४१ शब्द परिगणित हैं, जिनमें केवल २३० शब्दों की ही व्याख्या यास्क ने इन अध्यायों में की है। इन १३४१ शब्दों में पर्यायवाची शब्द संगृहीत हैं, जैसे—पृथिवी के २१ पर्याय-शब्द, ११ 'जलना' अर्थ वाली क्रियाएँ, १२ 'बहुत' के पर्याय आदि। इसकी रचना ठीक अमर-कोश की शैली में ही हुई है। कुछ शब्द ऐसे हैं जो निघण्टु में जिस अर्थ में गिनाये गये हैं, वेदों में उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में तीन खण्ड हैं जिनमें क्रमशः ६२, ८४ तथा १३२ पद अर्थात् कुल २७८ पद हैं। ये किसी के पर्याय नहीं, सभी शब्द स्वतन्त्र हैं। इस अध्याय को नैगम या ऐकपदिक काण्ड भी कहते हैं। इस काण्ड के शब्द प्रायः सन्दिग्ध और कठिन हैं। चतुर्थ अध्याय के तीनों खण्डों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में की है। निघण्टु का पंचम या अन्तिम अध्याय दैवत-काण्ड छः खण्डों वाला है, जिसके पद भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम हैं। ये भी पर्याय नहीं, स्वतन्त्र हैं, किन्तु इनमें विशेषता यही है कि इन नामों के द्वारा देवताओं की स्तुति प्रधानतया की जाती है। इन खण्डों के शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक की है। एक-एक खण्ड की व्याख्या एक-एक अध्याय में हुई है। यास्क ने देवताओं के विषय में पूर्ण प्रकाश डाला है।

यास्क ने निरुक्त में निघण्टु के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की है। उन्होंने निरुक्त में केवल निघण्टु के शब्दों का ही निर्वचन नहीं किया, वरन् प्रसंगतः आये कितने ही अन्य शब्दों का भी निर्वचन किया है जिनमें बहुत से लौकिक संस्कृत के शब्द हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य की शैली निरुक्त की शैली से बहुत कुछ मिलती है। निघण्टु एक जातिवाचक शब्द है। ऐसे ही कई निघण्टु थे, जिन पर भाष्य लिखे गये होंगे, किन्तु यास्क के सामने एक ही निघण्टु था, जिस पर दूसरों के भी भाष्य रहे हों। उनकी अशुद्धियाँ देखकर उन्होंने अपना अभिनव निरुक्त लिखा, जो हमें सम्प्रति उपलब्ध होता है।

शिक्षा, व्याकरण (प्रातिशाख्य सहित) और निरुक्त, इन तीनों शास्त्रों में आधुनिक भाषा-विज्ञान के बहुत से जटिल नियम आ जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राचीन भारतीय वैय्याकरणों ने भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में योरोपीय विद्वानों से बहुत पूर्व ही अत्यन्त ठोस कार्य किया था।

कल्पसूत्र—सूत्र शब्द का अर्थ 'डोरा' अथवा संक्षिप्त नियम अथवा थोड़े से शब्दों में गुंथा हुआ सिद्धान्त है। सूत्र साहित्य भारतीय साहित्य का एक विलक्षण एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। पतञ्जलि का कथन है कि सूत्र के रचयिता एक अर्द्ध संक्षिप्त स्वर को बचाने पर उतने ही प्रसन्न होते हैं जितना एक पुत्र की उत्पत्ति पर—मात्रा-लाघवेनापि पुत्रोत्सवं मनन्यन्ते वैय्याकरणः। वस्तुतः इस विलक्षण सूत्र शैली का जन्म ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्यांशों से हुआ। ब्राह्मण के गद्य में अत्यन्त संक्षिप्त वाक्यों का प्रयोग है।

कल्प उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें वेद में निहित कर्मों की क्रम पूर्वक व्यवस्थित कल्पना या विवेचना की जाती है—

कल्पो वेद विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-याज्ञादि का वर्णन इतना अधिक किया गया कि उनकी श्रृङ्खला एवं व्यवस्था बनाये रखना कठिन हो गया। उनका व्यवस्थित विधान और सामञ्जस्य बनाये रखने के लिए सूत्र शैली में कल्प-साहित्य का सृजन किया गया। कल्प-सूत्र भी चार कोटि के हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र।

श्रौतसूत्रों में ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित श्रौत अग्नियों, दक्षिण, आह्वनीय एवं गार्हपत्य में सम्पद्यमान यज्ञ-याज्ञादि के विधान का अनुष्ठान किया गया है। इनमें वैदिक यज्ञों जैसे दर्शपूर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय आदि का विधि-विधान वर्णित है। चारों वेदों के श्रौतसूत्र ग्रन्थ पृथक्-पृथक् हैं। श्रौतसूत्रों में वर्णित १४ यज्ञों में सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञ हैं। हवि से सम्पन्न होने वाले सात हविर्यज्ञ ये हैं—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ़-पशुबन्ध तथा सौत्रामणि। सोमरस की प्रधानता वाले सात सोमयज्ञ ये हैं—अग्निष्टोम, अत्त्य-ग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्यामि।

गृह्यसूत्रों में जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त संस्कारों, कर्तव्यों एवं अनु-ष्ठानों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक वेद के गृह्यसूत्र पृथक्-पृथक् हैं। वैदिक विवाह पद्धति का निरूपण गृह्यसूत्रों में विधि-विधान सहित हुआ है।

धर्मसूत्रों में चारों वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्य निर्दिष्ट हैं। मनु आदि की स्मृतियों के मूल स्रोत धर्मसूत्र ही हैं तथा हिन्दू विधि इन्हीं पर निर्भर है। चारों वेदों के धर्मसूत्र पृथक् हैं।

शुल्वसूत्रों में यज्ञवेदी आदि का विधान है। शुल्व उस डोरे को कहते हैं, जिससे वेदी आदि नापी जाती है। ये शुल्वसूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, जिस ज्यामिति सिद्धान्त के आविष्कार करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान् यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथागोरस को देते हैं, उसकी स्थापना इन शुल्वसूत्रों में उससे सैकड़ों वर्ष पहले ही यहाँ हो चुकी थी। ऋग्वेद का शुल्व सूत्र उपलब्ध नहीं है। कृष्णयजुर्वेद के बौधायन और आपस्तम्ब दो शुल्वसूत्र हैं; शुक्ल-

यजुर्वेद का कात्यायन शुल्वसूत्र है। सामवेद और अथर्ववेद के कोई भी शुल्वसूत्र उपलब्ध नहीं हैं।

ज्योतिष—मण्डूकोपनिषद् में दिए हुए क्रम से यह अन्तिम वेदाङ्ग है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक लघु पद्यात्मक रचना के दो भाग हैं। प्रथम भाग याजुष ज्योतिष ४३ पद्य का है; द्वितीय भाग ऋग्वेद का 'आर्च ज्योतिष' ३६ श्लोक का है। इन दोनों भागों में बहुत से श्लोक समान हैं। इसका रचयिता कुछ विद्वान् 'लगध' नामक व्यक्ति को मानते हैं। इस ग्रन्थ पर, सोमाकर की प्राचीन टीका तथा सुधाकर द्विवेदी का 'सुधाकर' भाष्य प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ में इसका प्रयोजन भी वर्णित है। वह इस प्रकार है—

वेदा हि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ता, कालानिपूर्वा विहिताश्च-यज्ञाः।
तस्मादिदं काल-विधान-शास्त्री, यो ज्योतिषं वेदस वेद यज्ञम्॥

अर्थात् 'वेदों के याज्ञिक विधान में नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर, काल आदि सभी का विचार पाया जाता है, अतः इन नियमों की पूर्ति के लिए ज्योतिष शास्त्र की आवश्यकता हुई।

वेदाङ्ग ज्योतिष में वर्ष का प्रारम्भ माघ मास से है, पाँच वर्ष का युग माना गया है। इन वर्षों को सम्वत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर कहते हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष में वर्ष की गणना २७ नक्षत्रों के आधार पर की जाती है, बारह राशियों के आधार पर नहीं।

ऋग्वेद काल में ही आर्यों ने सूर्य के रथ की गति, मलमास, सूर्य-ग्रहण आदि को भलीभाँति समझ लिया था। उन्हें नक्षत्रों का भी ज्ञान था।

ज्योतिष को वेद पुरुष का चक्षु कहा गया है। 'गणितं मूर्धनि स्थितं' लिखकर वैदिक अध्ययन में ज्योतिष का महत्त्व व्यंजित किया गया है। ज्योतिष का ही एक अंग गणित है, जिसे पूर्वकाल में बहुत ही समृद्ध किया गया था।

वेदाङ्ग साहित्य का महत्व

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में वेदों के सहारे भाषा एवं सामाजिक जीवन का पूरा-पूरा अध्ययन हो गया था और उसी के साथ आर्य-जीवन के धार्मिक कृत्य, आचार और व्यवहार का भी विधिवत् विवेचन विस्तार के साथ वेदाङ्ग साहित्य में उपलब्ध होता है। अतः वेदाङ्ग साहित्य का संस्कृत भाषा और साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

२ | वैदिक विचारधारा

वैदिक देवता

वैदिक साहित्य में हमें जिन देवताओं की पूजा-अर्चना एवं स्तुतियाँ मिलती हैं, उनके सम्बन्ध में विद्वानों की मान्यता है कि वे प्राकृतिक तत्वों में निहित शक्तियों के प्रतीक हैं। "वैदिक युग के ऋषिगण इस विश्व में नाना प्राकृतिक शोभाओं को देखकर प्रभावित हो जाते थे और उनमें नैसर्गिक शक्तियों का अनुभव कर वे विस्मय से भर जाते थे। अपनी तीव्र कल्पना के बल से वे इन नैसर्गिक शक्तियों में देवताओं की उपलब्धि कर उन देवताओं को समग्र ब्रह्माण्ड या उसके अंश विशेष का अधिष्ठाता समझते थे। वे उन देवताओं के निकट अन्न, पुत्र, धन, सौभाग्य इत्यादि सम्पदाएँ माँगते थे और विपद से रक्षा तथा शत्रुओं पर विजय की प्रार्थना करते थे। उनके मन में देवताओं के विषय में नये-नये भावों का उदय होता था और वे इन भावों को सुन्दर भाषा में गूँथकर व्यक्त करते थे। जिन पवित्र वाक्यों के द्वारा वे देवताओं की आराधना वा मनन करते थे, उन्हें मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र-समूह का नाम है वेद।"[1]

अग्नि देवता बहुत लोकप्रिय हुए। वे सूर्य में रहकर आलोक तथा ताप देते हैं, अन्तरिक्ष में रहकर मेघ, वर्षा एवं बिजली और पृथ्वी पर जीवों की प्राणरक्षा। यज्ञ की प्रथा भी अग्नि के आविष्कार के बाद चली, अतः अग्नि को यज्ञ का पुरोहित कहा है। यज्ञीय अग्नि देवता और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ है।

वस्तुतः प्राकृतिक शक्तियों में देव-भावना की प्रतिष्ठा करके आर्यों ने प्रकृति से प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया और मानवीय प्रेम बढ़ाया। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के दिव्य प्रकाश का, अपूर्व दृश्य का वर्णन उसमें देवता-देवी की प्रतिष्ठा करके किया। यह प्राकृतिक सौन्दर्य स्वयं में आनन्द और प्रेम का स्रोत है।

मनुष्य जब आँख खोलता है तो अपने को प्राकृतिक सुषमा के मध्य पाता है। प्रातःकाल प्राची दिशा में उदित होने वाला अग्निपुञ्जमय सूर्य बिम्ब तथा रात्रि में रजत रश्मियों से जन जीवन को शीतल करने वाला अमृत-सिन्धु सुधाकर मनुष्य के लिए विस्मयजनक ही है। वैदिक काल के हमारे पूर्वज आर्यों ने प्रकृति की

---

१. नलिनीमोहन सान्याल : पुराणसाहित्य की उत्पत्ति।

विभिन्न लीलाओं को सुगमतापूर्वक समझने-समझाने के लिए इनके नियन्त्रणकर्ता, अधिष्ठाता देवी-देवताओं की कल्पना की। इस प्रकार उन्होंने विश्व को विभिन्न देवताओं का क्रीड़ा-स्थल माना। उनका यह निश्चित विश्वास था कि इन्हीं देवताओं की कृपा से समस्त विश्व का कार्य संचालित होता है एवं प्राकृतिक घटनायें उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होती हैं, अतः वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति में मन्त्र कहे, उन्हें प्रसन्न कर अपने जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न किया। पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक देवताओं को भौतिक जगत के, प्राकृतिक दृश्यों के अधिष्ठाता के रूप में माना है। उन्होंने वैदिक देवताओं का स्वरूप अत्यन्त भौतिक बना दिया है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि पहले ऋग्वैदिक आर्य बहुत से देवताओं को मानते थे, वह बहुदेववाद (Polytheist) थे, किन्तु धीरे-धीरे उनका मानसिक विकास हुआ और वे एकेश्वरवादी (Monotheist) बने। इसके भी बहुत समय बाद वे सर्वेश्वरवादी (Pantheist) बने।[1]

पाश्चात्य विद्वानों का यह विवेचन अत्यन्त स्थूल है। वैदिक देवताओं की कोई न कोई प्राकृतिक शक्ति एवं रूप दिखलाई पड़ता है फिर भी उनका स्वरूप इतना भौतिक न था जितना उन्होंने प्रदर्शित किया है। वस्तुतः उनका यह मत भारतीय भावना को एवं वैदिक तत्व को गंभीरतापूर्वक न समझने के कारण ही है। ऋग्वेद में ही एक महिमाशालिनी जगत की मूल शक्ति का वर्णन है। उसी एक शक्ति की बहुत रूपों में स्तुति की गई है। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए 'सत्य', 'ध्रुव', 'नित्य' शब्द प्रयुक्त हैं। उनका महद् सामर्थ्य एक ही है—

महद्देवानाम सुरत्वमेकम्

एक ही महिमाशालिनी शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र न होकर एक ही शक्ति का अंशरूप है। वह महद् शक्ति विराट या परमात्मा है।

यजुर्वेद में कहा गया है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (३२।१)

अर्थात् अग्नि, आदित्य, वायु, प्रजापति आदि देवता वास्तव में एक ही मूलतत्त्व की विभूतियाँ हैं।

जिसका महान यश हिरण्यगर्भ आदि अनेक वैदिक ऋचाओं में गाया गया है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है। (३२।२)

जिससे पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, जो समस्त लोकों में व्याप्त है, वह प्रजापति अपनी सृष्टि में रमण करता हुआ तीन ज्योतियों (अग्नि, सूर्य, विद्युत) तथा सोलह कला से युक्त (चन्द्रमा) को धारण करने वाला है। (३२।५)

१. मैक्डॉनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ११६–१३८।

जिसने यह उग्र द्युलोक, दृढ़ पृथिवी, स्वर्लोक और मोक्ष को धारण कर रखा है, जो अन्तरिक्ष लोक में समस्त लोकों का बनाने वाला है उस परमात्मा की हम भक्ति से स्तुति करें। (३२।६)

इस सृष्टि में जो कुछ भी गतिशील है वह सब ईश परमात्मा से व्याप्त है। (४०।१)

यद्यपि वेदों में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवता आते हैं, तथापि उनका एक ही व्यापक परमात्मा में एकीकरण हो गया था—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" (ऋग्वेद १।१६।४।४६)। इसके अतिरिक्त इनकी प्रशंसा में जो विशेषण दिये जाते हैं, वे परमात्मा के द्योतक हैं। इन्द्र, वरुण आदि परमात्मा के ही वाचक शब्द हैं। कवि लोग एक ही परमात्मा को बहुत से रूपों में कल्पना करते हैं—'कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयंति।' इन देवताओं के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ हैं। आधिभौतिक अर्थ में ये प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, आधिदैविक अर्थ में उन शक्तियों के अभिमानी अथवा उनमें प्रतिष्ठित देवता हैं, (सनातनधर्मी इस अर्थ को भी मानते हैं), और आध्यात्मिक अर्थ में ये सब परमात्मा के ही रूप हैं। इसलिए हम वैदिक आर्यों को बहुदेववादी नहीं कह सकते हैं। उसी परमात्मा के विराट रूप का वर्णन पुरुष-सूक्त में आया है। उसमें उसे सहस्रशीर्षा कहा है। लक्षणा से सहस्र का अर्थ अनेकों है। उसी से सब कुछ हुआ है। सारा ब्रह्माण्ड उसके चौथाई भाग से निर्मित है। कहने का अर्थ यह है कि भगवान विश्व में व्याप्त हैं और उससे बाहर भी हैं। एक चौथाई संसार में, बाकी के अविनाशी तीन पाद दिव्य लोक में हैं—

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'

और देखिए—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि—ब्राह्मण उसके मुख हैं। बाहें उसकी क्षत्रिय हैं। वैश्य उसकी जंघाएँ हैं। शूद्र उसके पैरों से हुए।

वैदिक देवताओं के विषय में मीमांसकों और पौराणिकों में मतभेद है। मीमांसक मन्त्रात्मिका देवता मानते हैं किन्तु पौराणिक दिव्य एवं सगुण रूप में देवताओं का स्वरूप विवेचन करते हैं। वेदों में देवताओं की संख्या सीमित है। वे तेंतीस हैं—१२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, २ अश्विनी। पुराणों के अनुसार देवताओं की संख्या बहुत विस्तृत है।

वैदिक देवताओं में इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, वायु, आदित्य, वसु, बृहस्पति, पूषन्, अश्विनी, दक्ष, सविता, मरुत्, रुद्र, उषा, आप, पर्जन्य, सरस्वती आदि प्रमुख हैं।

यज्ञ

मन्त्रों और यज्ञों में देवताओं को प्रसन्न करने की शक्ति मानी जाती है। यज्ञ को ही विष्णु और प्रजापति कहा है। उसको श्रेष्ठ कर्म बतलाया गया है।

वैदिक यज्ञ हिंसात्मक होते थे या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। भाष्यकारों ने यज्ञों के दोनों प्रकार के अर्थ लगाये हैं। ऐसा भी सम्भव है कि शब्दों की द्वयर्थकता के कारण कुछ लोगों ने यज्ञों में मांस का व्यवहार आरम्भ कर दिया हो, किन्तु इसके विरुद्ध सांख्यादि दर्शनों में प्रारम्भ से ही प्रतिक्रिया मिलती है। कुछ लोग यज्ञादि में मांस खाने को परिसंख्या विधि से मानते हैं। यज्ञ में मांस का विधान बताकर मनुष्य केवल यज्ञ में ही खाएगा, अन्यत्र नहीं खाएगा, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। एक बार धार्मिक कृत्य में भी चाट पड़ जाने पर लोग बिना धार्मिक अवसर पर भी खाने लग जाते हैं। वेदाज्ञा का तो बहाना हो जाता है। मनुस्मृति में ठीक ही कहा है कि संसार में मैथुन, मद्य और मांस सेवन में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।[1] उसमें वेद की आज्ञा नहीं होती है। (कहने का तात्पर्य यह है कि जिस चीज में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसमें आज्ञा देने की आवश्यकता ही क्या ?) अतः आज्ञा को आज्ञा न समझना चाहिए। कहीं-कहीं विवाह-यज्ञ आदि में इसके लिए जो गुञ्जायश दे दी जाती है, वह उच्छृङ्खलता को रोकने के लिए ही दी जाती है। वास्तव में निवृत्ति ही अभीष्ट है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्रचोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥
(श्रीमद्भागवत् ११।५।११)

यज्ञ का वाच्यार्थ है, स्वार्थ छोड़कर पूजन करना। पीछे से इसी अर्थ में यह शब्द व्यवहृत होने लगा किन्तु, पहले यज्ञ अग्नि में वेदमन्त्रों के साथ हवि डालने को ही कहते थे। प्रत्येक गृहस्थ घर में अग्नि रखता था और वह कभी बुझने नहीं दी जाती थी। अन्तिम संस्कार में उसी अग्नि का व्यवहार होता था। आजकल भी मृतक-संस्कार के लिए घर से ही एक हँडिया में आग ले जाते हैं। वह उसी न बुझने वाली गार्हपत्य अग्नि की द्योतक है। यज्ञों में आने वाले मन्त्रों तथा अन्य मन्त्रों में आई हुई जो प्रार्थनाएँ हैं वे उच्चकोटि की हैं। उनमें शत्रुओं से संघर्ष की बात अवश्य है, किन्तु ये प्रार्थनाएँ निर्विवाद रूप से यह नहीं सिद्ध करती हैं कि आर्य लोग बाहर से ही आये हैं। देश के भीतर दुष्ट और दस्यु पैदा हो सकते हैं। मनु महाराज ने लिखा है कि क्षत्रियों आदि में क्रियाओं का लोप होने से, अध्ययन-अध्यापन के लिए ब्राह्मणों के दर्शन के लोप होने से धीरे-धीरे वे शूद्र या वृषल संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं। कम्बोज, द्रविड़ आदि इसी तरह से दस्यु कहलाए—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविड़ाः कम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पलिवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

---

१. न मांस भक्षणे दोषः न च मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेष भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ —मनुस्मृति

मुखबाहूरूपजानां या लोके जातयोबहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥

(मनुः १०।४३-४५)

इस प्रकार प्राचीन भारतीय मत से द्रविड़ आदि कहीं बाहर के नहीं थे और न शक और दरद लोग बाहर के थे। ये लोग चाहे आर्य भाषा बोलते हों और चाहे म्लेच्छ भाषा, सब बिगड़े हुए आर्य थे और दस्यु कहलाते थे।

राजसूय यज्ञ—यह यज्ञ राजन्य वर्ग ही कर सकता था। शुक्ल यजुर्वेद संहिता[1], मैत्रायणी संहिता[2], शतपथ ब्राह्मण[3] तथा कात्यायन श्रौतसूत्र[4] आदि में इस यज्ञ का वर्णन मिलता है। इस यज्ञ को करने पर राजा को 'महाराज' की उपाधि मिलती थी और राजा की सेना दिग्वजय करके जिन राजाओं को पराजित करती थी, वे भेंट लेकर उपस्थित होते थे। यह यज्ञ माघ शुक्ल पूर्णिमा के बाद फागुन शुक्ल १ को प्रारम्भ करने का विधान था। इस यज्ञ से पूर्व सोमयाग सम्पन्न होता था जिसमें एक पखवाड़ा लगता था। इसके बाद फागुन पूर्णिमा से चातुर्मास यज्ञ प्रारम्भ होते थे जो एक वर्ष में पूर्ण होते थे। तदुपरान्त 'पंचवातीय' यज्ञ और फिर 'रत्नहोम' होता था। तदुपरान्त अठारह तीर्थजलों से राजा का अभिषेक सम्पन्न होता था, वह शस्त्र धारणकर रथारूढ़ हो भ्रमण करता, अन्य राजा उसकी सेवा करते। फिर उसे सिंहासन पर आसीन करके महाराज होने की घोषणा होती और राजा कुछ प्रतिज्ञाएं करके नियम धारण करता था। यज्ञ के सम्पूर्ण होने में एक वर्ष से अधिक का समय लगता था। इस बीच राजा न बाल बनवाता न जूता उतारता था।

अश्वमेध यज्ञ—इस यज्ञ को केवल सम्राट या चक्रवर्ती राजा करते थे। इस यज्ञ को करने के दो विधान प्रचलित थे—एक अश्व छोड़ना दूसरा यजमान का यशोगान। घोड़ा वेगवान, अगला भाग काला, पीछे का श्वेत और ललाट पर कृत्तिका नक्षत्र के गाढ़े से छींटे वाला होता था। घोड़े को स्नान कराने तक यज्ञ चलता रहता था। घोड़े की रक्षा हेतु कवचधारी राजपुत्र, सौ राजन्यों के खड्गधारी पुत्र, सौ सूत एवं ग्रामीणों के पुत्र धनुष बाण धारण करके चलते थे। अश्व स्वच्छन्द विचरण करता चलता, पीछे चतुरङ्गिणी सेना रहती। इस प्रकार घोड़ा एक वर्ष भ्रमण करके लौटने पर यज्ञ क्रियाएँ होकर 'राजा' को सम्राट घोषित किया जाता था। वह अपना समस्त राजकोष दान कर देता था।

सोमरस—वैदिक आर्य सोमरस का पान करते थे। इसीलिए वैदिक सूत्रों में देवताओं के लिए सोमपान के आवाहन की चर्चा है। सोमरस के सम्बन्ध में यथेष्ट मतवाद हैं। एक मत यह है कि सोमलता को पीसने से खट्टापन लिये हुए दूध की तरह सादा रस निकलता है जिसे सड़ाने से मादकता पूर्ण मदिरा निकलती है जिसे

---

१. ९।१०; २. २।६।४३; ३. ५।२; ४. २५।

आर्य लोग पीते थे और जो सोमरस के नाम से यज्ञों में व्यवहृत होता था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' की अनुक्रमणिका में मार्टिन हाग ने लिखा है कि उन्होंने सोमरस तैयार कराके पान किया था। ईरानी लोगों के यहाँ सोमरस का नाम 'हउमा' है। वे भी इसका व्यवहार करते थे किन्तु वे इसको कच्चा ही पान कर जाते थे। आर्यों के यहाँ सोम छनने में छाना जाता था, फिर घड़ों में भरा जाता था। यह सोमरस अत्यन्त स्वादिष्ट और मदिष्ठ होता था। ऋषि मधुच्छन्दा ऋग्वेद के नवम मण्डल के (६।१।१) सूक्त में कहते हैं—

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोमधारया। इन्द्राय पातवे सुतः (६।१)

अर्थात् इन्द्र के पीने के लिये छाने गये हे सोम, तुम स्वादिष्ट और मदिष्ठ धारा से क्षारित होओ।

यों तो सोम को अमृत कहा है, उसे पीकर अमर होने की चर्चा प्रगाथ कण्व पुत्र इस प्रकार कहते हैं—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।

अर्थात् हमने सोम पिया, अमर हो गये, ज्योति को प्राप्त हुए, देवों को जाना।

इतना ही नहीं, इसी उक्त सूक्त में सोम को अमृत नाम से संबोधन किया है—किमुधूर्तिरमृतमर्त्यस्य अर्थात् हे अमृत! हिंसक मर्त्य मेरा क्या कर सकता है।

श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने ऋग्वेद संहिता के अनुवाद में सोमरस की चर्चा करते हुए लिखा है कि—"चन्द्र को भी रस संयुक्त मानकर हमारे यहाँ अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में चन्द्रमा का भी नाम सोम रखा गया है। विष्णु पुराण में ये दोनों अर्थ हैं। चरक-संहिता में लिखा है कि, सोम नाम की ऐसी लता है, जिसके पन्द्रह पत्ते हैं। यह लता चन्द्रमा की तरह दोनों पक्षों में घटती-बढ़ती है। ओखल और मूसल से कूटकर इसका रस निकाला जाता था। मैक्समूलर की राय है कि, हिमालय के उत्तर, मध्य एशिया में, सोमलता होती थी। मैडमब्लावस्की की सम्मति है कि वेद का सोम और बाईबिल का ज्ञान-वृक्ष (Tree of Knowledge) एक ही वस्तु है। कलकत्ते के बेलगछिया नामक स्थान में एक बार एक बनिया लाल बाबाजी नाम के संन्यासी ने एक ऐसी लता दिखायी थी, जो परीक्षार्थ लन्दन भेजी गयी थी और जिसे हुटिनविड कम्पनी ने सोमलता बताया था। यह सब कुछ है, परन्तु प्रसिद्ध वेदज्ञ पण्डित दुर्गादास लाहिड़ी ने लिखा है कि सोमलता और सोमरस क्रमशः विशुद्ध बुद्धि और निष्कलंक ज्ञान का नाम है—वस्तुतः वह कोई लता या बल्ली नहीं है।

हमारा मत है कि ज्ञानकाण्ड में लाहिड़ी महाशय का अर्थ ठीक है, परन्तु कर्मकाण्ड के लिये लाहिड़ी जी का अर्थ ठीक नहीं है। वस्तुतः सोमलता नाम की एक लता है और आर्य लोग यज्ञों में सोमरस का पान करते थे।"[1]

---

१. **ऋग्वेद संहिता**—(हिन्दी टीका सहित)—प्रथम अष्टकं—टीकाकार रामगोविन्द त्रिवेदी और पं० गौरीनाथ झा (१९८८), पृ० ३-४।

मानवीय कल्याण एवं विश्व-शान्ति की भावना वैदिक विचारधारा का प्रमुख अंग है। विश्व-शान्ति की कामना प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान के पूर्व की जाती है। यथा—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। (यजु० ३६।१७)

वैदिक जीवन का आदर्श

वैदिक जीवन में समन्वय और अनुशासन का भी विशेष महत्व है। संन्यास आश्रम की वेद में चर्चा नहीं है। विवाह के समय में वर की इस कामना को देखिए—

'जीवन-पर्यन्त पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि से घिरा हुआ समृद्ध जीवन बिताये।'
(ऋग्वेद १०।८५।३६)

वैदिक पुरुष सदैव उन्नति, प्रसन्नता और उत्साह की बात सोचता है।
(ऋग्० १।३६।१४)

वेद में स्वर्ग का विस्तार से वर्णन है, जहाँ वैभव एवं आनन्द और उमंगें फूटी पड़ रही हैं, ज्योति और विकास की किरणें प्रकाशित हो रही हैं और प्रत्येक व्यक्ति भद्रता तथा कल्याण चाहता है, यद् भद्रं तन्न आसुव (यजु० ३०।३)

उसमें आत्मविश्वास एवं उत्साह भरा हुआ है। वह घोषणा करता है—

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋग० १०।४८।५)

अर्थात् मैं इन्द्र हूँ, मेरी पराजय संभव नहीं है। फिर भी वैदिक जीवन का आदर्श ऋत और सत्य है—

सत्यं च मे श्रद्धा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।५)

वह यज्ञ द्वारा सत्य और श्रद्धा की प्राप्ति करना चाहता है। वेद में विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न यज्ञ विधान हैं—यथा देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्य (अतिथि) यज्ञ।

वैदिक जीवन में अनुशासन को, एकता को, समन्वय को विशेष महत्व दिया गया है। ऋग्वेद का यह सूक्त देखिए—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथापूर्वे संजानानामुपासते॥ (१०।१९१।२)

प्रजागणों में सबको एक मन और एकवाणी होने का और देवताओं की भाँति मिल-बाँटकर सबको भोग करने का आदेश दिया है। इसी प्रकार मन, भावना एवं अभिप्राय की एकता तथा सामुदायिक शक्ति के विकास का विचार ऋग्वेद में है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति। (१०।१९१।४)

तप—ऋग्वेद में तप का महात्म्य प्रारम्भिक नौ मण्डलों में नहीं है, दसवें मण्डल से प्रारम्भ होता है। ऋत और सत्य की उत्पत्ति तप से मानी गई है।[१] तप ही भावी जीवन का द्रष्टा[२] एवं अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करने वाला[३] है। देवता तप करते हैं।[४] तप और यज्ञ से देवताओं ने स्वर्ग प्राप्त किया है।[५] प्रजापति ने सृष्टि रचना के लिए तप किया था।[६] तप, यज्ञ, ऋत तथा ब्रह्म ये चार विश्व के आधार हैं।[७] तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण ने अपने पुत्र को 'तप से ही ब्रह्म का ज्ञान सम्भव बताया और कहा कि तप ही ब्रह्म है।'

ऋत और सत्य की भावना—वैदिक विचारधारा में ऋत और सत्य का महत्वपूर्ण स्थान है।[८] विश्व का परिचालन करने वाले समष्टि रूप प्राकृतिक नियम अर्थात् एकसूत्रीय परमात्म तत्व की अनुभूति ऋत है तथा मनुष्य-जीवन के प्रेरक नैतिक आदर्शों का आधार सत्य है। ऋग्वेद में ऋत की महिमा का वर्णन इस प्रकार है—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। (ऋग्०४।२३।८)

अर्थात् ऋत अनेक प्रकार की सुख शान्ति का स्रोत है तथा ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है।

पवित्रता एवं कल्याण की भावना—यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में विश्व के प्रकाशमान देव सविता से बुराइयों से बचाकर कल्याण में लगाने की प्रार्थना की गई है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव। (३०।३)

इसी प्रकार विश्वदेव से पवित्र करने की यह प्रार्थना देखिए—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसाधियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदःपुनीहि मा॥ (१९।३९)

चारित्रिक विशुद्धि की भावना[९], भाव शुद्धि एवं संकल्पों की विशुद्धि की भावना भी वेद मन्त्रों में मिलती है—

तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु। (यजु० ३४।६)

---

१. ऋक्० १०।१९१।१ ; अथर्व० १७।७
२. ऋक्० १०।१५४।२
३. अथर्ववेद ७।७४।१
४. वही, ११।५।६,१९
५. ऐतरेय ब्राह्मण २।१३
६. वही, २।३३॥
७. अथर्व० १२।१।१
८. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत (ऋग्० १०।१९०।१)
सत्यं वदन् सत्यकर्मन् (ऋग्० ९।११३।४)
९. परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज। (यजु० ४।२८)

स्थूल जीवन एवं प्रगतिशीलता—वैदिक विचारधारा नितान्त आध्यात्मिक ही नहीं है, उसमें इहलोक एवं स्थूल जीवन पर भी गम्भीर विचार किया गया है। स्वस्थ जीवन पद्धति पर विचार करते हुए ऋग्वेद की विधि (आदेश) है कि 'शरीर को सुदृढ़ बनाओ।'

स्वयं तन्वं वर्धस्व। (ऋक् ७।८।५)

अथर्ववेद कहता है कि सौ वर्ष तक उन्नतिशील एवं समृद्धिपूर्ण जीवन व्यतीत करो—

शतं जीव शरदो वर्धमानः। (३।११।४)

और उन्नतिशील जीवन के लिए शारीरिक शक्ति का महत्व स्पष्ट है—

अश्मानं तन्वं कृधि। (अथर्व० १।२।२)

अर्थात् अपने शरीर को पत्थर जैसा सुदृढ़ बनाओ। इसके लिए श्रम करो। जीवन का साफल्य स्वास्थ्य में निहित है। इस सम्बन्ध में यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है 'पहला सुख निरोगी काया।' जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु शरीर में तेज, साहस, ओज, आयुष्य और बल की वृद्धि आवश्यक है—

वर्च आ धेहि मे तन्वांसह ओजोवयोबलम्। (अथर्व० १९।३७।२)

वैदिक साहित्य कर्मण्यता और सदा चलते रहने का उपदेश देता है। इस सम्बन्ध में एतरेय ब्राह्मण का 'चरैवेति गान' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें भगवान् इन्द्र रोहित के पुत्र इन्द्र को सदा चलते रहने का उपदेश देते हैं। 'बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है। खड़े होने वाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है। लेटे रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य गतिशील हो जाता है। इससे चलते रहो'—

आस्ते भग आसीनस्य उर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥ (चरैवेति चरैवेति)

सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग पुरुषार्थ और आलस्य की मात्रा के अनुकूल एक ही व्यक्ति में रहते हैं। चलते रहने से ही मनुष्य कृतयुगी बन जाता है। सोते रहने वाले को कलि कहते हैं। अँगड़ाई लेने वाले को द्वापर कहते हैं, उठ बैठने वाला त्रेता बन जाता है और चलते रहने वाला सतयुगी हो जाता है—

कलिः शयनो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ (एतरेय ब्राह्मण)

उन्नति के मार्ग पर चलते रहना ही प्रगतिशीलता है। इस प्रगतिशीलता को अपनाना प्रत्येक भारतीय युवक का कर्तव्य होना चाहिए।

वेदों में १०० वर्ष जीनें की ईश्वर से प्रार्थना की गई है—"जीवेम शरदः शतम्', लेकिन उसी के साथ यह भी प्रार्थना है कि 'अदीनः स्याम शरदः शतम्' अर्थात् १०० वर्ष अदीन होकर रहें। यहाँ पर हम नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के विक्रमांक से पाठकों के लाभार्थ पृथ्वी सूक्त की व्याख्या के कुछ अंश जो एक पृथ्वी

पुत्र द्वारा की गई है, देते हैं। इससे राष्ट्र सम्बन्धी वैदिक चिन्तन का कुछ अनुमान लगाया जा सकेगा।

राष्ट्र और मातृभूमि

अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त (१२।१।१-६३) में मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। मातृभूमि के स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीय जन की एकता का जैसा वर्णन इस सूक्त में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन मन्त्रों में पृथिवी की प्रशस्त वन्दना है, और संस्कृति के विकास तथा स्थिति के जो नियम हैं, उनका अनुपम विवेचन भी है। सूक्त की भाषा में अपूर्व तेज और अर्थवत्ता पाई जाती है। स्वर्ण का परिधान पहने हुए शब्दों को कवि ने श्रद्धापूर्वक मातृभूमि के चरणों में अर्पित किया है। कवि को भूमि सब प्रकार से महती प्रतीत होती है, **'सुमनस्यामाना'** कहकर वह अपने प्रति भूमि की अनुकूलता को प्रकट करता है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए मन के वात्सल्य भाव से दुग्ध का विसर्जन करती है, उसी प्रकार दूध और अमृत से परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्विनी धाराओं से राष्ट्र के जन का कल्याण करती है। कल्याण-परम्परा की विधात्री मातृभूमि के स्तोत्र-गान और वंदना में भावों के वेग से कवि का हृदय उमड़ पड़ता है। उसकी दृष्टि में यह भूमि काम-दुग्धा है। हमारी समस्त कामनाओं का दोहन भूमि से इस प्रकार होता है, जैसे अडिग भाव से खड़ी हुई धेनु दूध की धाराओं से (गाय की भाँति) पन्हाती है। कवि की दृष्टि में पृथिवी-रूपी सुरभि के स्तनों में अमृत भरा हुआ है। इस अमृत को पृथिवी की आराधना से जो पी सकते हैं, वे अमर हो जाते हैं। मातृभूमि की पोषण-शक्ति कितनी अनंत है? वह विश्वंभरा है। उसके विश्वधायस् रूप को प्रणाम है।

मातृभूमि का हृदय—स्थूल नेत्रों से देखने वालों के लिए यह पृथिवी शिला-भूमि और पत्थर-धूलि का केवल एक जमघट है। किन्तु, जो मनीषी हैं, जिनके पास ध्यान का बल है, वे ही भूमि के हृदय को देख पाते हैं। उन्हीं के लिए मातृभूमि का अमर रूप प्रकट होता है। किसी देवयुग में यह भूमि सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। जब मनीषियों ने ध्यानपूर्वक इसका चिंतन किया, तब उनके ऊपर कृपावती होकर यह प्रकट हुई। केवल मन के द्वारा ही पृथिवी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। ऋषि के शब्दों में मातृभूमि का हृदय परम व्योम में स्थित है। विश्व में ज्ञान का जो सर्वोच्च स्रोत है, वही यह हृदय है। यह हृदय सत्य से घिरा हुआ और अमर है (**यस्याः हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः**) हमारी संस्कृति में सत्य का जो प्रकाश है उसका उद्गम मातृभूमि के हृदय से ही हुआ है। सत्य अपने प्रकट होने के लिए धर्म का रूप ग्रहण करता है। सत्य और धर्म एक हैं। पृथिवी धर्म के बल से टिकी हुई है (**धर्मणा धृता**)। महासागर से बाहर प्रकट होने पर जिस तत्व के आधार पर पृथिवी आश्रित हुई, कवि की दृष्टि में वह धारणात्मक तत्व धर्म है। इस प्रकार के धारणात्मक महान् धर्म को पृथिवी के पुत्रों ने देखा और उसे प्रणाम किया। **"नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजा।"** (महाभारत, उद्योग-

पर्व) सत्य और धर्म ही ऐतिहासिक युगों में मूर्तिमान होकर राष्ट्रीय संस्कृति का रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृति का इतिहास सत्य से भरे हुए मातृभूमि के हृदय की व्याख्या है। जिस युग में सत्य का रूप विक्रम से संयुक्त होकर सुनहले तेज से चमकता है, वही संस्कृति का स्वर्ण युग होता है। कवि की अभिलाषा है—'हे मातृ-भूमि, तुम हिरण्य के संदर्शन से हमारे सामने प्रकट हो। तुम्हारी हिरण्यमयी प्ररोचना को हम देखना चाहते हैं।' (**सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यमेव संदृशि,** १८)। राष्ट्रीय महिमा की नाप यही है कि युग की संस्कृति में सुवर्ण की चमक है या चाँदी और लोहे की। हिरण्य संदर्शन या स्वर्ण युग की संस्कृति ही स्थायी विजय के युग हैं।

वेदों में राष्ट्र का और मातृभूमि का विशेष महत्व है। आर्य लोग अपने राष्ट्र को बली और शक्तिशाली बनाना चाहते थे—उनकी प्रार्थना थी कि हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय शूर-वीर, तीर चलाने वाले, लक्ष्य-भेदी और महारथी हों—'**आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथी जायताम्।**' राजा के लिए ब्रह्मचर्य और तप का आदेश दिया गया था—'**ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।**'

पृथिवी पर सर्वप्रथम पैर टेकने का भाव जन के हृदय में गौरव उत्पन्न करता है। जन की ओर से कवि कहता है—मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूप में सबसे पूर्व इस भूमि पर पैर जमाया था—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्। (११)

उस भू-अधिष्ठान के कारण भूमि और जन के बीच में एक अन्तरंग सम्बन्ध उत्पन्न हुआ। यह सम्बन्ध पृथिवीसूक्त के शब्दों में इस प्रकार है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२)

'यह भूमि माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ।' भूमि के साथ माता का सम्बन्ध जन या जाति के समस्त जीवन का रहस्य है। जो जन भूमि के साथ इस सम्बन्ध का अनुभव करता है, वही माता के हृदय से प्राप्त होने वाले कल्याणों का अधिकारी है, उसी के लिए माता दूध का विसर्जन करती है।

सानो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। (१०)

जिस प्रकार पुत्र को ही माता से पोषण प्राप्त करने का स्वत्व है, उसी प्रकार पृथिवी के ऊर्जा या बल पृथिवी पुत्रों को ही प्राप्त होते हैं। कवि के शब्दों में—'हे पृथिवी! तुम्हारे शरीर से निकलने वाली जो शक्ति की धाराएँ हैं उनके साथ हमें संयुक्त करो।'

यत्ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥ (१२)

वैदिक काल में गौओं का बहुत आदर था। यह आदर भारतीय संस्कृति में तब से अब तक वर्तमान है। ऋग्वेद में कहा गया है कि गाय रुद्रों की माता, वसुओं

की पुत्री, आदित्यों की भगिनी और अमृत अर्थात् दुग्ध का निवास-स्थान है। मनुष्यों को चाहिये कि वे इस अदिति रूपिणी गौ का वध न करें।

वैदिक काल की आर्य मातृ शक्ति

आर्यों ने देवताओं के साथ ही देवियों की कल्पना भी की। धन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी, शक्ति की दुर्गा और विद्या की सरस्वती हैं। ऋग्वेदिक आर्य मातृ तत्व के उपासक थे। देवमाता के रूप में **अदिति** का उल्लेख ऋग्वेद में ८० बार हुआ है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ७२ वें सूक्त में अदिति देवमाता और दक्ष की पुत्री कही गई है। साथ ही दक्ष को अदिति से उत्पन्न भी कहा है। अदिति के आठ प्रमुख पुत्रों का भी उल्लेख मिलता है। ये आठ पुत्र इस प्रकार हैं—मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और आदित्य। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में अदिति का वर्णन इस प्रकार है—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥४॥
अदिर्हि तियजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥५॥

अर्थात् वृक्ष से भूमि और भूमि से दिशायें उत्पन्न हुईं। अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई। हे दक्ष, अदिति जो तेरी दुहिता है उसी ने देवताओं को जन्म दिया। उसके पीछे महान् अमृतबन्धु देवता उत्पन्न हुए।

अदिति देवमाता है, सर्व शक्तिमती हैं। अदिति शब्द से ही आदित्य बना है, इसीलिए कहीं-कहीं अदिति को आदित्यों की भगिनी भी कहा है। यह अदिति (द्यौ) दिव्य है, आर्यों की ऋषिका नहीं। अदिति जन्म का कारण है, पापों से बचाने वाली देवी[1] तथा यज्ञवर्द्धिका[2] है। अदिति विश्व हितैषिणी (विश्वजन्या) भी कही गयी है।

ऋग्वेद में अदिति के साथ **दिति देवी** का भी दो चार स्थान पर उल्लेख है। आगे चलकर पुराणों में दिति नामक दैत्यमाता का उल्लेख मिलता है किन्तु ऋग्वेद की दिति तो अदिति की भाँति देवी तथा देवमाता ही हैं। मित्र और वरुण को अदिति और दिति दोनों का अवलोकन करने को कहा गया है।

वाक् देवी के नाम से भी दसवें मण्डल का १२५ वाँ सूक्त प्राप्त होता है जिसमें वाक् (वाणी) देवी की महिमा का वर्णन है। ये इस सूक्त की ऋषिका कही गई हैं किन्तु इनका दिव्य चरित्र ही इन्हें ऋषिका से भिन्न घोषित कर देता है। ये अम्भृण ऋषि की पुत्री वाग्देवी हैं। उक्त सूक्त में वाग्देवी का वर्णन इस प्रकार है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥

---

१. ऋग्वेद १०।३६।३ २. वही ७।८२।१० ३. वही ७।१०।४

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामयेतन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधां ।।

अर्थात्—मैं रुद्र, वसुओं, आदित्यों और सारे देवों के साथ विचरण करती हूँ। मैं मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि और दोनों अश्विनों को धारण करती हूँ। देवता एवं मनुष्य मेरी सेवा करते हैं। इस बात को मैं स्वयं ही कहती हूँ तथा जिसे मैं चाहती हूँ उसे उग्र बना देती हूँ, उसे ब्रह्मा, ऋषि और सुमेध बनाती हूँ।

उक्त सूक्त में ही आगे वाग्देवी के भुवन का निर्माण करते हुए वायु के समान बहने का वर्णन है। वाग्देवी को द्यावा पृथिवी का अतिक्रम करने वाली भी कहा है। उसे राज्याधीश्वरी, धनदात्री, प्राणव्यापिनी, उपदेशिका, आकाशजननी एवं ज्ञानवती भी कहा है।

३ | वैदिक और श्रमण संस्कृति

एक दूसरे की पूरक

वैदिक एवं श्रमण संस्कृति दोनों ही प्रागैतिहासिक काल से ही विकसित होती हुई चली आ रही हैं। ऋग्वेद[1], अथर्ववेद[2], गोपथ ब्राह्मण[3] और भागवत[4] आदि वैदिक-धर्म के साहित्य में श्रमण संस्कृति के आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव की चर्चाएँ सर्वत्र बिखरी हुई मिलती हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे वेदकालीन थे। इससे यह भी सुस्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैन-धर्म प्रागैतिहासिक धर्म रहा है। यह बौद्ध-धर्म की अपेक्षा बहुत प्राचीन है। 'भागवत' में वर्णित जैन-धर्म सम्बन्धी विवरणों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन-धर्म का आविर्भाव वैदिक धर्म के पार्श्व या उसके कुछ बाद में हुआ और तभी से दोनों धाराएँ समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही हैं। विद्वानों का मत है कि अनादिकाल से ही भारतीय विचारधारा दो रूपों में विभक्त मिलती है।

१. परम्परामूलक ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी वैदिक धारा।
२. पुरुषार्थमूलक प्रगतिशील श्रामण्य या श्रमण प्रधान धारा।

वस्तुतः ये दोनों विचारधारा एक दूसरे की पूरक रहीं हैं किन्तु दुर्भाग्यवश इनमें भेद उत्पन्न करने वालों की कमी नहीं रही और ये दोनों धाराएँ, जो वैदिक युग में एक दूसरे की पूरक थीं, वैदिकोत्तर काल में धीरे-धीरे परस्पर विरुद्धगामी होती गईं और कालान्तर में पृथक हो गईं। इन दोनों की विचारधारा में पूर्ण समन्वय है। वेदों के नाम पर उस समय यज्ञों में जो बलि देने की प्रथा का अतिरेक हो गया उससे महावीर स्वामी का हृदय द्रवित होना स्वाभाविक था। श्रमणप्रधान जैन-धर्म को आधुनिक रूप देने का श्रेय भगवान पार्श्वनाथ एवं महावीर को है।

वैदिक और श्रमण—इन दो प्रकार की विचारधाराओं को—समानान्तर प्राचीन धाराओं को—हम क्रमशः ऋषि सम्प्रदाय और मुनि सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्र द्रष्टा है—

ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः (निरुक्त २।११)

---

१. ऋग्वेद १०।१६।१; २. अथर्ववेद ११।५।२४-२६;
३. गोपथ ब्राह्मण, पूर्व २।८; ४. भागवत ५।२८।

मुनि शब्द का अर्थ गीता के इस श्लोक में दर्शाया गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। (२।५६)

इस प्रकार 'मुनि' शब्द के साथ ज्ञान, तप, योग, वैराग्य जैसी भावनाओं का गहरा सम्बन्ध है। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। श्रमण संस्कृति में ही यह शब्द अधिकांशतः प्रयुक्त है। पुराणों में, जो वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, ऋषि और मुनि दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ मिले-जुले अर्थ में होने लगा था। दोनों संस्कृतियों में ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिक संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता, हिंसामूलक मांसाहार और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी तो श्रमण संस्कृति या मुनि संस्कृति में अहिंसा, निरामिषता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी—

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।
कन्द-मूलफलैर्जीवानहित्वा मुनिवदामिषम् ।।

(वाल्मीकि रा० २।२०।२९)

वैदिक संस्कृति की असहिष्णुता ने वेदों को सुनने वाले शूद्रों के कानों में रांगा घोलकर डालने का विधान[1] किया तो अनेकान्तवादी सहिष्णु श्रमण संस्कृति ने जैन, बौद्ध और सन्त सम्प्रदायों को जन्म दिया जिनमें 'जाँति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।'

वैदिक धर्म के समानान्तर ही श्रमण धर्म भी जनजीवन में व्याप्त था। श्रमण धर्म की तीन प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(१) श्रम, (२) संयम और (३) त्याग।

वाचस्पति गैरोला के शब्दों में 'आचार प्रधान श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैन धर्म रहा है। आचारों को वहाँ सदाचार की संज्ञा दी गयी है। शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए रागद्वेष, मोह, क्रोध, मान, पाप और लोभ आदि दुर्व्यसनों का परित्याग करने के लिए जो आचरण किया जाता है, उसी को 'सदाचार', 'संयम' या 'सम्यक् चरित्र' कहा गया है। पापकर्मों का परित्याग और पुण्यकर्मों का अर्जन ही सदाचार है। हिंसा करना, असत्य भाषण, चोरी करना, उद्दण्डता (क्रोध) करना और याचना करना—ये सभी पापकर्म हैं। इनसे दूर रहना चाहिए। इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध और अपरिग्रह—ये पुण्यकर्म हैं। इनको अपनाना चाहिए।'

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी श्रमण धर्म को वैदिक चिन्तनधारा का ही अंग मानते हैं। इस श्रमण धर्म या संन्यास धर्म का बीज ऋग्वेद (१०।१०९।४) में भी मिलता है जहाँ ऋषि तप के द्वारा सत्य का साक्षात् अनुभव करने की क्षमता रखता है। यहाँ तो तप से विश्व की उत्पत्ति तक बतलाई गई है। (१०।१९०)[2]

---

१. गौतमधर्मसूत्र २।३।४।   २. हिन्दू सभ्यता, पृ० २११।

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में अर्हत धर्म एवं श्रमण संस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। मेगस्थनीज ने अपनी भारत यात्रा के समय दो प्रकार के दार्शनिकों—ब्राह्मण और श्रमण—का उल्लेख किया है। उस युग में श्रमणों का बहुत आदर किया जाता था। मेगस्थनीज ने श्रमणों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है उसमें कहा गया है कि वे वन में रहते थे, सभी प्रकार के व्यसनों से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भांति उनकी स्तुति एवं पूजा करते थे।[1] रामायण में उल्लिखित श्रमणों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। 'गोविन्द राजीय रामायणभूषण' में श्रमणों को दिगम्बर कहा गया है।[2] ब्राह्मण साहित्य में भी श्रमणों का उल्लेख मिलता है।[3] इस प्रकार जैन धर्म श्रमण नाम से प्राचीनकाल में प्रचलित रहा और महावीर को श्रमण होते देखकर बुद्ध को मानने वाले गौतम बुद्ध को महाश्रमण कहने लगे। ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण-संस्कृति की प्राचीन परम्परा रही है। श्रीमद्‌भागवत्[4] में भी मरूदेवी (मेरुदेवी) तथा नाभिराजा के पुत्र भगवान ऋषभदेव को श्रमण-संस्कृति का प्रवर्तक कहा गया है।

आदान-प्रदान

वैदिक और श्रमण संस्कृति में सामंजस्य की भावना के आधार पर आदान-प्रदान हुआ और इन्होंने भारतवर्ष की बौद्धिक एकता बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैन-धर्म ने किया। ब्रह्मोपनिषद् में श्रमण की चर्चा आई है—

यत्र लोका न लोका····श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापस
एकमेव तत् परंब्रह्म विभाति निर्वाणम्। (१५१)

शांकर भाष्य के अनुसार 'श्रमणः परिव्राट्'।

व्रात्य प्राकृत भाषा बोलते थे और वे अर्हन्त को पूजते थे।[5] ऋग्वेद में व्रत, व्रात्य के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है—

व्रत—'अथा वयमादित्य व्रते तव'—ऋक० १।२४।१५

अहिंसादयोऽपिव्रतानि, सन्ति तानि च देशकालादिभिर प्रतिबद्धानि महाव्रता-न्युच्यन्ते। उक्तं हि—'जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।'
(योगदर्शन २।३१)

अह्‌ना प्रत्यङ् व्रात्यो राध्या प्राङ् नमो व्रात्याय (अथर्ववेद १५।१८।५)

1. Translation of the Fragments of the Indica of Magasthenes. Bonn, 1846, p. 105.
२. श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणा वातवसना।
३. शतपथ ब्राह्मण १४।७।१।२२, तैत्तिरीय आरण्यक २।७।१।
४. ५।३।२०।
५. जयचन्द्र विद्यालंकार, भा० इति० की रूप० पृ० ३१२।

अर्थात् व्रात्य दिन में पश्चिमाभिमुख तथा रात्रि में पूर्वाभिमुख रहता है, व्रात्य को नमस्कार। व्रत का पालन करने वाले व्रात्य हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (गीता २।६९)
'अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो प्राङ्'—

व्रतों को धारण करने वाले रात्रि आगमन (मृत्यु) से पूर्व ही (दिन में ही) प्रत्यग् वृत्तिमान (आत्मस्थ) हो जाते हैं।

'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्।'
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्।
(अथर्व० काण्ड १५।सूक्त १।१-६ मन्त्र)

अर्थात् वह प्रजापति था। प्रजापति से उसने अपने आपको ऊपर उठाया। गृहस्थ से संन्यास की ओर चलते हुए तत्काल उस प्रजापति ने व्रतों को धारण किया, व्रात्य हो गया। उस प्रजापति ने आत्मा को सुवर्ण देखा।

देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति।'
(अथर्व—२ सूक्त ३ मन्त्र)

ऐसे विद्वान (वेत्ता, सर्वज्ञ) व्रात्य को जो अपशब्द कहता है वह देवों का अपराधी होता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—

यस्य पिता पितामहादि सुरां न पिबेत् स व्रात्य।

अर्थात् जिसके कुल में पिता और पितामह आदि ने मद्य न पिया हो वह व्रात्य है। प्रश्नोपनिषद् के शांकर भाष्य में—व्रात्य इति स्वभावतः एव शुद्धः (२।११) कहा है।

आदिनाथ ऋषभदेव—जैन-धर्म के आदि पुरुष तीर्थङ्कर ऋषभदेव का परिचय भागवत पुराण में इन शब्दों में दिया है—

नाभेरसौ ऋषभ आप्तसुदेवसूनुः, यो वै चचार समदृग् योगचर्याम्।
यत्पारहंस्यमृषयः पदमाननंति, स्वस्थः प्रशान्तकरणः परित्यक्तसंगः।।
(भागवत पुराण २।७।१०)

अग्नीन्द्र के पुत्र नाभि से सुदेव पुत्र ऋषभदेव जी हुए, वे समद्रष्टा की भाँति योगाभ्यास करते थे। उनके परमहंस पद को ऋषियों ने नमस्कार किया। स्वस्थ, शान्त इन्द्रिय, सब संग त्याग वे ऋषभदेव हुए, उनसे जैन धर्म प्रगट हुआ।

क्षत्रियों के पूर्वज के रूप में ऋषभदेव का स्मरण किया गया है—

ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।।
(ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व० २।१४)

क्षात्रो धर्मोह्यादिदेवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेष भूताश्चधर्माः ।

(महाभारत, शान्ति० १२।६४।२०)

क्षात्र धर्म भगवान आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ और शेष धर्म इसके पश्चात् प्रचलित हुए ।

न प्राक्त्वत्तः पुराविद्या ब्राह्मणान गच्छति ।
तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्त्रस्यैव प्रशासनमभूत ।। (छान्दोग्य ५।३।७)

पुराविद्या (आत्म विद्या) क्षत्रियों से पूर्व ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई अतएव यह मान्यता युक्तिसंगत है कि सम्पूर्ण लोक पर क्षत्रियों का ही प्रशासन था ।

अथेदं विद्येतः पूर्वं न कास्मिश्चन ब्राह्मण उवासताम् ।

(बृहदारण्यक ६।२।८)

इससे पूर्व आत्मविद्या किसी भी ब्राह्मण से व्यक्त होती हुई प्रतीत नहीं हुई ।

सिंधु सभ्यता में जैन धर्म

उपर्युक्त उद्धरणों से श्रमण संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है । प्राग्-ऐतिहासिक संस्कृति के जो अवशेष मोहनजोदड़ो में उत्खनन से प्राप्त हुए हैं, उनमें ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों से जैन धर्म की अति प्राचीनता सिद्ध होती है । श्री रामप्रसाद चन्दा ने सिन्धु घाटी में प्राप्त कुछ मुहरों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है । यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभ देवता की मूर्ति में । ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण (चिन्ह) है ।"[1]

SINDH FIVE THOUSAND YEARS AGO

1. "Not only the seated deities engraved on some of Indus Seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus Valley in that remote age, the standing deities on the seals also show Kayotsarga posture of Yoga'. Further that "The Kayotsarga posture is peculiarly Jaina. It is a posture not of sitting but of standing. In the Adi Purana, Book XVIII, Kayotsarga posture is described in connection with the Peuauces of Risabha or Virsabha. A standing image of Jaina Risabha in Kayotsarga posture on a slab showing four such images, assignable to the 2nd Century A. D. in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura is reproduced in figure 12. Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties there are standing statutes with arms, hanging on two sides. But though these early Egyptian statutes and the archaic Greek Konroi show nearly the same pose, they lack the jealing of abondon that characterises the standing figures on the Indus Seals and images of Jainas in the Kayotsarga posture. The name Risabh means "bull" and the bull is the emblem of Jaina Risabh."

[R. B. Prof. R. P. Chanda : *Modern Review*, Aug. 1932, pp. 155-160.]

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने श्री चन्दा के उपर्युक्त मत पर अपना यह अभिमत प्रकट किया है। "मुहर संख्या F, G, H, फलक दो पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है, सम्भव है यह ऋषभ ही का पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव-धर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है।[1]

यहाँ हम श्री रामप्रसाद चन्दा द्वारा विवेचित मुहर का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त ऋषभनाथ की मुहर

प्रस्तुत चित्र में कार्योत्सर्ग मुद्रा में ऋषभनाथ (आदिनाथ) हैं। उनके शिरोभाग में त्रिवल्ली त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्राणि) की प्राप्ति की सूचक है। उनके शरीर के चारों ओर कल्पवृक्ष हैं, और उनके समीप उनके सुपुत्र एवं अजनाभ-वर्ष (भारतवर्ष) के प्रतापी सम्राट भरत करबद्धाञ्जलि हैं, उनके पीछे वृषभ है। नीचे अमात्य वर्ग संभ्रम मुद्रा में है। विमलसूरि ने अपने 'पउमचरिउ' में इस प्रसङ्ग का वर्णन किया है—

> "साएयपुरवरीए, एगन्ते नाभिनन्दणो भयवं।
> चिट्ठइ सुसंघसहिओ, तावय भरहो समणुपत्तो।
> पणउत्तमंगमग्गो करजुयलं करियतस्स पामूले।
> तो भणइ चक्कवट्टी वयणमिणं में निसामेह।" (४।६८-६९)

अर्थात् साकेतपुरी में भगवान नाभिनन्दन एकान्त में संघ सहित विराजमान थे। वहाँ भरत आये। उन्होंने अपना उत्तमांग (शिर) नवाते हुए, अपने कर युगल

---

१. हिन्दू सभ्यता, ततीय सं०, पृ०३९।

उनके चरणमूल में किये तथा नम्रभाव से इस चक्रवर्ती ने कहा—'हे भगवन मेरे वचनों को आप सुनें ।'

दीक्षावल्ली और कल्पवृक्ष की बात जैनों के 'आदिपुराण' में आई है—

दीक्षावल्लया परिष्वक्तः कल्पाङ्घ्रिवइवाबभौ । (१७।२२१)

आदिदेव मुनि दीक्षावल्ली से समालिंगित कल्पवृक्ष के समान शोभायमान हुए।

उपरोक्त चित्र में प्रदर्शित सभारूप की चर्चा आदि पुराण में हुई है—

ततो निभृतमासीने प्रबुद्धकुड्मले ।
सदः पद्माकरे भर्तुः प्रबोधमभिलाषुके ।
प्रीत्या भरतराजेन विनयानतमौलिना ।
विज्ञापनमकारीत्थं तत्वजिज्ञासुना गुरोः ।" (२४।७७।७८)

भगवान के श्रीमण्डप में विराजमान होने पर जब सभारूप पद्मसमूह अपने पाणिपुटों को आबद्ध कर प्रणतिपूर्वक प्रबोध प्रवचन की अभिलाषा लिये तूष्णीं स्थित हो गया उस समय तत्वों की जिज्ञासा रखने वाले भरतनृपति ने विनय से आनम्र होकर वक्ष्यमाण विज्ञापन किया ।

श्री पी० सी० राय चौधरी का मत है कि भगवान ऋषभ ने पाषाण युग के अन्त में और कृषि-युग के प्रारम्भ में जैन धर्म का प्रचार मगध में किया ।[1]

जैन पुराणों से ऋषभनाथ को ही कृषि का आविष्कर्ता माना गया है । इनसे पहले कल्पवृक्ष का युग था । खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहन-सहन आदि के पदार्थ उन कल्पवृक्षों से ही अनायास मिल जाया करते थे । यह भोगयुग था । ऋषभनाथ जी के युग में कल्पवृक्षों के न रहने से जनता दुखी हुई और उन्होंने कृषि करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन बनाने की विधि सिखाई । ऋषभनाथ का चिन्ह बैल था, संभवतः वह कृषि में सहायक था । सिंध घाटी की खुदाई में जौ और गेहूँ के दाने मिले हैं । अतः यह सिद्ध हो जाता है कि उस युग में कृषि प्रारम्भ हो चुकी थी । ब्राह्मण ग्रन्थों[2] में भी इसका वर्णन मिलता है । ऋषभनाथ जगत् में धर्म प्रचार करके, भरत को राज्य देकर, पूर्ण आत्मसाधना के लिए कैलाश पर्वत पर जाकर विराजमान हुए । वहाँ उन्होंने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी त्रिशूल के द्वारा अवशिष्ट कर्मशत्रुओं का क्षय किया । जैन-धर्म शास्त्रों में ऋषभनाथ और महादेव शंकर भगवान में समानता दिखाई है । भगवान शंकर को भी दिगम्बर कहा गया है किन्तु यह विषय गम्भीर अध्ययन एवं छानबीन की अपेक्षा रखता है ।

1. 'Not much research is possible in the prehistorical age as to the role Bihar played in the stay of Jainism. But some of the ancient Jain scriptures mention that Jainism had been preached in Magadha (Bihar) by Lord Risabh at the end of the stone age and the begining of the Agricultural Age. At that remote period Magadha was separated from rest of India by Ganga-Sagar. The ancient history of Nepal bears this out also.
[Shri P. C. Roy Chaudhry : *Jainism in Bihar*, p. 7; L. P.]

२. शतपथ ब्राह्मण ११६।१।३

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है। संभवतः इसी आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में यह विचार प्रकट किये कि "जैन-धर्म अनादि है। गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे। चौबीस तीर्थङ्करों में महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे। यह जैन-धर्म को पुनः प्रकाश में लाये, अहिंसा धर्म व्यापक हुआ।"

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के इतिहास में श्रमण संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

श्री कामताप्रसाद जैन लिखते हैं "जैनियों ने भारतीय सभ्यता के विविध क्षेत्रों में क्या-क्या किया ? पहले विज्ञान कला को लीजिए। पार्थिव विज्ञान में आज जिस पुद्गल (Matter) के आविष्कार से तरह-तरह के करिश्मे दिखाई पड़ रहे हैं, जैनाचार्यों ने उसका सूक्ष्म विश्लेषण बहुत पहले ही किया था। उन्होंने जीव और अजीव तत्व के आधार पर इस जगत के विकास पर प्रकाश डाला था और उसमें अजीव को (१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) आकाश और (५) कालवत् माना था। पुद्गल पदार्थ ठीक वही पदार्थ है जिसे डाल्टन साहब ने 'मैटर' बताया है। उसका सूक्ष्म अविभागी अंश अणु कहलाता है। इस अणुवाद पर जैनों का कथन ही भारतीय साहित्य में प्राचीनतम है।" प्रो० जैकोबी ने लिखा है 'उपनिषदों में अणुवाद का पता नहीं चलता। सांख्य और योग दर्शन में भी वह दिखाई नहीं पड़ता। हाँ, वैशेषिक और न्याय दर्शनों में वह अवश्य मिलता है। जैनों और आजीवकों ने भी अणुवाद को अपनाया था। जैनों को प्रमुख स्थान देना उचित है क्योंकि उनका अणुवाद-सिद्धान्त पुद्गल विषयक प्राचीनतम मान्यताओं के आधार पर वर्णित है।"[१]

श्री कामताप्रसाद जैन ने वनस्पति शास्त्र के क्षेत्र में श्रमण-संस्कृति के प्रवर्तक जैनों के योगदान की चर्चा करते हुए लिखा है—"जैनियों ने वनस्पति शास्त्र का भी अच्छा विवेचन किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। प्रो० बोस के आविष्कार के वर्षों पहले जैनाचार्यों ने वनस्पतिकाय को प्राणसहित बतलाया था। वे जल, वायु, अग्नि और पृथिवीकाय में भी जीवत्व मानते हैं। इन अवस्थाओं में जीव एक स्पर्शन-इन्द्री और सूक्ष्म ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। जीव अपनी इस निम्न अवस्था में भी चार संज्ञाओं (१) आहार (२) भय (३) मैथुन और (४) परिग्रह को रखता है। वृक्षों पर प्रो० बोस ने जो प्रयोग किये हैं उनसे जैनों की इस प्राचीन मान्यता का समर्थन होता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए यह गौरव की बात है कि उसके सदस्य जैनियों ने उसको ज्ञान मार्ग में इतना ऊँचा उठाया था।"

जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य हैं। कर्मों का नाश करने के बाद ही मोक्ष प्राप्ति होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शना-

---

1. *Encyclopaedia of Religion & Ethics*, Vol. II, p. 199.

वरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्मों की कई श्रेणियाँ हैं। ये चतुर्विध अन्तराय कर्म जैन-दर्शन में 'घातीय कर्म' माने गये हैं। जैनधर्म का कर्म-विभाजन एवं कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्षोपलब्धि का सिद्धान्त बौद्ध-धर्म में ज्यों का त्यों अपना लिया है। जैन धर्म की 'अहिंसा परमो धर्मः' की विचारधारा ही बौद्धों में मैत्री, करुणा और मुदिता के रूप में प्रसारित हुई। अतः जैनधर्म का बौद्धधर्म पर बहुत ऋण है।

स्याद्वाद—वाचस्पति गैरोला के शब्दों में "जैन संस्कृति का वैचारिक दृष्टि-कोण कितना उदार और विशाल है, उसके 'स्याद्वाद' सिद्धान्त से सहज ही जाना जा सकता है। स्याद्वाद के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म विद्यमान हैं। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं, तो उसके एक धर्म को मुख्य और अन्य धर्मों को गौण मानते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि प्रत्येक वस्तु का एक रूप छिपा रहता है, दिखायी नहीं देता। किसी वस्तु का पूरा ज्ञान तभी सम्भव है जब उसके प्रत्यक्ष तथा परोक्ष, दोनों रूपों को सामने रखकर विचार किया जाय। किसी वस्तु के प्रकट रूप के आधार पर प्राप्त ज्ञान आपेक्षित है। अर्थात् एक वस्तु एक अपेक्षा (तरह) से जैसी है अन्य अपेक्षाओं (तरहों) से वह दूसरी प्रकार की भी हो सकती है। उदाहरण के लिए, नीबू और नारंगी को एक साथ रखकर यदि कहा जायेगा कि उनमें बड़ा कौन है, तो नारंगी को ही बड़ा कहा जायेगा; किन्तु नारंगी की तुलना में यदि नारियल को रखा जायेगा तो उस दशा में नारंगी को छोटा कहना पड़ेगा। इस दृष्टि से जैन विचारकों का अभिमत है कि नित्यप्रति के व्यावहारिक जीवन में किसी वस्तु का छोटा और किसी का बड़ा बताना आपेक्षित है।"

जैनधर्म का त्रिरत्न[1]—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य—वैदिक धर्म के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से साम्य रखता है। सांख्य और योग दर्शनों के ईश्वरवाद से जैन-दर्शन की कुछ समानता है।[2] सांख्य और जैन दोनों दर्शन सृष्टि और ब्रह्म की पृथक् सत्ता प्रतिपादित करते हैं। वेदान्त का जीवन्मुक्त ही जैन-दर्शन का अर्हत है। दोनों दर्शन आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं और आत्म-साक्षात्कार के लिए आत्मा की निर्मलता को महत्वपूर्ण मानते हैं। आत्मा और मोक्ष के स्वरूप सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर विचार करने पर जैन दर्शन भी वैदिक दर्शन की भाँति आस्तिक ठहरता है।

---

१. रत्नत्रयमयं जैनं जैत्रमस्त्रं जयत्यदः।
येनाव्याजं व्यजेष्टार्हन् दुरितारातिवाहिनीम्॥ (आदिपुराण १।४)

२. जैन दर्शन में ईश्वर का स्वरूप
"क्षुत्पिपासाजरातङ्क जन्मान्तक भयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते" ॥६॥ (आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरंडश्रावका०)
"जिस ईश्वर के क्षुधा, तृषा, जरा (बुढ़ापा), रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह और चिन्ता, मद, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य नहीं है, वही ईश्वर कहा जाता है।"

ग्रीक दार्शनिक अरस्तु ने ईश्वर की जो व्याख्या की है, वह भी इससे मिलती है—

"ईश्वर अशरीर है, इसलिये वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर में नहीं है। ईश्वर शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान ही ईश्वर की क्रिया है।"

ईश्वर को सभी वस्तुओं का स्वाभाविक ज्ञान है। आत्ममनन के अतिरिक्त ईश्वर का और कोई कार्य नहीं है। यदि कोई कार्य माना जायेगा तो ईश्वर से भिन्न उसका लक्ष्य या उद्देश्य भी माना जायेगा। इससे ईश्वर में परिमिता दोष आ जायेगा। इस अंश में अरस्तू का ईश्वर जैनों के ईश्वर से मिलता है।[1]

याज्ञवल्क्य स्मृति में वैदिक धर्म के दशविध लक्षणों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। अ० १॥

अहिंसा की महिमा महाभारत की इस कारिका से भी सुस्पष्ट हो जाती है—

"एकतः कांचनो मेरुः कृत्स्ना चैव वसुन्धरा।
जीवस्य जीवितं चैव न तत्तुल्यं युधिष्ठर॥

अर्थ—भीष्म पितामह युधिष्ठिर को सम्बोधन करके कहते हैं कि एक ओर तो मेरु पर्वत के बराबर सोना अथवा समस्त पृथ्वी दान के लिये रखी जाय और दूसरी ओर एक जीव का जीवन (जिन्दगी) रखा जाय तो बराबर नहीं है। अर्थात् पर्वत के बराबर सोना और पृथ्वी का दान इतना महत्वशाली नहीं है जितना महत्वशाली किसी जीव का जीवन (प्राण) बचाना है। यदि किसी मनुष्य को उसकी मृत्यु के बदले में समस्त पृथ्वी का राज्य देने की घोषणा की जाय तो वह मनुष्य उस राज्य को ठुकरा देगा। अपने प्राण देने के लिये तैयार न होगा।

इसका कारण यह है सर्वाधिक दुःख अपनी मृत्यु का होता है। इसलिए दीन-दरिद्र, रोगी, दुःखी जीव भी मरने के लिये तैयार नहीं होता। अपने प्राणों को प्रत्येक जीव सबसे अधिक प्यारा समझता है। ऐसी दशा में समस्त जीवों का मनचाहा धर्म अहिंसा ही हो सकता है।

निष्कर्ष—डॉ० रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में "बौद्ध धर्म की अपेक्षा, जैन धर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि, यह उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। जैन धर्म की दो बड़ी विशेषताएँ अहिंसा और तप हैं, इसलिए, यह अनुमान तर्क सम्मत लगता है कि वेदों में जो अहिंसा और तप के बारीक बीज थे उन्हीं का विकास जैन धर्म में हुआ। यह बात जैन धर्म के इतिहास से भी प्रमाणित होती है। वर्द्धमान महावीर ई० पू० छठी शताब्दी में हुए हैं और उन्होंने जैन-मार्ग का जोरदार संगठन किया, जिससे उस मार्ग के प्रधान नेता वे ही समझे जाने लगे। किन्तु, जैन धर्म में चौबीस तीर्थङ्कर (धार्मिक नेता, पैगम्बर) हुए हैं और वर्द्धमान महावीर महज २४वें तीर्थङ्कर थे। उनसे पूर्व, तेईस तीर्थङ्कर और हुए थे। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्व-

---

१. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, गुलाबराय, पृ० ५६।

नाथ थे जो ऐतिहासिक पुरुष हैं और जिनका समय महावीर और बुद्ध दोनों से कोई २५० वर्ष पहले आता है। वैराग्य और तपश्चर्या के जिस मार्ग पर उपनिषदें जोर देती थीं, वह जैनों का भी मार्ग था और इस पंथ के श्रमण, उपनिषद् के युग में भी, बहुत अधिक संख्या में फैल रहे थे।"[१]

अन्त में हम विद्वत्वर पं० मंगलदेव शास्त्री का मत उद्धृत करते हैं, "इसमें सन्देह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगमन करने के लिए, अपितु भारतीय-संस्कृति के स्वरूप के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैन-दर्शन का अत्यन्त महत्व है। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परम सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैन-दर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है, उसे समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।"[२]

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, १९५६, पृ० १०८

२. जैन दर्शन, प्राक्कथन, डॉ० मंगलदेव शास्त्री

स्वजातिपूर्वजानां तु यो न जानाति सम्भवम्।
स भवेत् पुंश्चलीपुत्रसदृशः पित्रवेदक॥

अपने पूर्वजों के विषय में जो जानकारी नहीं रखता वह उस कुलटापुत्र के समान है जिसे अपने पिता के विषय में पता नहीं। अर्थात् अतीत ही वर्तमान का सांस्कृतिक आधार है। उस अतीत को न जानने वाला अपनी सनातन निधि के परिज्ञान बिना निराधार सदृश है। स्वजाति समुत्पन्न पूर्वज ही वह रत्नकोष हैं जिन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त कर मनुष्य वास्तविक सम्पन्नता का अधिकारी होता है।

४ | सिन्धु-घाटी की सभ्यता

वैदिक सभ्यता की परम्परा

सिन्धु-घाटी की सभ्यता पर्याप्त रूप में विकसित थी। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो के उत्खनन से जो भग्नावशेष मिले हैं उनसे सिन्धु-उपत्यका की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दशा का अनुमान लगाया गया है। सिन्धु-सभ्यता में धर्म का अभिन्न स्थान था। डॉ० नीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा ने सिन्धु-सभ्यता को वैदिक वर्णक्रम की सभ्यता माना है—और निम्नलिखित प्रमाणों से अपने मन्तव्य को प्रतिपादित किया है :

(क) इन स्थानों में प्राप्त कुछ मूर्तियों में आसनबद्धता, नासाग्रदृष्टि आदि पायी जाती है। आसन योग का एक प्रधान अंग है। आसन लगाकर बैठने की पद्धति भारत के बाहर कहीं कभी न थी। यह चीन, जापान और हिन्देशिया आदि में इस देश से ही गयी है। नासाग्रदृष्टि मन को अन्तर्मुखी करने का एक यौगिक उपाय है। अतएव सिन्धु सभ्यता की संस्कृति वैदिक थी।

(ख) एक सील मुहर पर कलसी, काष्ठ आदि के साथ श्मशान का दृश्य अङ्कित है।

(ग) खुदाई के फलस्वरूप कितने ही प्रस्तरमय शिवलिङ्ग पाये गये हैं।[1] वैदिक सनातनधर्म को छोड़कर अन्यत्र शिवलिङ्ग की पूजा कहीं नहीं होती।

(घ) जो सील-मुहर ध्वंसावशेष में पाये गये हैं, उनमें जो लिपि है, उसका पाठोद्धार पाश्चात्य देशों में अभी तक नहीं हुआ है। किन्तु सिलचरवासी पंडित श्री महेन्द्रचन्द्र काव्यतीर्थ[2] ने कुछ सील-मुहरों का पाठोद्धार किया है।

एक सील में जो चित्र है, उसमें एक वृक्ष पर दो पक्षी चित्रित हैं। एक पक्षी फल खा रहा है, दूसरा कुछ खाता नहीं है, केवल देख रहा है। इस चित्र में सम्भवतः

---

1. **Mackay :** *The Indus Civilization*, p. 77-78.
2. **M. C. Kavyatirtha Sankhyarnava :** *Mohenjodaro seals deciphered*, p. 9.

ईश्वर और जीवविषयक एक सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र का भाव अङ्कित हुआ है—'द्वा सुपर्णा' इत्यादि। (ऋक २।१।६४।२०)

सांख्यार्णव महाशय ने इसकी लिपि को पढ़ा है। २ सुवर्ण (मुद्रा)। 'द्वा सुपर्णा' के साथ '२ सुवर्ण की' ध्वनि का सुन्दर मेल है और चित्र भी सम्भवतः इस मेल के कारण इस प्रकार से अंकित हुआ है। यदि यह अनुमान सत्य है और यही सम्भव है तो अन्ततः यह प्रमाणित होता है कि 'सिन्धु उपत्यका की सभ्यता' इस वेद मन्त्र के बहुत बाद की है तथा सिन्धु सभ्यता के लोग वैदिक धर्म का ही पालन करते थे।

और भी कतिपय सीलों का पाठोद्धार करके सांख्यार्णव महाशय ने दिखला दिया है कि वे सब भी विभिन्न मुद्राओं के मान के द्योतक हैं यथा, ३ धरण, नव निष्क, गुण चरण, रजत द (दी) नार, पल आदि। ये सारी मुद्राएँ भारत में प्राचीन युग में व्यवहृत होते थे तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। उनके मत से ये सील व्यवसायी लोगों के द्वारा हुण्डी या वस्त्रादि—विक्रय के द्रव्यादि के ऊपर मुद्रांकन के लिये व्यवहृत होते थे। यही सिद्धान्त युक्तिसंगत है। पिगत (Piggot) ने भी 'Prehistoric India' नामक ग्रन्थ में इसके अनुरूप ही मत प्रकाशित किया है।[1]

(ङ) इन दोनों नगरों के ध्वंसावशेष में ईंट से बँधे कूप वर्तमान हैं। उनके चारों ओर असंख्य मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े राशि के रूप में पड़े हैं। इसको समझने में कष्ट नहीं होता कि जल पीने के बाद वह फेंक दी गई होगी या तोड़-फोड़ दी गई होगी।[2]

संसार की दूसरी किसी जाति में, या किसी देश में, स्पर्शास्पर्श-विवेक या आहार शुद्धि और आचार, जिसको आजकल व्यंग्य करके कूड़ापथ कहते हैं, नहीं था और न है। केवल वर्णाश्रमी जाति के शास्त्रानुसार मिट्टी के बर्तन को एक बार ओठ से लगाने से ही वह उच्छिष्ट हो जाता है और उसे फेंक देते हैं। सिन्धु-उपत्यका के अधिवासी वैदिक सनातन (हिन्दू) धर्म को मानते थे और आचार का पालन करते थे—यह टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तनों से पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है।"

सिन्धु-सभ्यता का समय

संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० सदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर का मत है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् भारतीय सभ्यता (वैदिक सभ्यता) ह्रासोन्मुख हुई। सिन्धु-घाटी में प्राप्त अवशेषों से यह निश्चित हो जाता है कि ये ह्रासोन्मुखी आर्य-सभ्यता के ही चिह्न हैं। महाभारत में वर्णित खगोलीय नक्षत्र चर्चा से महाभारत युद्ध की घटना पाँच हजार वर्ष पूर्व की सिद्ध होती है। तत्कालीन सभ्यता की

1. Piggot : *Prehistoric India*, p. 210.
2. *Ibid*, p. 171.

तुलना में सिन्धु-सभ्यता का रूप ह्रासोन्मुख ही कहा जायेगा अथवा उपलब्ध सिंधु उपत्यका की सभ्यता के चिह्न तीन हजार वर्ष पूर्व के होने में इतिहासज्ञ प्रायः एकमत हैं। पाँच हजार वर्ष पूर्व भारत में आर्य सभ्यता सर्वत्र व्याप्त थी, कहीं अनार्य सभ्यता की कल्पना तक करने का अवसर नहीं है। अतः सिन्धु सभ्यता का द्रविड़ या आर्येतर होने की कल्पना नितान्त निर्मूल है।[1]

श्री केदारनाथ शास्त्री ने, जिनका सम्बन्ध हड़प्पा से लगभग २० वर्षों तक रहा है, अपने ग्रन्थ 'सिन्धु सभ्यता का आदि केन्द्र—हड़प्पा' में सिन्धु-सभ्यता का काल मान ३५००-२००० ई० पू० निर्धारित किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अंग्रेज विद्वान सर मॉर्टिमर ह्वीलर के भ्रान्त मत का तर्कपूर्ण खण्डन किया। शास्त्रीजी के मत को पुरातत्वज्ञ जॉन मार्शल ने भी माना है।

सिंधु सभ्यता के लोप के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि अनावृष्टि के कारण ही ऐसा हुआ किन्तु अन्य विद्वानों ने इसका कारण भयंकर जलप्लावन माना है। वस्तुतः हम भी इस मत को उचित मानते हैं। भयंकर जलप्लावन एवं अतिवृष्टि के कारण ही सिंधु प्रदेश का विनाश हुआ। शतपथ ब्राह्मण में भी जलप्लावन की जो घटना वर्णित है, वह सिन्धु प्रदेश में घटित हुई, ऐसा सम्भव है। यह प्रदेश दलदलों से घिरा हुआ एवं खूब घने जंगलों से आच्छादित था जिनमें गेंडा, बाघ, हाथी, सुअर आदि हिंस्र जन्तु भरे पड़े थे। मोहनजोदड़ो की खुदाई में इन जन्तुओं की अस्थियाँ प्रभूत परिणाम में मिली हैं। सिंधु प्रदेश में मकानों के नीचे कच्ची मिट्टी के बड़े-बड़े भराव सिन्धु नदी तथा अन्य प्रादेशिक नदियों की बाढ़ से बचाने के लिए डाले गये थे, ऐसा अनुमान अयुक्तिसंगत न होगा।

सिन्धु-सभ्यता का स्वरूप

सिन्धु नदी से सिंचित घाटी की सभ्यता अत्यन्त उन्नत एवं समृद्ध थी। यह सभ्यता उत्तर में हिमालय से प्रारम्भ होकर दक्षिण में अरब सागर तथा काठियावाड़ तक, पश्चिम में मकरान से पूर्व में हस्तिनापुर तक विस्तृत थी। उत्खनन द्वारा इस सभ्यता की अब तक **चालीस बस्तियों** का पता चला है जिनमें कुछ ग्राम, कुछ कस्बे तथा दो विशाल नगर (हड़प्पा और मोहनजोदड़ो) हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो इस सभ्यता के नागरिक जीवन की समुन्नति के सूचक हैं। मोहनजोदड़ो नगर लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व रहा होगा, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। खुदाई से एक के ऊपर एक सात तह मिली हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उस स्थान पर सात बार नगर बसाया गया और सात बार वह नष्ट हुआ।

नगर एवं नागरिक जीवन—उत्खनन द्वारा उक्त प्राचीन नगर के ध्वंसावशेष से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगर का निर्माण एक निश्चित योजना के आधार पर

---

१. आचार्य वेणीमाधव मुसलगाँवकर द्वारा लिखित 'सिन्धु घाटी की सभ्यता से'।
डॉ० फतेहसिंह ने भी इसे सप्रमाण उपनिषद्कालीन सिद्ध किया है।

हुआ। नगर में जो भी सड़कें हैं वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर गई हैं या पूर्व से पश्चिम की ओर। नगर की प्रधान सड़क तेंतीस फीट चौड़ी है। नगर की अन्य सड़कें भी चौड़ाई में बहुत अधिक हैं जिनसे छोटी-छोटी शाखाएँ और गलियाँ फूटी हैं। सड़कें समकोण पर एक दूसरे को काटती हैं और सम्पूर्ण नगर वर्गाकार खण्डों में विभक्त है तथा प्रत्येक खण्ड में छोटी-छोटी गलियों के किनारे मकान बने हुए थे। सड़कों और गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। नगरों की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। गार्डन चाइल्ड के शब्दों में, "गलियों की सुन्दर पंक्तियाँ तथा प्रणालिकाओं की उत्तम व्यवस्था एवं उनकी सतत स्वच्छता से इस बात का संकेत मिलता है कि यहाँ कोई नियमित नगर-शासन था जो अपना कार्य सावधानी से सम्पन्न करता था। इसका अधिकार इतना सुदृढ़ था कि बाढ़ों के कारण बार-बार निर्मित भवनों की तैयारी के समय निर्माण एवं सड़कों की सुनिश्चित पंक्तियों को बनाये रखने के नियमों का पालन होता है।"[1]

हड़प्पा बड़ा नगर था किन्तु बनावट दोनों की प्रायः एक-सी है। कच्चे-पक्के, छोटे-बड़े हर प्रकार के भग्नावशेष उत्खनन द्वारा प्राप्त हुए हैं। भवन निर्माण में बड़ी सावधानी, स्वच्छता एवं सुन्दरता बरती गई है। सारे भवन प्रायः एक ही डिजायन के सादे तथा अलंकारविहीन थे। भवन प्रायः चौकोर होते थे, बीच में एक आँगन, और चारों ओर छोटे-बड़े कमरे, स्नानघर तथा ढकी हुई नालियाँ भी बनी होती थीं, जो घर के पिछले भाग से निकलकर मुख्य नाले में मिल जाती थीं। जल के लिए कुएँ तथा बावड़ी थीं। जलाशय के पास ही स्नानागार थे। नलों का प्रयोग भी होता था। इन दोनों नगरों के भवनों का दरवाजा या कोई खिड़की प्रमुख राजमार्ग की ओर नहीं खुलती थीं, भवनों के द्वार गलियों में खुलते थे। कुछ विशाल भवन भी मिले हैं जिनमें खम्भों पर सधे हुए बड़े-बड़े कक्ष (हॉल) बने हैं। इन भवनों के विशालकाय द्वार, कक्ष (हॉल) तथा बरामदों को देखकर यहाँ के कारीगरों की निपुणता का स्पष्ट पता चलता है। इन दोनों नगरों के भवन बिल्कुल सादे बने हैं, यद्यपि अन्दर से अलंकृत हैं। सिन्धुवासियों की वास्तुकला और मूर्तिकला के जो नमूने मिले हैं उनसे उनकी इन कलाओं में निपुणता सिद्ध है फिर भी भवनों की सादगी संभवतः उन्हें मजबूत एवं उपयोगी बनाने की दृष्टि से रखी गई प्रतीत होती है। उत्खनन में प्राप्त भवनों में सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट एक विशाल सार्वजनिक प्रस्तर स्नानागार है। इसके निम्नलिखित खण्ड हैं :

१. स्नानागार की कुल लम्बाई १८० फुट, चौड़ाई १०८ फुट है तथा बाहरी दीवारों की मोटाई ८ फुट है। इसके छः प्रवेश द्वार हैं।

२. चारों ओर बरामदे जिनके पीछे गैलरियाँ तथा चारों ओर कमरे हैं।

---

1. V. Garden Child : *What Happened in History*, p. 56,

३. एक कुण्ड जिसकी लम्बाई ३० फुट, चौड़ाई २३ फुट तथा गहराई ८ फुट है, दोनों ओर जल की सतह छूती सीढ़ियाँ हैं।
४. कुएँ हैं जिनसे आवश्यकता पड़ने पर स्नानागार के कुण्ड को जल से भरा जाता था।
५. जलाशय को जल से भरने या रिक्त करने के लिए एक छः फीट ऊँची प्रणालिका है जिससे पानी निकाला जाता रहा होगा।
६. एक खण्ड हम्माम जैसा है, जिसमें पक्की ईंट के अनेक आयताकार चबूतरे हैं। इनमें स्नानार्थ जल गर्म किया जाता रहा होगा। ५००० ई० पूर्व का बना स्नानागार आज भी सुरक्षित मिला है; यही इसकी मजबूती का प्रमाण है।

शासन-प्रबन्ध—सिन्धु-घाटी में अवश्य ही सुव्यवस्थित शासन रहा होगा। ऐसा अनुमान है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो दो राजधानियाँ होंगी जिनसे इस विशाल साम्राज्य के दक्षिणी और उत्तरी प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध किया जाता होगा। सिन्धु-घाटी की सभ्यता की एकरूपता एक ही प्रकार के भवन, एक ही प्रकार की माप-तौल की व्यवस्था और मूर्तियाँ, एक ही प्रकार की लिपि यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती है कि सिन्धु साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। उत्खनन में अब तक कोई राजप्रासाद जैसा भवन नहीं मिला है, अतः सम्भव है यहाँ जनतान्त्रिक शासन प्रणाली रही हो।

आमोद-प्रमोद—घाटी के उत्खनन से प्राप्त मिट्टी के खिलौनों से पता चलता है कि उस युग में बच्चे कैसे खिलौनों से खेलते थे। सिन्धुवासी आमोद-प्रमोद के लिए प्रायः पासों का खेल खेलते थे। ये पासे चतुष्कोण घनरूप से मिट्टी और पत्थर तथा हाथी दांत के बनाये जाते थे। इस युग की नर्तकियों की मूर्ति एवं मुद्राओं पर अंकित दृश्यों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि सिन्धु निवासी आमोद-प्रमोद के लिए नृत्य और संगीत को विशेष महत्व देते थे। तबले और ढोल की उत्कीर्ण आकृतियों से इस युग के वाद्य यन्त्रों का अनुमान लगाया जा सकता है। तीर-कमान से आखेट आदि का अनुमान भी लगाया गया है। यहाँ के निवासी शेर आदि का शिकार और तीतर-बटेर की लड़ाई आदि आमोद-प्रमोदों में रुचि रखते थे।

रहन-सहन—सिन्धुवासी सादी पोशाक पहनते थे। वे ऊनी और सूती दोनों प्रकार के कपड़ों का प्रयोग करते थे। सूत कातने के चरखों तथा सूती कपड़े के एक टुकड़े की प्राप्ति से यह पता चलता है कि सिन्धुवासी वस्त्रों के उत्पादन में सफलता प्राप्त कर चुके थे। उच्च श्रेणी के लोग केवल दो वस्त्र पहनते थे, एक धोती और दूसरा दुशाला, जिसे वे सीधी बाँह के नीचे होकर बायें कन्धे पर डालते थे। गरीब आदमी प्रायः बहुत कम कपड़े पहनते थे। स्त्रियाँ एक छोटी-सी धोती पहनती थीं। हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ सर पर एक विशेष वस्त्र पहनती थीं जो पीछे की ओर पंख-सा उठा रहता था। सिन्धु

घाटी के स्त्री-पुरुषों को आभूषणों से बहुत प्रेम था। उनके प्रमुख आभूषण ये हैं—गले के हार, सिरबद्ध, भुजबन्द, पायजेब, करधनी, कंगन, कानों की बालियाँ और अंगूठी। आभूषण सोना, चाँदी, हाथी दाँत, ताँबा, पक्की मिट्टी और हड्डियों के होते थे। स्त्रियाँ शृङ्गार प्रसाधन की विशेष रुचि रखती थीं, विभिन्न प्रकार के केश-पाशों की रचना करती थीं। मुख तथा ओष्ठ रचने के लिए भी लिपस्टिक जैसे किसी विशेष पदार्थ का प्रयोग करती थीं। जॉन मार्शल के शब्दों में "यहाँ साधारण नागरिक सुविधा और विलास का जिस मात्रा में उपयोग करता था उसकी तुलना समकालीन सभ्य संसार के अन्य भागों से नहीं हो सकती।"

भारतीय नारी का स्थान—सिन्धु सभ्यता के युग में नारी का पद प्रतिष्ठित रहा होगा, ऐसा अनुमान उनके रहन-सहन, नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से लगाया जा सकता है। स्त्रियाँ शृङ्गार-प्रसाधन में विशेष रुचि रखती थीं। इससे यह प्रतीत होता है कि परिवार में उनको आदरास्पद माना जाता था। उस समय सम्भवत: पर्दा-प्रथा का भी अभाव था। उस समय की भारतीय नारी ललितकला विशारदा थी, संगीत और नृत्य में विशेष प्रवीण थी।

आजीविका—हड़प्पा में अनाज रखने के बहुत से गोदाम मिले हैं। इनमें अनाज पीसने का प्रबन्ध भी था। गेहूँ, जौ, राई तथा सरसों के दानों से इनकी खेती का अनुमान किया जाता है। खजूर की गुठलियाँ भी प्राप्त हुई हैं। कपास की खेती करना, सूत कातना तथा कपड़ा बुनने आदि के प्रमाण भी मिले हैं। एक चाँदी के कलश के साथ खादी के समान सूती कपड़ा चिपका हुआ मिला है।

ये लोग पशुओं को (भेड़, बकरी, गाय, बैल, भैंस, हाथी, सुअर) पालते थे और इनके घी, दूध और माँस का प्रयोग करते थे।

आर्थिक दशा—सिन्धु निवासी प्रमुखत: कृषि-कर्म में लगे हुए थे। किन्तु अन्य प्रकार के घरेलू उद्योग-धन्धे भी प्रचलित थे। इनमें स्वर्णकारी, कुम्भकारी, बढ़ईगीरी, लुहारी, हाथ की दस्तकारी प्रमुख हैं। यद्यपि सिन्धु निवासी अपने भवनों में सजावट नहीं करते थे फिर भी कलाप्रिय थे। उत्खनन में प्राप्त मिट्टी के सुन्दर बरतन, मूर्तियाँ, मुद्राएँ आदि इस बात की प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त ये वाणिज्य और व्यवसाय में भी बढ़े-चढ़े थे। गार्डन चाइल्ड का कथन है "सिन्धुघाटी के नगरों की निर्मित सामग्रियाँ दजला-फरात के बाजारों में बिकती थीं और उधर सुमेरियन कला की कुछ शैलियाँ, मेसोपोटैमिया की शृङ्गार-सामग्रियों तथा एक बेलन के आकार की मुहर का अनुकरण सिन्धु निवासियों ने कर लिया था। व्यापार कच्चे माल तथा विलास की वस्तुओं तक ही सीमित न था। अरब सागर के तटों से लाई हुई मछलियाँ मोहनजोदड़ो की भोजन सामग्री में सम्मिलित थीं।

धार्मिक स्थिति—मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में असंख्य देवियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, अत: अनुमान है कि वहाँ मातृशक्ति की उपासना प्रचलित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मातृशक्ति की आराधना के लिए धूप आदि पदार्थों की आहुति दी

जाती थी। देवियों की अलंकृत मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उनके सिर पर वस्त्र हैं तथा विविध अलंकारों से सजी हुई हैं। शिव और शक्ति की उपासना के भी प्रमाण मिले हैं। इसके अतिरिक्त लिंग-पूजा (शिश्नदेव) और योनि पूजा भी प्रचलित थी। वृक्ष-पूजा एवं पशु-पूजा भी प्रचलित थी। पीपल का पेड़ सर्वाधिक पवित्र माना जाता था। स्वस्तिक तथा चक्र के प्रतीक से सूर्य-पूजा तथा एक अन्य प्रतिमा से नाग-पूजा का भी अनुमान लगाया जा सकता है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर से जैन-धर्म के प्रचलन का पता चलता है। हमने इस मुहर की चर्चा-विस्तार से 'वैदिक और श्रमण संस्कृति' नामक अध्याय में की है। यह तो निश्चित ही है कि श्रमण संस्कृति या जैन-धर्म ऋग्वेद काल में भी प्रचलित था। चूँकि सिन्धु घाटी की सभ्यता ऋग्वैदिक सभ्यता का ही विस्तार है तथा उसके ह्रास-काल की द्योतक है, अतः सिन्धु सभ्यता में जैन धर्म की कल्पना करना अनुचित न होगा। भारतीय संस्कृति में विविध देवताओं के वाहन के रूप में जो पशुओं—वृषभ, मूषक, आदि—का महत्वपूर्ण स्थान है, उसका प्रारम्भ भी सिन्धु सभ्यता से माना जा सकता है।

लेखन कला एवं लिपि—सिन्धुघाटी के निवासी लिखना-पढ़ना अवश्य जानते थे जैसा कि उत्खनन से प्राप्त मुद्राओं पर उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है। इनकी लिपि चित्रात्मक प्रतीत होती है। ये दायें से बायें को लिखते थे। यह लिपि बहुत साफ और स्पष्ट है। हैरास, लेंग्डन, स्मिथ, गैड तथा हंटर ने इसे समझने और पढ़ने का बहुत प्रयास किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। इस लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन मत प्राप्त होते हैं—(१) द्रविड़ उत्पत्ति (२) सुमेरी उत्पत्ति और (३) आर्य या असुर उत्पत्ति। किन्तु ये मत प्रचलित नहीं हुए। आधार सूत्र के अभाव में इस लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। विद्वानों ने इस लिपि को भाव-ध्वनिमूलक लिपि कहा है। यह ध्वनि भावमूलकता और अक्षरात्मकता के संधिस्थल पर है। इनमें कुछ चिह्न चित्रमूलक हैं और कुछ अक्षर के से। हंटर के अनुसार सिन्धु लिपि के चिह्नों की संख्या २५३, लेंग्डन के अनुसार २२८ तथा गैड और स्मिथ के अनुसार ३९६ है।

डिरिंजर ने लिखा है कि यह लिपि भाव और ध्वनि के बीच की है, अतः भाव-ध्वनिमूलक लिपि है।

५ | रामायण और महाभारत

रामायण को आदि-काव्य माना गया है, किन्तु उनमें राम-चरित्र होने के कारण उसका धार्मिक महत्व भी है। रामायण में राम-चरित की ही मुख्यता है, इसलिए उसका धार्मिक महत्व अधिक है। वैसे तो रामायण भी एक प्रकार से इतिहास है, किन्तु महाभारत को विशेष रूप से इतिहास माना गया है। रामायण और महाभारत ने हमारे काव्य को जितनी सामग्री दी, उतनी और किन्हीं ग्रन्थों से नहीं मिली। क्या रघुवंश, क्या उत्तररामचरित, क्या भारवि का किरातार्जुनीय और क्या माघ का शिशुपालवध, सब इन्हीं से प्रभावित हैं। भास के नाटकों ने भी इन्हीं से जीवन ग्रहण किया है। हिन्दू परम्परा में वाल्मीकि जी को रामचन्द्रजी का समकालीन माना गया है, क्योंकि लव और कुश ने, जो वाल्मीकि जी के आश्रम में पालित-पोषित हुए थे, रामचन्द्र जी के दरबार में वाल्मीकि रामायण सुनाई थी। यूरोपियन विद्वानों में इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में मतभेद है, किन्तु बहुमत ईसा पूर्व १००० वर्ष का है। बौद्ध जातकों में से एक दशरथ जातक है। उससे ज्ञात होता है कि रामकथा बौद्ध जातकों के समय में भी प्रचलित थी और बहुत अंशों में विकृत भी हो गई थी।

रामायण का उदय करुणा में हुआ है। तमसा नदी के तीर महर्षि वाल्मीकि ने देखा कि एक बहेलिए ने काम मोहित क्रौञ्चों की जोड़ी में से एक को मार डाला; उस समय उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठा और सहसा उनके मुख से यह श्लोक निकल पड़ा—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
>
> (वा० रा० बाल० २।१५)

अर्थात् हे निषाद! तुम अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा न पाओगे, क्योंकि तुमने काम मोहित पक्षियों में से एक को मार डाला है। भारतीय संस्कृति का मूल अहिंसा में है। आदि-काव्य का आदि-श्लोक ही करुणा-पूर्ण है। रामायण के आदि में ही भारतीय संस्कृति के मूल्यवान अंग आ गये हैं। वाल्मीकि जी एक आदर्श चरित्र की खोज में थे। रामायण में जो आदर्श पुरुष के गुण हैं, वे ही आर्य संस्कृति के मूल में हैं—

कोन्वस्मिन्तसांप्रतं लोके गुणवान्कश्चवीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्योदृढ़व्रत: ।।
चारित्रेणचकोयुक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वानः कः समर्थश्चकश्चैकप्रियदर्शनः ।।
आत्मवान्को जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यतिदेवाश्चजातरोषस्य संयुगे ।।

हे मुने ! इस लोक में इस समय गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य बोलने वाला, दृढ़व्रत, सुन्दर चरित्र से युक्त, सर्व प्राणियों का हित करने वाला, विद्वान्, सर्व शास्त्र का जानने वाला, सर्व कार्य में समर्थ, एक ही (अद्वितीय) प्रियदर्शन तथा आत्मा को जानने वाला, क्रोध को जीतने वाला, क्रांतिवान और असूया, (ईर्ष्या, डाह) से रहित पुरुष कौन है ? रण के बीच क्रोध करने से किससे सब देवता भय मानते हैं ?

रामायण का पहला और अन्तिम काण्ड प्रक्षिप्त माना जाता है, किन्तु यह क्रौञ्च वध के अवसर पर रामायण की कथा के अवतरित होने की बात कालिदास के रघुवंश में, ध्वन्यालोक में तथा भवभूति के उत्तररामचरित में समान रूप से पाई जाती है । इसलिए यदि वह प्रक्षिप्त भी हो, तो भी साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा बहुत काल से है ।

रामायण में पारिवारिक जीवन के उच्चतम आदर्शों की पूर्ति हुई है । कवीन्द्र रवीन्द्र ने तो रामायण में राम-रावण-युद्ध को भी महत्त्व नहीं दिया । वह तो सीता और राम के पारस्परिक प्रेम, त्याग और तप के आगे गौण हो जाते हैं । वे लिखते हैं—"किन्तु रामायण की महिमा राम-रावण-युद्ध से नहीं है ; यह युद्ध-घटना राम और सीता की दाम्पत्य प्रीति को उज्ज्वल बनाने के लिए उपलक्ष्य मात्र है । इससे केवल कविता का ही परिचय नहीं होता, भारत के गृह और गृह-धर्म का कितना महत्त्व है ; यह भी इसी से समझा जा सकता है । इस गृह-धर्म का आदर्श है—धर्म, अर्थ और काम को समान महत्त्व देना । श्री रामचन्द्र जी भरत जी को प्रश्न रूप से उपदेश देते हैं—धर्म, अर्थ और काम को समान महत्त्व देना चाहिए । भारतीय आदर्श केवल धर्म को ही महत्त्व नहीं देता है, वरन् अर्थ और काम को भी देता है । एक के कारण किसी दूसरे में बाधा न पड़नी चाहिए ।"

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ।।

(वा० रा० अयोध्या० १००।६२)

श्री रामचन्द्र जी पूछते हैं—"कभी अर्थ से धर्म को तो बाधा नहीं पड़ती ? अथवा धर्म से अर्थ में तथा काम से दोनों में—अर्थात् धर्म और अर्थ में—बाधा तो नहीं पड़ती है ।"

रामायण में महाकाव्य के सभी लक्षण पाये जाते हैं। उसमें सर्गों और छंदों का आवश्यक विस्तार ही नहीं है, वरन् भलाई और बुराई के संघर्ष में भलाई की विजय, चरित्रों की महानता और विचारों की उदात्तता भी है।

वाल्मीकि-रामायण में भगवान राम के शील के एक से एक बढ़िया उदाहरण मिलते हैं। उनके शील की सबसे बड़ी बात यह थी कि वे अपने प्रति किये हुए सौ-सौ अपकारों को तो भूल जाते थे, किन्तु एक भी उपकार को सदा याद रखते थे—

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥

इसी के उदाहरण में श्री रामचन्द्रजी हनुमान जी से कहते हैं—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम् ऋणिनो वयम्॥

(वा० रा० उत्तर० ४०।२३)

कपिश्रेष्ठ ! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिए मैं प्राण दे सकता हूँ और शेष उपकारों के लिए मैं सदा तुम्हारा ऋणी रहूँगा।

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी का देश-प्रेम भी अनुकरणीय है। उनका यह वाक्य "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" एक आदर्श वाक्य बन गया है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मण।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

रावण को परास्त करने के बाद श्री रामचन्द्र जी कहते हैं कि—हे लक्ष्मण ! मुझे यह स्वर्ण की लंका अच्छी नहीं लगती है, जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी महत्त्वपूर्ण हैं।

महाभारत—भारतीय संस्कृति का दूसरा विशाल ग्रन्थ महाभारत है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ इसमें है, वह और जगह भी है, और जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

धर्मेचार्थेच कामेच, मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

(महाभारत, आदि पर्व ५६।३३)

महाभारत में रामायण की भाँति एक ही व्यक्ति का सम्बद्ध चरित्र नहीं है। उसमें कौरवों और पाण्डवों का संघर्ष तो मुख्य है, किन्तु उसके सहारे अनेक आख्यान-उपाख्यान (जैसे शकुन्तलोपाख्यान, सावित्री-उपाख्यान, नलोपाख्यान, आदि) और नीतियाँ (जैसे विदुर नीति) उदेशात्मक प्रवचन (जैसे भीष्म पितामह द्वारा धर्म की व्याख्या) आ गये हैं। जगत-प्रसिद्ध दार्शनिक और नैतिक ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता इसी का एक अंग है।

महाभारत के रचयिता कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। इसकी परम्परा ऐसी है कि व्यास जी ने इसे गणेश जी से लिखवाया था। गणेश जी ने इस शर्त पर लिखना स्वीकार किया कि उनकी लेखनी रुकने न पावे और तब व्यासजी ने कहा कि बिना समझे कुछ न लिखें। इसलिए जब वे विश्राम लेना चाहते थे, कुछ कूट श्लोक लिख देते थे और उनके समझने में गणेश जी जैसे विद्वानों को भी समय लग जाता था। व्यास जी ने इसे वैशम्पायन जी को सुनाया और वैशम्पायन जी ने जनमेजय को सुनाया और फिर सौती ने शौनकादि ऋषियों को कथा सुनाई। इस प्रकार इन संस्करणों में इसका कलेवर बढ़ा होगा। वर्तमान आकार १,००,००० श्लोकों का है। वैशम्पायन द्वारा रचे गये महाभारत के श्लोकों की संख्या २४,००० बतलाई गई है।[1] एक लाख श्लोक का जो महाभारत है, उसमें हरिवंश भी सम्मिलित है।

रचना-काल—महाभारत की रचना रामायण के बाद हुई है। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने इसकी रचना वाल्मीकि-रामायण से पहले बतलाई है। यह धारणा सर्वथा भ्रांत है कि महाभारत लिखा गया था। वाल्मीकि-रामायण लव और कुश को मौखिक रूप से याद कराई गई थी।

महाभारत की सभ्यता भौतिक रूप से बढ़ी-चढ़ी है, किन्तु उसके नैतिक आदर्श इतने ऊँचे नहीं हैं जितने कि रामायण के। पाणिनि ने युधिष्ठिर, भीम तथा महाभारत आदि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। पतंजलि ने ई० पू० १५० में महाभारत का उल्लेख ही किया है। आश्वलायन गृह्य सूत्रों में भी महाभारत का उल्लेख है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत की कथा का प्रचार तो करीब-करीब ५०० या ७०० ई० पूर्व में हो गया था। उसके वर्तमान रूप को भी ईसा पूर्व २०० वर्ष से नीचे नहीं ले जा सकते।

महाभारत में यद्यपि नीति का इतना ऊँचा आदर्श नहीं है, जितना कि रामायण में है, तथापि उसका आदर्श व्यावहारिक और न्यायपरक है। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत" अर्थात् जो अपने लिए प्रतिकूल है, उसको दूसरे के प्रति भी नहीं करना चाहिए। उसमें जहाँ मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और कमजोरियों का उल्लेख हुआ है, वहाँ आत्मसंयम और निवृत्ति के मार्ग का भी उपदेश दिया गया है। इसमें बलि आदि के विरुद्ध आवाज उठाई गई है।

महाभारत में घोर युद्ध अवश्य हुआ, किन्तु अन्त में शान्ति का वातावरण उपस्थित हो जाता है। युधिष्ठिर भी अपनी विजय पर उल्लसित नहीं होते, वरन् पाँचों पाण्डव हिमालय की ओर ऊँचाई पर जाकर अपने प्राण त्याग कर देते हैं। पाण्डवों की ओर से जो छल-कपट नीति का व्यवहार हुआ है, उसके प्रति उनकी ओर से पश्चाताप भी हुआ है।

---

१. चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ (आदिपर्व १।६१)

श्रीमद्भगवद्गीता को सारे संसार ने माना है। यह भीष्म पर्व का एक अंग है। इसमें भारतीय संस्कृति के मूल-तत्त्व आ गए हैं। उसमें जो स्थितप्रज्ञ के लक्षण दिए हैं, वे एक आदर्श पुरुष के लक्षण हैं। दैवी संपत्ति में जो गुण दिखाए गए हैं, वे सर्वथा अनुकरणीय हैं। गीता में दान, ज्ञान आदि के सात्त्विक, राजस और तामस रूप दिए गए हैं। मनुष्य यदि उन सात्त्विक आदर्शों को अपना सके तो वह अपने समाज के लिए गौरव बन सकता है। दैवी सम्पत्ति के गुण देखिए :

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमाधृतिः शौचम द्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ १६।१-३॥

अर्थात् निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान, और योग में निष्ठा, इंद्रिय-निग्रह, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, सीधापन, (आर्जवम् शब्द ऋजु से बना है, ऋजु का अर्थ है—सीधा, जो कुटिल न हो) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, चुगली न करना, प्राणीमात्र पर दया, निर्लोभता, कोमलता, लज्जा और अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह (किसी से दुश्मनी न करना), अपने को बड़ा न समझना, ये २६ गुण दैवी श्रेष्ठ लोगों के होते हैं।

गीता में पूर्ण समता भाव का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि सबमें एक ही आत्मा व्याप्त है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिश्चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ ५।१८॥

अर्थात् ज्ञानी लोग विद्या और विनय से सम्पन्न (विद्या के साथ विनय भी आवश्यक समझा गया है।) ब्राह्मण में, हाथी में, गाय में, कुत्ते में और चाण्डाल में समान दृष्टि रखने वाले होते हैं। इसलिए गीता में आत्मोपम्य दृष्टि का उपदेश दिया गया है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो अपने सदृश सुख-दुख में सबको एकसा समझता है अर्थात् जिस चीज से मुझको सुख होगा, उससे दूसरे को भी सुख होगा और जिससे मुझे दुख होगा, उससे दूसरे को भी दुख होगा, वही परम योगी है, देखिए—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनं।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ६।३२॥

श्रीमद्भगवद्गीता में मनुष्य को अपनी आत्मा को ऊँचा उठाने का उपदेश दिया गया है। आत्मा को नीचा नहीं गिराना चाहिए। आत्मा का आत्मा ही बन्धु है और आत्मा ही शत्रु है। यदि हम अपने को ऊँचा उठाते हैं तो ऊँचे उठेंगे और

यदि हम नीचा गिराते हैं तो नीचे गिरेंगे ! फिर हम अपने ही शत्रु बन् जायेंगे। आत्मा का आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है—

उद्धरेदात्मानाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ६।५।।

श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षा बड़ी उदार है। वह भगवान् की उपासना के लिए कोई एक विशिष्ट मार्ग नहीं बतलाती। वह भगवत् प्राप्ति के सभी मार्गों का आदर करती है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मुझे जिस तरह से भजता है, उसको उसी तरह फल देता हूँ। मनुष्य किसी भी मार्ग का अनुकरण करे वह भगवान् का ही मार्ग है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। ४-११।।

गीता की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण शिक्षा निष्काम कर्म की है। भगवान् ने प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच का मार्ग बतलाया है। आसक्ति और अहङ्कारपूर्ण कार्यों से मनुष्य पाप का भागी होता है और विफलता से उसे दुख होता है। ऐसे कर्म उसको आवागमन के चक्र में बाँधे रहते हैं। कर्म से सन्यास लेकर बैठ जाने से समाज व्यवस्था बिगड़ जाती है। निष्काम कर्म मनुष्य को कर्म-बन्धन में नहीं डालता और समाज भी उसके लोकोपकारी कार्यों से वंचित नहीं होता। भगवान् ने कर्म के फल का त्याग बतलाया है, कर्म का त्याग नहीं। फल का त्याग ही सबसे बड़ा त्याग है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्" (२।४७ गी०)। इसी सिद्धान्त को लेकर कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा है—

वैराग्य साधने जे मुक्ति से आमार नय ।
असंख्य बंधन मांझे हे आनन्दमय ! लभिव मुक्तिस्वाद ।।

इस विचारधारा से हिन्दी के कवि भी प्रभावित हुए हैं। साकेत में नदियों के बाँध के सम्बन्ध में सीता जी और रामचन्द्र जी का वार्तालाप देखिये। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी बन्धन का ही व्रत लेते हैं—

सीता—"देखो कैसा स्वच्छन्द यहाँ लघु नद है,
इसको भी पुर में लोग बांध लेते हैं।"
राम—"हाँ ! वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं।"
सीता—"पर इससे नद का नहीं, उन्हीं का हित है,
पर बन्धन भी क्या स्वार्थ हेतु समुचित है ?"
राम—"मैं तो नद का परमार्थ उसे मानूँगा,
हित उसका उससे अधिक कौन जानूँगा ?"

कविवर पंतजी ने भी कहा है—

'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन'

श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों को ही महत्व दिया गया है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि इनमें से किसको प्रधानता दी गई है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि यद्यपि इसमें तीनों हैं, तथापि निष्काम कर्म को प्राथमिकता दी गई है। वास्तव में निष्काम कर्म के साथ ज्ञान और भक्ति दोनों ही लगे हुए हैं, क्योंकि इनके बिना निष्काम कर्म सम्भव नहीं। गीता में भक्ति का आधार भगवान् के वचन हैं—"सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकंशरण ब्रज" (१८।६६) यही वैष्णव धर्म का मूल मंत्र है।

यह निष्काम कर्म की भावना भारतीय संस्कृति की अनुपम देन है। श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त महाभारत के चार और रत्न माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—मनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष, भीष्म स्तवराज और विष्णु सहस्रनाम।

---

६ पुराण

रामायण और महाभारत की भाँति पुराण ग्रन्थ भी इतिहास-ग्रन्थ हैं। इनका नाम इतिहास के साथ लिया जाता है। महाभारत में कहा है कि इतिहास और पुराण के सहारे वेद की व्याख्या की जाय। जिसने थोड़ा पढ़ा है, ऐसे व्यक्ति से वेद डरता है कि यह मेरी हत्या कर देगा।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं संमुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥" (आदि पर्व)

पुराण महाभारत से पहले या उनके समकालीन है। भारत की धर्म-प्राण जनता में विशेषकर पुराणों में श्रीमद्भागवत् का विशेष मान है। भारतीय जीवन के बहुत से व्रत-उपवास इन्हीं के आधार पर चलते हैं। ये हिन्दू जीवन के प्राण हैं। छान्दोग्य उपनिषद में नारद मुनि ने सनत्कुमार से कहा है कि उन्होंने अन्य विद्याओं के साथ इतिहास पुराण नाम के पाँचवे वेद का भी अध्ययन किया था। हिन्दू परम्परा में व्यास जी ही अट्ठारहों पुराणों के रचयिता माने जाते हैं, किन्तु वे सब एक काल की सृष्टि नहीं प्रतीत होते। एक मत यह भी है कि एक बड़ा आदि पुराण था और उसका व्यवस्थापूर्ण विभाजन कर व्यास जी ने १८ पुराण बना दिये। व्यास का अर्थ ही है व्यवस्था पूर्ण करने वाला। जो कुछ भी हो, व्यास जी पुराणों के रचयिता या सम्पादक थे, किन्तु व्यास जी का नाम इनसे सम्बद्ध है। इनके प्रचारक सूत लोग होते थे। इसलिये पुराणों में स्थान-स्थान पर 'सूतोवाच' मिलता है। वेदों में जो बात सूत्र रूप में कही गई है उसको विस्तार देकर कथा रूप से विस्तार किया गया है। विष्णु के तीन पैर रखने की बात वेद में है 'इदं विष्णु-विचक्रमे त्रेधा निदधेपदम"। पुराणों में वह बामन-अवतार की कथा के रूप में आयी है।

यद्यपि पुराणों में बहुत-सी अविश्वसनीय बातें हैं, (वैसे तो बहुत-सी अविश्वस-नीय बातें विश्वसनीय बनती जाती हैं) तथापि वे इस कारण त्याज्य या उपेक्षणीय नहीं हैं। उनमें बहुत-सी मूल्यवान सामग्री है। श्रीमद्भागवत् में उच्च कोटि के दार्शनिक सिद्धान्त हैं। उसमें कपिल द्वारा सांख्य शास्त्र का उपदेश हुआ है। अग्नि पुराण में साहित्यशास्त्र के मौलिक सिद्धांतों की विवेचना हुई है। अग्नि पुराण की भाँति गरुड़ पुराण में भी रत्न-परीक्षा आदि लोक-व्यवहार की चीजें हैं। उनमें

आए हुए आख्यानों और उपाख्यानों में जीवन के तथ्य मिलते हैं। उसमें दी हुई वंशावलियों के द्वारा इतिहास निर्माण की भी क्षमता प्राप्त होती है। (पारजीटर ने उनका विशेष उपयोग किया है।)

लक्षण—पुराणों के लक्षण देते हुए उनके प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार बतलाये गये हैं :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥

अर्थात् सृष्टि की रचना, प्रलय और पुनः सृष्टि, वंश (देवताओं के) मन्वंतर (मनुओं के अनुसार) और वंशों के चरित्र का (अर्थात् राजवंशों का) वर्णन, ये पुराणों के पाँच लक्षण हैं।

संख्या—पुराण अठारह हैं। उनमें कुछ विष्णु को प्रधानता देने वाले हैं, कुछ शिव को और कुछ ब्रह्मा को। मत्स्य, मार्कण्डेय, भागवत, भविष्य, ब्रह्मांड, ब्रह्मवैवर्त, ब्राह्म, वामन, बराह, विष्णु, वायु व शिव, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड़, कूर्म और स्कंद ये अठारह पुराण हैं।

इनके अतिरिक्त अठारह उप पुराण भी माने जाते हैं। भागवत नाम के दो पुराण हैं—एक वैष्णवों की भागवत और दूसरी देवी के उपासकों की देवी भागवत। वैष्णव भागवत को महापुराण और देवी भागवत को उपपुराण कहते हैं। शैवों और शाक्तों में देवी भागवत को मान्यता दी गई है।

इस सभी पुराणों में अन्य सब पुराणों की नामवलियाँ मिलती है। इसलिए इनका अनुक्रम करना बहुत कठिन कार्य है। वैसे पुराणों का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्रों आदि में भी आता है। इस कारण उसमें से कुछ को पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व का माना जाता है। किन्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि सभी इसी समय के हैं। धार्मिक दृष्टि से तो सभी भगवान वेद व्यास के रचे हुए हैं। भविष्य पुराण जिसमें गुप्त वंश तक का हाल है और आगे के भी संकेत हैं (रामानन्दी तिलकों का भी वर्णन है) उस काल से प्राचीन नहीं कहा जा सकता, किन्तु धार्मिक लोगों का कहना है कि महर्षियों को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी और वे आगे की भी लिख सकते थे। आजकल के लोग इस दिव्य दृष्टि में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि यदि ऐसा ही था तो उसमें वर्तमान का हाल क्यों नहीं है, जिससे हम अपने लिये उसकी प्रामाणिकता सिद्ध कर लेते।

पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ दुर्गा और गणेशजी की भी प्रतिष्ठा हुई। वैदिक देवता इन्द्र वरुण आदि को गौण स्थान मिला। पुराणों का धर्म लोक-धर्म है। इन्हीं के आधार पर वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदाय चले। पुराणों में अपने-अपने प्रतिपाद्य देव की श्रेष्ठता अवश्य है, किन्तु दूसरे देवताओं की बुराई नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय को भागवत और पांचरात्र सम्प्रदाय भी कहते हैं। मथुरा में कृष्ण की पूजा का उल्लेख मेगस्थनीज (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) ने भी किया है।

यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में बेस नगर में एक गरुड़-ध्वज स्तम्भ स्थापित किया था और उसमें अपने को भागवत धर्म का अनुयायी कहा है। भारत में शिव की उपासना को महत्त्व देने वालों की भी कमी न थी। 'शैव' सम्प्रदाय में तन्त्रों का महत्व रहा। वे प्रमाण ग्रन्थ कहलाते हैं। शैव सम्प्रदाय को पाशुपत सम्प्रदाय भी कहते हैं। इसके घोर और सौम्य दोनों रूप मिलते है। शाक्त लोग भी शैव्य सम्प्रदाय से मिलते-जुलते हैं। उनमें पशु-बलि का अधिक प्रचार है। शैवों में द्वैतवादी भी हैं और अद्वैतवादी भी।

काश्मीर का शैव समुदाय अद्वैतवादी है। महायान बौद्ध सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय से प्रभावित था। नाथपंथी भी शैव होते हैं। पुराणों में भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है।

श्रीमद्भागवत—वैष्णवों में श्रीमद्भागवत का विशेष मान है। इसमें १२ स्कन्द हैं और १८००० श्लोक हैं। इसमें श्रीकृष्ण जी की ब्रज-लीलाओं का विशेष महत्व है। "भागवते पण्डितानां परीक्षा।" श्रीमद्भागवत में लीलाओं के अतिरिक्त दर्शन के गम्भीर तत्वों का भी वर्णन है। ग्यारहवां स्कन्द पूर्णरूपेण दार्शनिक है। उसमें भागवत धर्म का बड़ा सुन्दर निरूपण है। उसके पढ़ने से प्रतीत होता है कि गीता-ज्ञान के देने वाले श्रीकृष्ण और श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण एक ही हैं। श्रीकृष्ण जी उद्धव जी से कहते हैं—

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥११।२९।९।

अर्थात् हे उद्धव जी! मेरे भक्तों को चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करें और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरण का अभ्यास बढ़ावें। कुछ ही दिन में उनका मन और चित्त मुझ में समर्पित हो जायगा।

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥११।२९।१२।

शुद्धान्तःकरण हो आकाश के समान बाहर और भीतर परिपूर्ण और आवरण-शून्य मुझ परमात्मा को समस्त प्राणियों और अपने हृदय में स्थित देखे।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पंडितो मतः॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि ॥११।२९।१४–१५।

अर्थात् जो साधक केवल इस ज्ञान दृष्टि का आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थों में मेरा दर्शन करता है तथा ब्राह्मण और चंडाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूर में समान दृष्टि रखता है उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिये। जब सब नर-नारियों में मेरी ही भावना हो जाती है तब थोड़े ही दिनों में साधक के चित्त से स्पर्द्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार

आदि दोष दूर हो जाते है। इसका यह अर्थ न समझना चाहिये कि श्रीमद्भागवत केवल ज्ञान-प्रधान ग्रन्थ है। इन पुराणों में ज्ञान और भक्ति दोनों ही चीजें हैं, किन्तु भक्ति की प्रधानता है। श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का उपदेश दिया गया है। नवधा भक्ति इस प्रकार है :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥७।५।२३।

अर्थात् भगवान् के गुणों का श्रवण, कीर्तन, भगवान का स्मरण, पादसेवन, पूजन और वन्दन। श्रीमद्भागवत में भक्त के लिये सर्व फल त्याग का उपदेश दिया गया है। वह जो कुछ मन, वाणी और कर्म से करे, वह सब नारायण के समर्पण कर दे।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा।
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ॥
करोति यद् यत् सकलं परस्मै।
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ (श्रीमद्भागवत, ११।२।३६)

भक्त अपने भगवान के दर्शन के लिये आपत्तियों का भी स्वागत करता है। माता कुन्ती श्रीकृष्णजी से कहती हैं—जगद् गुरो यत्र तत्र सर्वत्र जहाँ हम रहें हमेशा तब तक विपत्तियाँ आवें जिनके कारण आवागमन से मुक्त करने वाला आपका दर्शन होता रहे।

विपदः सन्तुनः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥ १।८।२५

श्रीमद्भागवत में धन-संग्रह और आवश्यकता से अधिक धन-प्राप्ति के विरुद्ध भी आवाज़ उठाई गई है, किन्तु वह भारतीय त्याग के अन्तर्गत है। उसमें भी "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" की भावना है।

यावद भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिके योऽभिमन्येत सस्तेनो दण्डमर्हति ॥

पुराणों में भारत-भूमि के लिये गर्व की भावना ओत-प्रोत है। विष्णु पुराण में भारत-भूमि के रहने वालों को धन्य कहा गया है। वह कर्म भूमि है, मोक्ष की प्राप्ति के लिये देवताओं को भी वहाँ आना पड़ता है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

७ स्मृतियाँ

स्मृतियाँ, जिन्हें धर्म-शास्त्र भी कहते हैं, मनुष्य के कर्त्तव्य, अधिकार तथा समाज के शासन के नियम, मुकद्दमें-मामले जिन्हें 'व्यवहार' कहा गया है और वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा मानव-जीवन और समाज को व्यवस्थित रखने के लिये अन्य आवश्यक विषयों का विवेचन करती है। इनका आदर श्रुतियों अर्थात् वेदों से कुछ ही कम है। ये वेदों की अनुगामिनी हैं। महाकवि कालिदास ने नन्दिनी (गुरु वशिष्ठ की गाय) के पीछे सुदक्षिणा को चलते हुए देखकर यही उपमा दी है कि जिस प्रकार स्मृतियाँ श्रुति के पीछे जाती हैं, उसी प्रकार सुदक्षिणा गौ के पीछे चलती है।[1]

स्मृतियों को भी वेद के साथ धर्म का स्रोत माना गया है। वेद, स्मृति, सदाचार—सज्जनों का आचरण और जो अपने को अच्छा लगे अर्थात् जिसकी स्वयं अपनी आत्मा गवाही दे, ये ही चार प्रकार के धर्म के स्रोत या लक्षण हैं।

वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्यच प्रिय आत्मनः ।
एतच्चतुर्विध प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ ६।६२

जहाँ श्रुति और स्मृति में भेद हो, वहाँ श्रुति ही प्रमाण मानी जायेगी, अन्यथा स्मृतियों का वेद के समान ही अधिकार है। यदि श्रुतियों में भेद हो तो वे दोनों ही मान्य समझी जाती हैं। उनमें संगति बैठालना टीकाकारों और पंडितों का काम हो जाता है।

वैसे तो अत्रि, याज्ञवल्क्य, हारीत, विष्णु, वसिष्ठ, व्यास, बृहस्पति आदि प्रायः २० या २१ स्मृतियाँ हैं, किन्तु उनमें मनु और याज्ञवल्क्य का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके आधार पर हिन्दू जीवन शासित होता है। मनु इन सब में प्राचीन है। पाराशर संहिता में लिखा है कि सतयुग में मनु का, त्रेता में गौतम का और द्वापर में शंख और लिखित का तथा कलियुग में पाराशर का धर्मशास्त्र प्रमाण माना जाता है। इससे यह तो प्रतीत होता है कि प्राचीन लोग भी युग के हिसाब से धर्म का माप-दण्ड बदलता हुआ मानते थे, किन्तु पाराशर में व्यवहार (न्यायालय) की

---

१. तस्याः खुरन्यास पवित्र पांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ (रघुवंश सर्ग २।२)

बातों का वर्णन नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि मनु संहिता सबसे प्राचीन है। इसके निर्माण-काल में मतभेद है। कुछ लोग तो इसे सिकन्दर के आक्रमण से भी चार या पाँच शताब्दी पूर्व करीब-करीब वाल्मीकीय रामायण के समय की मानते हैं और दूसरे इसको ईसा पश्चात् द्वितीय शताब्दी तक घसीट ले जाते हैं। आजकल भी मनु और याज्ञवल्क्य ही प्रमाण माने जाते हैं। इनकी कई टीकायें हैं। याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका के आधार पर बंगाल को छोड़कर प्रायः सभी भागों में दाय अर्थात् पैतृक सम्पति के बँटवारे के नियम लागू होते हैं और बङ्गाल में दायभाग का अधिकार माना जाता है।

इन स्मृतियों से ही जन्म से लेकर मृत्यु तक का मनुष्य-जीवन शासित होता है। इनमें सभी वर्ग के लोगों के धर्म हैं। यद्यपि स्मृतियों में सभी बातों का वर्णन है, तथापि उनमें वर्णाश्रम धर्म और संस्कारों की मुख्यता है।

मनु ने राजा को ईश्वर-रूप माना है। 'महती देवता ह्येषां नररूपेण-तिष्ठति' (मनुस्मृति ७।८), किन्तु उसको ब्राह्मणों और मंत्रियों की सलाह से काम करने का आदेश दिया है, उसको स्वेच्छाचारी नहीं माना है। राजा को विनीत रहने के लिए भी कहा गया है। समाज की स्थिति के लिए दण्ड-विधान को आवश्यक माना है। हर एक विभाग के लिए अलग-अलग अधिकारियों का विधान बतलाया है। जमीन की पैदावार का आठवें हिस्से से चौथाई हिस्से तक कर-स्वरूप लेने के लिए कहा है। न्याय के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को मृत्यु-दण्ड का निषेध किया है। गवाही के भी नियम दिये हैं। उसमें भी ब्राह्मणों को मुख्यता दी है। वर्णाश्रय धर्म में सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम को अधिक महत्ता दी गई है, क्योंकि जिस प्रकार वायु का सहारा लेकर और जीव-जन्तु बसते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के सहारे अन्य आश्रम जीवित रहते हैं।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।३।७७।।

गृहस्थ आश्रम का बड़ा ऊँचा आदर्श रखा गया है जहाँ भार्या से भर्त्ता सन्तुष्ट होता है और भर्त्ता से भार्या सन्तुष्ट होती है, उस कुल में नित्य कल्याण का वास होता है। (मनु० ३।५०)

मनु ने युद्धादि के नियम भी बतलाये हैं, जिनमें क्रूरता का निषेध किया गया है। मनु महाराज ने अहिंसा को भी महत्व दिया है, अहिंसा के साथ धर्म के चाहने वालों को अच्छे वाक्य बोलने का आदेश दिया है, 'वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णां प्रयोज्या धर्ममिच्छता'। विषयोपभोग से मनु महाराज ने भोग द्वारा विषय-वासना की शान्ति नहीं मानी है। उनका कहना है कि जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार वासना की पूर्ति से वासना बढ़ती ही है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।। (मनु० २।९४)

मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाह माने गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। यह क्रम श्रेष्ठता के अनुकूल है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि उत्तम विवाह तो उत्तम थे ही, किन्तु निम्न कोटि के विवाहों को भी धर्म का संरक्षण प्राप्त था। ब्राह्म में कन्या को यथाशक्ति अलंकृत करके सर्वगुण सम्पन्न कुलीन और योग्य युवक को, जिसे कोई रोगादि न हो, आमन्त्रित करके, दिया जाता है। आजकल जो विवाह होते हैं उनमें राक्षस विवाह की भी छाप रहती है। बरात एक फौज के रूप में जाती है, केवल जबरदस्ती नहीं की जाती। गान्धर्व विवाह वे होते थे जो स्वेच्छा से प्रेमपूर्वक वचन देकर किये जाते थे। स्मृतियों का समाज वर्णाश्रम धर्म-प्रधान समाज है। स्मृतियों में चार ही वर्ण आश्रम माने हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति कहलाते थे और सेवा और नौकरी करने वाले शूद्र। शूद्रों से भी नीचे अन्त्यज कहलाते थे। ये लोग अछूत थे। सब वर्णों के अपने-अपने जाति-धर्म थे। ब्राह्मणों का धर्म पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना और दान देना और लेना था। क्षत्रियों का धर्म प्रजा की रक्षा करना, दान, यज्ञ और पढ़ना है। वैश्यों का धर्म पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, ब्याज लेना और कृषि करना है। तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्रों का धर्म है।[2] यह विभाजन समाज में कार्य-विभाजन पर आश्रित था। मनुस्मृति आदि में जाति को जन्म से ही माना है। यद्यपि पुराणों आदि में जाति के परिवर्तन के भी उदाहरण हैं। सत्यकाम जाबाल को उसके सत्य बोलने के कारण उसके गुरु ने ब्राह्मण स्वीकार कर लिया था।

आश्रम चार माने गये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य में विद्याध्ययन होता है। गृहस्थ में विवाह करके पितृऋण, ऋषि-ऋण और देवऋण को चुकाते हुए जीवन-यात्रा की जाती है। वानप्रस्थ में स्त्री के साथ रहकर भी जंगल में स्वाध्याय और चिन्तन-मनन होता है और संन्यास में शिखा-सूत्र त्याग कर भिक्षा-वृत्ति करके उपदेश देने का कार्य करना पड़ता है। ये व्यक्ति के जीवन के विभाग हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इन आश्रमों में रहना पड़ता है। बिना गृहस्थाश्रम में रहे संन्यास नहीं लिया जा सकता है।

---

१. मनुस्मृति अध्याय, ३।२१।

२. मनुस्मृति, १।८८।९१।

८ महाकाव्य

काव्य के कई विभाग किये गये हैं। इनमें दृश्य और श्रव्य मुख्य हैं। दृश्य काव्य नाटकादिकों को कहते हैं। वे अभिनय प्रधान होते हैं और श्रव्य काव्य सुने जाते हैं, जैसे रामायण आदि। शकुन्तला या अभिज्ञान शाकुन्तल दृश्य काव्य का अच्छा उदाहरण है। श्रव्य काव्य के दो भेद हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध में आगे-पीछे का तारतम्य रहता है। मुक्तक इस बन्धन से मुक्त होता है। प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। खण्डकाव्य में एक ही प्रधान घटना रहती है। कालिदास का रघुवंश महाकाव्य है और मेघदूत खण्डकाव्य है। महाकाव्य आकार में तो बड़ा होता ही है, किन्तु इसके चरित्र नायक भी प्रख्यात और उदात्त वृत्तियों के होते हैं। दण्डी के काव्यादर्श और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में महाकाव्य के जो लक्षण दिये गये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

महाकाव्य की कथावस्तु कल्पित न होकर इतिहास-पुराण के किसी आख्यान पर आश्रित होनी चाहिये। उसमें शृंगार अथवा वीर रस का प्राधान्य होना चाहिये। उसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय उद्यान-बिहार, जलक्रीड़ा, यात्रा, युद्धादि का वर्णन होना चाहिये। शेष नियम आकार सम्बन्धी हैं।

संस्कृत के महाकाव्यकारों में दस कवि मुख्य हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भट्टिः, कुमारदास, माघ, रत्नाकर, कविराज और श्रीहर्ष। आगे हम इनका संक्षिप्त परिचय देंगे।

कालिदास—कालिदास संस्कृत-काव्य के उज्ज्वलतम रत्न माने जाते हैं। उनके सम्बन्ध में कहा गया है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

अर्थात् प्राचीन काल में कवियों की गणना में प्रसङ्ग में पहले कनिष्ठ उँगलि पर कालिदास का नाम गिना गया, दूसरा उस जोड़ का न मिलने के कारण कनिष्ठ उंगली के बाद की उंगली का अनामिका नाम आज भी सार्थक हो रहा है। कनिष्ठ उंगली के बाद की उंगली अनामिका ही कहलाती है (उँगुलियों के नाम इस प्रकार हैं—कनिष्ठका, अनामिका, मध्यमा, तर्जनी और अँगुष्ठ)। उनकी उपमाओं की बहुत ख्याति है—"उपमा कालिदासस्य"। कालिदास को लोग पहली शताब्दी ईसा पूर्व का

मानते हैं। वे विक्रमादित्य के नव-रत्नों में से थे। विक्रम सम्वत ईसा से ५७ वर्ष पूर्व का है। दूसरे मत के लोग इनको ईसा पश्चात् चौथी शताब्दी का मानते हैं। उनका कहना है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी। कालिदास ने रघुवंश और कुमारसंभव दो महाकाव्य लिखे हैं। मेघदूत उनका प्रसिद्ध खण्ड-काव्य है। रघुवंश में वैष्णव प्रभाव है और कुमार सम्भव में शैव। वे स्वयं शैव थे, क्योंकि रघुवंश के प्रारम्भ में भी उन्होंने शिवजी की प्रार्थना की है—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' (रघु० १।१) विष्णु और शिव का अभेद स्थापित करना और उनको समान रूप से मानना प्रायः सभी महाकवियों का लक्ष्य रहा है। यह समन्वय भावना भारतीय संस्कृति की एक विशेषता रही है।

रघुवंश में महाराज दिलीप से लगाकर रामचन्द्र जी तक के रघु के वंशजों का वर्णन है। इसमें १९ सर्ग हैं। पहले ९ सर्गों में राम के चार पूर्वजों का वर्णन है। दस से पन्द्रह तक राम का वर्णन है और शेष चार में राम के वंशजों का। कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में रघुवंशियों के जो गुण दिये हैं वे भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम सभी को समान महत्व दिया गया है।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनि वृत्तीनां योगेनान्ते तनु त्यजाम्॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्। (रघु० १।७–९)

अर्थात् जो लोग त्याग के लिये धन संचय करते थे, सत्य के लिये थोड़ा बोलते थे (किसी दम्भ या घमण्ड के कारण नहीं), यश के लिये रण में विजय प्राप्त करने की इच्छा रखते थे (न कि दूसरों का राज्य हड़पने के लिए या साम्राज्य बढ़ाने के अर्थ), सन्तानोत्पत्ति करके पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये विवाह करते थे (कामोपभोग के लिये नहीं) और जो लोग शैशव-काल में विद्याभ्यास करते थे, यौवन में विषयोपभोग करते थे, वृद्धावस्था में मुनि वृत्ति धारण करते थे और अन्त में योग द्वारा (आजकल की भाँति रोग द्वारा नहीं) शरीर छोड़ते थे, उन रघुवंशियों के वंश का मैं वर्णन करता हूँ, यद्यपि मेरे पास वाणी का वैभव बहुत क्षीण है।

रघुवंशियों में महाराज दिलीप के बहुत से अनुकरणीय गुण थे जो आर्य संस्कृति के परिचायक हैं। वे निडर होकर शरीर की रक्षा करते थे। बड़े के साथ धर्म का पालन करते थे। लोभ छोड़कर वे धर्म-संग्रह करते थे (लोभी मनुष्य संग्रह के औचित्य की ओर ध्यान नहीं देता) और मोह छोड़कर बिना आसक्ति के संसार के भोग भोगते थे।[1] इसमें धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की साधना आगई।

---

१. रघुवंश १।१७-२१।

रघुवंश में विशेषकर महाराज दिलीप के प्रसङ्ग में गौ-रक्षा, अहिंसा और भौतिक शरीर की अपेक्षा यश-शरीर को महत्व देने की बात बड़े स्पष्ट रूप से उभार में आती है।

गौ की सेवा जैसी महाराज दिलीप ने की थी वह आदर्श सेवा थी। उसकी रक्षा के लिये वे अपने प्राण तक न्यौछावर करने को तैयार थे। वे सभी प्रकार के प्रलोभनों से ऊँचे उठे रहे। महाराज दिलीप सिंह से कहते हैं कि यदि तुम मेरे ऊपर दया करके मेरी रक्षा ही करना चाहते हो तो मेरे यश शरीर पर दया करो (अर्थात् मेरे द्वारा कोई ऐसा कार्य न होने दो जिससे मेरे यश को बट्टा लगे)। शरीर जैसे भौतिक पिन्डों पर, जिसका एकमात्र परिणाम ध्वंस होना है, मुझ जैसे जीव आस्था नहीं रखते।

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानो पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥

(रघुवंश २।५७)

महाराज रघु ने त्याग तो इतना किया था कि उन्होंने दान देते-देते 'मृत्पात्र-शेषामकरोद्विभूतिम्'—अर्थात् अपनी सारी विभूति को मिट्टी के पात्र में सीमित कर दिया था।

सती साध्वी सीता में पातिव्रत धर्म का हमको बहुत ऊँचा आदर्श मिलता है। निर्वासित होने पर भी सीता यही कहती है कि प्रसूतिकार्य से निवृत्त होने पर मैं सूर्य से हाथ जोड़कर यही प्रार्थना करूँगी कि जन्म-जन्मांतर तक राम ही मुझको पति मिलें और कभी वियोग न हो।

साहं तपःसूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जनमान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

(रघुवंश १४।६६)

इसमें जन्मान्तरवाद का भी उल्लेख है जो भारतीय संस्कृति का मूल स्तम्भ है। सीताजी अपने निर्वासन को जन्मान्तर पातकों का फल बतलाती हैं।

कुमारसम्भव में कुमार कार्तिकेय की कथा है। कुमारसम्भव के १७ सर्ग हैं, किन्तु पंडितों का विचार है कि कालिदास के लिखे हुए केवल आठ ही सर्ग हैं, क्योंकि मल्लिनाथ की टीका केवल आठ ही सर्गों पर है। कुमारसम्भव का मूल सन्देश यही है कि कामोपभोग में संयम की आवश्यकता है। शिव ने भी कामदेव को भस्म करके ही शक्ति का वरण किया है और पार्वती भी घोर तप के पश्चात् ही शिव को प्राप्त कर सकी हैं। पार्वती जी अपने प्रेम में शिव के अमंगल भेष से भयभीत नहीं हुईं और बहकाने में भी नहीं आईं। पार्वती जी ने अनुभव किया है कि जिन शिव को वे अपने सौंदर्य से नहीं पा सकीं, उनको अपने तप और मन की निश्चलता से पा सकेंगी क्योंकि वैसा पति और वैसा प्रेम अन्यथा (तप के बिना) दुर्लभ है।

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां ।
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं,
तथा विधं प्रेम पतिश्च तादृशः ।। (कुमारसम्भव ५।२)

कुमारसम्भव के सम्भोग शृंगार में चाहे अश्लीलता आ गई हो और प्रवाद भी है कि उस वर्णन के कारण कालिदास को कुष्ट रोग से पीड़ित होना पड़ा, किन्तु उन्होंने सिद्धांत रूप से सच्चे सौंदर्य और पाप का कोई संयोग नहीं माना है।

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारितद्वचः। (कुमारसंभव ५।३६)

अर्थात् यह जो कहा जाता है कि रूप पाप वृत्ति के लिये नहीं है, यह वचन बिलकुल ठीक है। कुमारसम्भव में पत्नि को सब धर्म-कार्यों का मूल कारण माना है। 'क्रियाणां खलु धर्म्माणां सत्पत्नि मूल कारणम्' इसीलिये कामदेव को भस्म करने के पश्चात् महादेव जी ने विवाह करने का विचार किया।

भारतीय संस्कृति का यह महान सन्देश रहा है कि प्रेम में कर्तव्य की अवहेलना नहीं होनी चाहिये। तप और संयम प्रेम के लिये भी आवश्यक हैं। मेघदूत में यक्ष की असावधानी के ही कारण उसको निर्वासन का शाप भुगतना पड़ा। यही हाल शकुन्तला का हुआ। रघुवंश में सुदक्षिणा की भूल के ही कारण उसे कुछ दिनों निस्सन्तान होने की मानसिक पीड़ा सहनी पड़ी। भारतीय संस्कृति में काम को उचित स्थान दिया गया है, किन्तु अबाधित विलास के वह सदा विरुद्ध रही है।

अश्वघोष—ये बौद्ध दार्शनिक और कवि थे। इनको हिन्दू शास्त्रों का भी अच्छा ज्ञान था। ये कनिष्क के आश्रित थे। इनका समय ७८ ईसवी माना जाता है। पाश्चात्य विद्वान, जो कालिदास को चौथी शताब्दी का (ईसा पश्चात्) कहते हैं, अश्वघोष को ही पहला संस्कृत कवि मानते हैं। इनके काव्य का चीनी में भी अनुवाद हुआ था। इनके दो ग्रन्थ हैं—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द। इनका बुद्धचरित चीनी परम्परा के अनुसार २८ सर्ग का था। उसके अब अठारह ही सर्ग उपलब्ध हैं। एडविन आर्नोल्ड का Light of Asia और शुक्ल जी का बुद्धचरित इसी से प्रभावित हैं। दार्शनिक होते हुए भी वे शृंगारिक वर्णनों और हृदय की कोमल भावनाओं के चित्रण में पटु थे। सिद्धार्थ के जन्म के समय पृथ्वी के उल्लास को देखिये—

शाखासु शाखासु समुद्बभुर्विचित्रपत्रैः शतपत्रजातैः।
चकाशिरे तस्य विलोकनाय संजातनेत्रा इव शाखिनोऽपिः ।।३।१२।।

अर्थात् वृक्षों की प्रत्येक शाखा में रंग-बिरंगे पत्रों के साथ कमलों के समूह निकल आये जो ऐसे मालूम होते थे मानो वृक्ष सिद्धार्थ के दर्शन के लिये नेत्रों वाले हो गये हों। और देखिये :

ववर्ष वर्षा समयं बिनापिवलाहको वारिधिधीरघोषः।
आश्चर्य कर्माणि बभूवुरित्थं जाते सतामप्रसरे कुमारे ।।३।२१।।

अर्थात् गम्भीर शब्द करने वाले बादल समय के बिना ही बरसने लगे। इस प्रकार सज्जनों में अग्रगण्य कुमार के जन्म के समय आश्चर्य-कर्म हुए।

कुमार सिद्धार्थ का संसार से वैराग्य होने का वर्णन देखिये। यह वैराग्य की भावना अधिकांश महापुरुषों में मिलती है।

धिग् यौवने न जरया समभिद्रुतेन,
आरोग्य धिग्विविधव्याधिपराहतेन।
धिग् जीवतेन पुरुषो न चिरस्थितेन,
धिक् पंडितस्य पुरुषस्य रतिप्रसङ्गः॥

अर्थात् उस यौवन को धिक्कार है जिसके पीछे बुढ़ापा दौड़ता है, उस आरोग्य को धिक्कार है जो व्याधि से ग्रस्त हो जाय और उस जीवित रहने को भी धिक्कार है जिसमें पुरुष चिरस्थायी न हो और पंडितों के रतिरंग प्रसङ्ग को भी धिक्कार है। बौद्ध धर्म की धारा त्याग और वैराग्य की ओर झुकी हुई थी। अबाधित विलास की बहुत-सी प्रतिक्रियायें हुईं, उनमें से बौद्ध धर्म की भी एक प्रतिक्रिया है। छन्दक के बिना बुद्ध के लौट आने पर यशोधरा उसे बड़ा सुन्दर उपालम्भ देती है।

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना,
त्वया सहायेन यथार्थकारिणो।
गतोऽऽयंपुत्रोह्यपुनर्निवृत्तये,
रमस्व दिष्ट्या सफलःश्रमस्तव॥८।३४॥

अर्थात् तुम प्रिय थे, अपने अधीन थे, हित करने वाले थे, सज्जन थे, समय पर ठीक-ठीक कार्य करते थे, और तुम्हारी ही सहायता से मेरे जीवनधन न लौटने के लिये चल दिये। आनन्द करो, तुम्हारा श्रम सफल हुआ।

सौन्दरनन्द में भगवान् बुद्ध के उपदेश से प्रभावित हो नन्द द्वारा सुन्दरी के त्याग तथा सुन्दरी और नन्द की वियोग की कथा के साथ बौद्ध धर्म की शिक्षा भी है।

भारवि—इनका समय ६०० ईसवी के आस-पास है, क्योंकि ६३४ ई० के एहोल के शिलालेखों में इनका उल्लेख है। किरातार्जुनीय इनका कीर्ति-स्तम्भ है। यह उनका एक मात्र ग्रन्थ है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसका कथानक महाभारत के वन पर्व से लिया गया है। यह वीर-रस-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें द्रौपदी और भीम, युधिष्ठिर को फिर लड़ने के लिये प्रोत्साहन देते हैं। किरातार्जुनीय में भारतीय नारी की वीर भावना और उसके आत्म-गौरव के दर्शन होते हैं। उसके हृदय की व्यथा ही, जो पाण्डवों की दयनीय दशा के दर्शन से उत्पन्न हुई है उसे भाषण की नारी-धर्मोचित शालीनता छोड़कर युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिये प्रेरित करती है। वह 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' का उपदेश देती है—'व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु येन मायिनः' (१।३०), अर्थात् वे मूढ़ लोग पराजय को प्राप्त होते हैं जो मायावियों के प्रति मायावी नहीं बनते हैं।

द्रौपदी के उपालम्भ कुछ तीखे भी हो जाते हैं। वह कहती है कि अन्याय

देखकर चुप रहना वीरोचित कार्य नहीं है। श्रेष्ठ लोगों के लिये गर्हित अर्थात् घृणा-योग्य मार्ग पर चलने वाले आपको स्वयं आपका ही उद्दीप्त क्रोध, जैसे उद्दीप्त अग्नि जिसकी ऊँची-ऊँचीं शिखायें हो गई हैं, सूखे शमी वृक्ष को (छोंकर का पेड़ जो जल्द जल जाता है) शीघ्र ही जला देती हैं वैसे ही क्यों नहीं भस्म कर देती है ? शमी वृक्ष अग्निगर्भा होता है, वह स्वयं ही अपनी अग्नि से जल उठता है।

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते, विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः, शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ।।१।३२।।

इसकी द्रौपदी ने पहले ही क्षमा मांगली है। वैसे भी 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' (किराता० १।४) अर्थात् हित वचनों का मनोहर होना दुर्लभ है। युधिष्ठिर स्वाभाविक धर्मनिष्ठा तथा परिपक्व विचार के कारण सावधानी का आदेश देते हैं।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पदः ।।२।३०।।

एक साथ बिना सोचे-विचारे कोई काम नहीं करना चाहिए। अविवेक बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। जो आदमी सोच-विचारकर काम करता है उसके गुणों पर मुग्ध होकर सम्पत्ति स्वयं ही उसका वरण करती है। अन्त में महर्षि वेद-व्यास के परामर्श से अर्जुन तप करने जाते हैं। सुरांगनाओं ने उनकी तपस्या भंग करनी चाही, किन्तु वे प्रलोभन में न आये। अन्त में किरात भेष धारण कर स्वयं शिवजी आते हैं और अर्जुन की युद्ध-परीक्षा लेकर उन्हें पाशुपत अस्त्र प्रदान करते हैं।

भारवि के अर्थ-गौरव की प्रशंसा 'भारवेरर्थगौरवम्' कहकर की गई है। भीम के वाक्यों के अर्थ-गौरव की जो प्रशंसा युधिष्ठिर ने की, वह भारवि के किरातार्जुनीय पर भी लागू होती है, और कुछ विशेष भावात्मक रूप से।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ।।२।२७।।

भारवि ने कहीं-कहीं पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर भी रुचि दिखाई है। एक श्लोक में केवल उन्होंने नकार का ही प्रयोग किया है। ऐसे शब्द-चमत्कार में भी भाव का तिरस्कार नहीं हुआ है। इसी के साथ इसमें वीरोक्तियों के साथ संयम और वास्तविक गुणों की स्वीकृति के अपूर्व दृश्य मिलते हैं। मतभेद होते हुए भी मर्यादा का तिरस्कार नहीं हुआ है। अर्जुन जैसे वीर को भी तपस्या द्वारा युद्ध की तैयारी करनी पड़ती है। तैयारी और तप की दृढ़ता और कार्य-सिद्धि के लिए योग्यता प्राप्त करना ही इसका सांस्कृतिक संदेश है....।

भट्टि—भट्टि का समय ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध या सातवीं के आरम्भ में ठहरता है। रावण वध या भट्टि काव्य की कथा रामायण से ली गई है। पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का आरम्भ जो हम भारवि में देखते हैं, भट्टि में पूर्ण-

रूपेण दिखाई पड़ता है। उसमें राम-कथा के सहारे व्याकरण के नियमों में उदाहरण उपस्थित करने की प्रवृत्ति है, किन्तु उसमें कृत्रिमता नहीं आने पाई है। उसमें २२ सर्ग हैं। अलंकारों के वर्णन बड़े सुन्दर हैं। 'एकावली' का एक उदाहरण लीजिये—

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट् पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥२।१६॥

उस शरद ऋतु में ऐसा कोई तालाब नहीं जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों, ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भौंरे न हों और ऐसा कोई भौंरा नहीं जो गुञ्जार न रहा हो तथा ऐसी कोई गुञ्जार नहीं जो मन को न हरती हो।

माघ—इनके असली नाम का पता नहीं है। माघ ने यह नाम क्यों स्वीकार किया इसका ठीक पता तो नहीं है, किन्तु कहा यह जाता है कि भारवि से इनकी प्रतिद्वन्द्विता थी। भारवि का अर्थ है सूर्य का प्रकाश। माघ मास में सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। माघ का विचार था कि उनकी प्रतिभा के आगे भारवि की प्रतिभा मन्द पड़ गई थी। किरातार्जुनीय और नैषधचरित के साथ माघ के शिशुपाल-वध की गणना संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में होती है।

शिशुपाल-वध की रचना किरातार्जुनीय के आदर्श पर हुई है। दोनों के ही नायक तप के लिये जाते हैं और दोनों में ही पर्वतों का सुन्दर वर्णन मिलता है। प्रकृति-चित्रण महाकाव्यों की विशेषता रही है और भारतीय संस्कृति में भी प्रकृति को विशेष महत्व मिला है। किरात के सर्गों के अन्तिम पद्यों में लक्ष्मी शब्द आता है, जैसे किरात के द्वितीय सर्ग के अन्तिम श्लोक में—'लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः' तो माघ में श्री, जैसे शिशुपाल वध के बारहवें पद के अन्तिम श्लोक में 'सदसि सरिस सा श्री भर्तुर्वृहदर्थ मण्डले। दोनों के प्रारम्भ में श्री शब्द आता है। किरात में जैसे वर्णन के उदाहरणार्थ 'न' के अनुप्रासमय श्लोक हैं, वैसे माघ में भी 'द' आदि के और कहीं-कहीं दो-दो वर्णों के अनुप्रास हैं। शिशुपाल वध में २० सर्ग हैं।

शिशुपाल वध में भगवान् कृष्ण का ईश्वरत्व स्वीकार करते हुए उनको धीर-वीर के रूप में दिखाया गया है। वे गालियाँ तक सुनते रहते हैं और विचलित नहीं होते। इसमें वीर रस के साथ शृंगार का भी पुट रहा है। संस्कृत और पीछे हिन्दी के महाकाव्यों में यह परम्परा सी बन गई थी। माघ में भाव और अलंकार दोनों का ही प्राचुर्य है। जनता ने उनको बहुत मान दिया है। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥

कालिदास में उपमा की श्रेष्ठता है, भारवि में अर्थ-गौरव का चमत्कार है और दण्डी में पदलालित्य की विशेषता का। माघ में तीनों ही गुण हैं। माघ में वर्णन के वैचित्र्य तथा सरसता के साथ क्लिष्टता भी है।

श्रीहर्ष—श्रीहर्ष नैषधीयचरित के कर्ता हैं। जनता से मान प्राप्त करने में ये माघ से भी आगे बढ़े-चढ़े हैं। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—'उदिते नैषिधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः' अर्थात् नैषध के उदय होने पर कहाँ माघ और कहाँ भारवि ? यह मत सर्वमान्य नहीं है। एक किंवदन्ती है कि श्री हर्ष ने जब काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य को अपना काव्य सुनाया तब उन्होंने कहा—"अगर तुमने इस वाक्य को कुछ दिन पहले सुनाया होता तो मेरा बड़ा उपकार होता।" पूछने पर कि क्या उपकार होता उन्होंने कहा कि "दूषणों के अध्याय के लिये सब उदाहरण एक ही स्थान पर मिल जाते।" यह भी एक अत्युक्ति है।

श्रीहर्ष ने अन्य कवियों के विपरीत अपना जीवन-परिचय देने में संकोच नहीं किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक के प्रत्येक सर्ग के पीछे अपने माता-पिता का नाम कुछ गर्व के साथ दिया है। उनके पिता का नाम श्री हरि था और उनको 'कवि-राजराजि मुकुटालंकार हीर' कहा है और उनकी माता का नाम मामल्ल देवी था। श्रीहर्ष हर्षवर्द्धन सम्राट से सर्वथा भिन्न हैं। ये कान्यकुब्जेश्वर महाराज जयचन्द्र की सभा में जाया करते थे और उनसे आदर-सम्मान सूचक आसन और दो बीड़े पाया करते थे—**'ताम्बूलमद्वयं आसनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'**। इनका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

नैषधचरित की कथा महाभारत से ली गई है, किन्तु कवि ने महाभारत की कष्ट-सहिष्णुता के स्थान में शृंगारिकता को अधिक स्थान दिया है। उन्होंने अपने काव्यों को 'शृंगारामृतशीत' अर्थात् शृंगार रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है। किन्तु इस 'शृंगारिकता में व्यक्तित्व का महत्व पूर्णरूपेण प्रकाश में आता है। दमयन्ती नल पर मुग्ध है, वह नल के सम्बन्ध में कहती है।

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कंठ पथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहणाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥ ३।५१ ॥

अर्थात् मन जिस मनोरथ को नहीं छोड़ता और जिसको मैंने अपने हृदय में धारण कर लिया है वह मेरे कंठ के मार्ग में कैसे आ सकता है अर्थात् मैं उसे कैसे कह सकती हूँ। हे हंस, कौनसी कुलीन कन्या नल के साथ पाणिग्रहण करने की अभिलाषा को अपने मुख से व्यक्त कर सकती है। दूसरे अर्थ में कौन विवेकवती कन्या चन्द्रमा को पकड़ने की अभिलाषा कर सकती है। श्रीहर्ष में श्लेषों का चमत्कार अधिक है। स्वयंवर में देवताओं का परिचय कराते हुए श्लेष द्वारा उन देवता का भी परिचय हो गया और साथ में असली नल का भी गुण-गान हुआ है। वैसा श्लेष, जो परिस्थिति के अनुकूल हो, अखरता नहीं है। नैषधचरित का हिन्दी अनुवाद भी हो गया है। माघ ने भी अपने शिशुपाल वध में शिशुपाल के द्वारा श्लेषयुक्त गालियाँ दिलाई हैं जिससे कि गालियाँ भी बनी रहें और माघ की भक्ति-भावना में भी ठेस न लगे। माघ के लिए उन श्लोकों का प्रशंसायुक्त अर्थ था।

तृतीय खण्ड

प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन

१ वर्णाश्रम धर्म
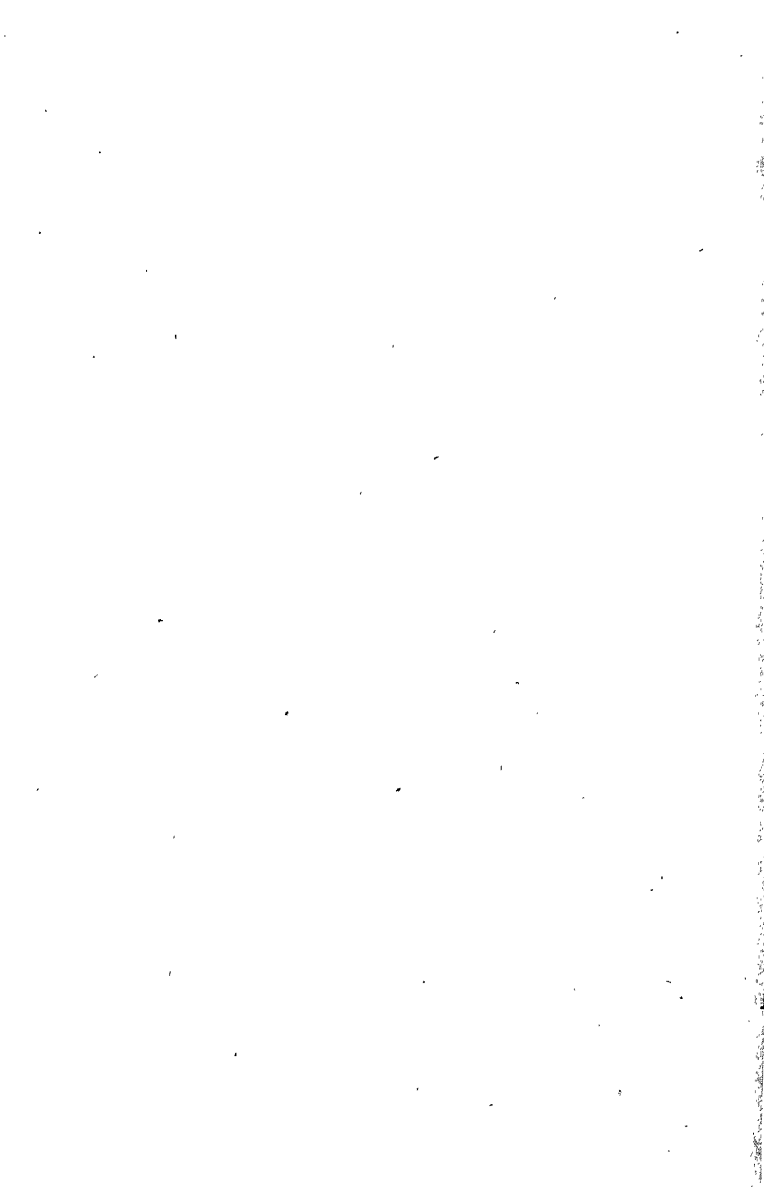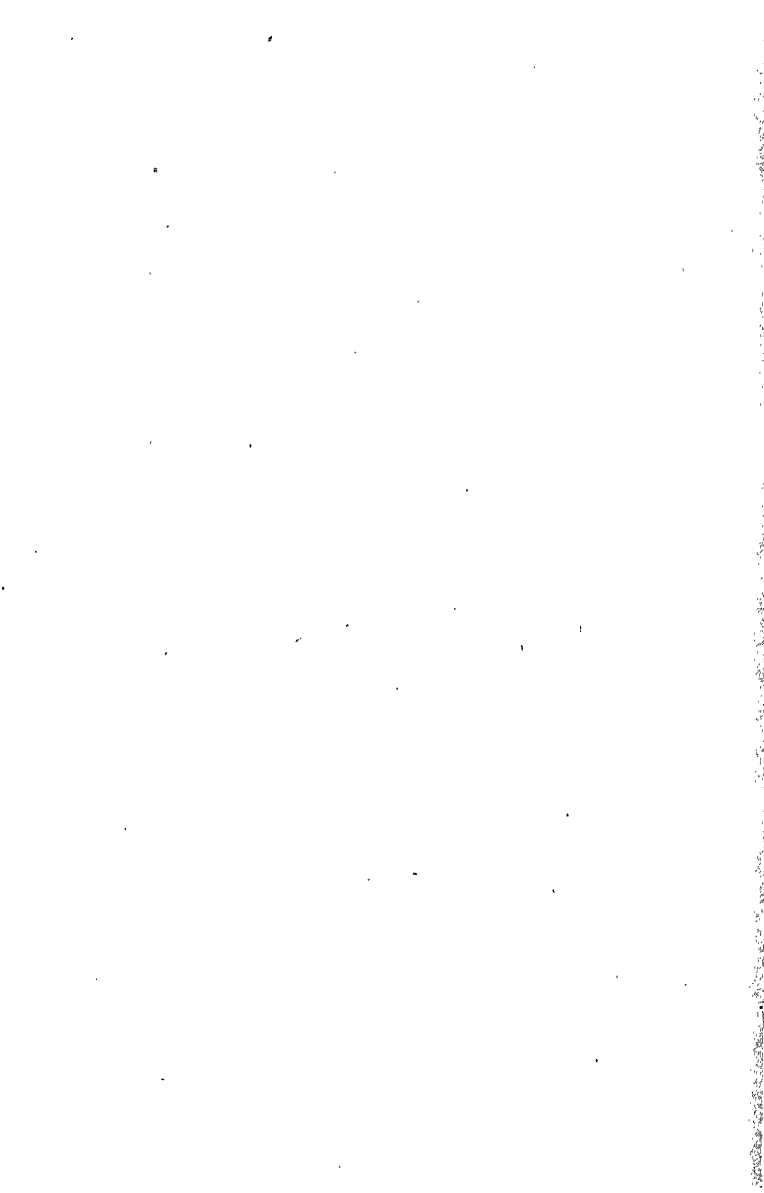
वर्ण विभाग—कार्यविभाजन की दृष्टि से भारतीय समाज को चार वर्णों में और मानव जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया था। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णव्यवस्था को गुण-कर्म के आधार पर माना गया है—"चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुण कर्म विभागशः" (गीता ४।१३)।[1] समाज को एक जीवित संस्थान या शरीर मानकर अवयवावयवी सम्बन्ध से भगवान के विराट स्वरूप में चारों वर्णों को स्थान दिया गया है। इन वर्णों की उत्पत्ति उनके कर्म और गुण-धर्म के अनुकूल शरीर के उन धर्म वाले अवयवों से उत्पत्ति मानी है। पुरुषसूक्त में लिखा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यःकृतः।
ऊरुतदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रोऽजायत्॥
(ऋ० स० १०।९०।१२)

अर्थात् इस विराट स्वरूप परमात्मा के ब्राह्मण मुखरूप हैं (मुख का काम बोलना है और बोलने के पीछे मनन और चिंतन भी लगा हुआ है।) बाहुओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई क्योंकि बाहु भौतिक बल के प्रतीक हैं, जंघाओं से वैश्यों की उत्पत्ति हुई (जंघाएं उत्पादन की द्योतक होती हैं। वैश्यों का काम भी समाज में कृषि-वाणिज्य आदि के द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन और वितरण है।) और शूद्र लोग विराटरूप भगवान् के चरणों से जन्मे (चरणों का काम शरीर के भार को धारण करना और उसको चलाना है। शूद्र लोग भी समाज के भार को धारण किये रहते हैं)।

मनुस्मृति में भी इसी विराट रूप से जातियों की उत्पत्ति पुरुषसूक्त के क्रम से ही मानी गई। उसमें बतलाया गया है कि यह उत्पत्ति संसार की विशेष वृद्धि या कल्याण के लिए हुई थी।

सभी वर्णों का महत्व—विराट के अंगरूप होने के कारण सभी वर्णों का अपना-अपना महत्व है। शूद्रों और अन्त्यजों का भी कम महत्व नहीं है।

मनु जी ने अहिंसा, सत्य अस्तेय, शौच तथा इन्द्रियनिग्रह को समान रूप से चातुर्वर्ण के लिए आवश्यक माना है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एवं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः। (मनु० १०।६३।)

---

१. ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं कि अपनी-अपनी जाति के कर्तव्य-कर्मों को यत्न पूर्वक करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है; क्योंकि इस प्रकार ईश्वर की आराधना की जाती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः। १८।४५।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक कविता में लिखा है कि भगवान् के चरण रूप होने के कारण शूद्र वन्द्य हैं क्योंकि लोग प्रायः चरणों की ही वंदना करते हैं। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने तो उनको सुरसरि का सहोदर कहा है, क्योंकि गंगाजी भी विष्णु पद-नख निर्गता कही जाती हैं।[1]

वर्णभेद—जन्म से या कर्म से—यद्यपि यह वर्ण-भेद गुण-कर्म से ही आरम्भ हुआ, तथापि पीछे से यह रूढ़ हो गया। शास्त्रों में कहीं-कहीं जन्म की अपेक्षा संस्कार को महत्ता दी गई है—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विजोच्यते।' सत्यकाम जाबाल का उदाहरण भी जाति को कर्मानुकूल सिद्ध करता है। किन्तु मनुस्मृति आदि में ऐसे श्लोक मिलते हैं जहाँ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन संस्कार के अलग-अलग समय दिये गये हैं जिससे कि यह प्रतीत होता है कि यह भेद जन्म से ही माना गया है। ब्राह्मण का यज्ञोपवीत गर्भ से आठवें वर्ष में बतलाया गया है, क्षत्रिय का ११ वें वर्ष में और वैश्य का बारहवें वर्ष में निर्दिष्ट किया गया है :

"गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥२।३६।
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुख बाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्तयत् ॥"१।३१।

वर्ण विभाग की प्राचीनता—चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था वैदिक है। वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्यान्य जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है। 'ब्राह्मोजातौ', 'क्षत्राद् घः', 'राजश्वशुराद् यत' आदि पाणिनीय सूत्रों से प्रमाणित होता है कि जन्म द्वारा वर्ण भेद वैदिक युग से है। व्यक्ति विशेष के गुण या कर्म के द्वारा जाति निर्णय असम्भव है। सत्य युग में अवश्य ही कुछ क्षत्रिय विशेष कारण से अथवा तपस्या के बल से उसी जन्म से ब्राह्मण हो गये थे। उस काल में जीवन यात्रा में किसी भी व्यवसाय में संलग्न स्त्री-पुरुष 'साक्षात्कृतधर्मा' ऋषिका तथा ऋषि तक हो सकते थे।"[2]

प्राचीनकाल की वर्ण-व्यवस्था का लचीलापन—प्राचीनकाल में वर्ण-भेद अवश्य था, किन्तु इतनी उपजातियाँ नहीं थीं जितनी कि अब हैं। अब तो ब्राह्मणवेशधारी

---

१. उत्पन्न हो तुम प्रभु पदों से जो सभी को ध्येय हैं।
तुम हो सहोदर सुरसरि के चरित्र जिसके गेय हैं॥ (भारत-भारती, भविष्यत खण्ड ८३)

२. कारूरहं ततोभिषगुपलप्रक्षिणी नना। (ऋग० ९।११२।३) अर्थात् एक ऋषि का कथन है कि मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है तथा माता पिसनहारी है।

मुसलमान की भाँति हमको भी आश्चर्यचकित होकर कहना पड़ता है "या अल्ला गोड़ों में भी और" । उन दिनों जाति के बन्धन तो थे किंतु इतने दृढ़ न थे कि कभी वर्ण परिवर्तन हो ही न सके । विश्वामित्रजी क्षत्रिय से ब्राह्मण बने थे और उन्होंने वशिष्ठ जी से प्रतिस्पर्द्धा भी की थी । विदेहराज राजर्षि जनक ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ समझे जाते थे और ब्राह्मण लोग भी आध्यात्मिक समस्याएँ उनके सामने रखते थे । तुलाधार वैश्य के यहाँ भी एक ब्राह्मण शिक्षा लेने गया था । परशुरामजी युद्ध के क्षत्रियोचित धर्म में प्रवृत हुए थे । गुरु द्रोणाचार्य ने महाभारत के युद्ध में कौरवों का साथ दिया था । अन्तर्जातीय विवाह भी बहुत अच्छे तो नहीं समझे जाते थे, किंतु होते थे ।

वर्ण-भेद के गुण-दोष—वर्णभेद यद्यपि अब एक दूषित अवस्था तक पहुँच गया है और जातियों और उपजातियों के भेद और उपभेद इतने बढ़ गये हैं कि वे समाज के संगठन तथा राष्ट्रीयता में बाधक होते हैं, तथापि उनका अपना महत्व है । जाति के आधार पर व्यवसाय वंशानुगत हो गये और एक जाति में परम्परागत होने के कारण दक्षता और कौशल बढ़ गया । इसके अतिरिक्त जातियों के भीतर पारस्परिक संगठन और समता का भाव भी बहुत श्लाघनीय रहा । वर्ण-भेद ने जातियों के अनुचित सम्मिश्रण तथा धर्म परिवर्तन को भी बहुत अंश में रोका । इन सब गुणों के होते हुए भी वर्ण-भेद सामाजिक विच्छेद का भी कारण बना । जहाँ एक वर्ण के लोगों के भीतर पारस्परिक प्रेम और समानता का भाव रहता है, वहाँ दूसरे वर्ण वालों के साथ कुछ दूरी का-सा सम्बन्ध हो जाता है । यदि विभिन्न जाति के लोग अपने-अपने समाज का सुधार उसे राष्ट्र का अंग मानकर करें तो इतना दोष नहीं है, किन्तु जहाँ जाति-भेद दूसरी जाति वालों को आतंकित करने के लिए होता है वहाँ वह श्लाघनीय नहीं रहता ।

श्रेणी भेद—यूरोपीय देशों में जाति-भेद या श्रेणी-भेद (Class differences) रहते हैं । उच्च श्रेणी का मनुष्य नीची श्रेणी के मनुष्य से शादी विवाह करने में संकोच करेगा । मोटर ड्राइवर आदि चाहे जितने विश्वस्त नौकर हों किन्तु वे कम से कम औपचारिक दावतों में एक मेज पर खाना नहीं खा सकते । ये भेद हैं अवश्य, किन्तु ये स्थिर और वंशानुगत नहीं है । शिक्षा और धन किसी को भी ऊँचा उठा सकता है । वहाँ छुआछूत का भी प्रश्न नहीं है । इसलिए योरोप के श्रेणी-भेद की भारत के जाति-भेद में तुलना करना ठीक नहीं है ।

हमारे भिन्न-भिन्न जातियों के बँधे हुए कर्म थे । जातियों को कर्म के अनुसार सुविधाएँ अवश्य थीं किन्तु उनका उत्तरदायित्व भी कम न था । वर्णों के धर्म मनुस्मृति में इस प्रकार बतलाये गये हैं ।

ब्राह्मण धर्म

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। (मनुस्मृति १।८८)

अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ये ब्राह्मण के धर्म कहे गये हैं। ब्राह्मण के लिए वेद का पढ़ना आवश्यक बतलाया गया है। जो वेदों को छोड़ अन्य व्यवसायों और शास्त्रों में परिश्रम करता है वह अपने जीवन में कुल सहित ही शूद्रत्व को प्राप्त होता है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। २।१६८ ।।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ब्राह्मण धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया है—

ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोध्येयो गेयश्च ।

छः अंगों सहित वेद का अध्ययन करके उसका ध्यान करने वाला ही ब्राह्मण है और ध्यानगम्य विषय का विश्व के हितार्थ गायन करके लोक को प्रवृत्त करना ही ब्राह्मण धर्म है। भगवान् कृष्ण ने गीता में ब्राह्मण कर्म का स्वरूप इस श्लोक में निरूपित किया है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। १८।४२ ।।

द्रौपदी ने युधिष्ठिर से ब्राह्मण के धर्म का कथन शांतिपर्व में इस प्रकार किया है—

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मास्यान्न राज्ञो राजसत्तमः ।। १४।१५ ।।

अर्थात् सब भूतों के प्रति मित्रता का भाव, दान, अध्ययन तथा तप ब्राह्मण के धर्म हैं किन्तु राजा को शोभा नहीं देते। जो त्रिकाल सन्ध्या नहीं करता, गायत्री मन्त्र को सिद्ध नहीं करता, वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी ब्राह्मण नहीं है।

क्षत्रिय धर्म

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।। १।८६ ।।

प्रजाओं की रक्षा, दान यज्ञ, अध्ययन, गीत, नृत्य भोगादि विषयों में आसक्ति का न होना, ये संक्षेप में क्षत्रियों के धर्म हैं। भोगों में आसक्ति होने के कारण प्रजापालन में बाधा पड़ती है। रघुवंशी राजाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'प्रजायै ग्रहमेधिनाम्' इसकी टीका करते हुए मल्लिनाथ ने कहा है 'नतु कामोपभोगाय' अर्थात् विवाह, पितृऋण चुकाने के लिए किये जाते थे कामोपभोग के लिए नहीं।

भगवान् कृष्ण ने क्षत्रियों के सात स्वभावज कर्म बताये हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। १८।४३ ।।

गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान ने कहा है कि क्षत्रिय के लिए धर्म युद्ध से श्रेयस्कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है—

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ २।३१॥

महाभारत के वनपर्व में छात्र धर्म की व्याख्या करते हुए द्रौपदी के वचन—

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते,
सर्वं भूतानि तं पार्थं सदा परिभवन्त्युत । २७।३८॥

अर्थात् जो क्षत्रिय समय आने पर भी अपने प्रभाव को प्रदर्शित नहीं करता, उसका सब प्राणी तिरस्कार करते हैं ।

वैश्य धर्म

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ (मनुस्मृति, १।९०)

पशुओं का रक्षण (श्रीमद्भगवद्गीता में 'कृषि-गोरक्षण वाणिज्य' कहा है । मनु ने इसको कुछ व्यापक बनाकर 'पशूनां रक्षणं' कहा है ।), दान, यज्ञ, अध्ययन, ब्याज लेना और खेती, ये वैश्य के धर्म रखे गये हैं ।

शूद्र धर्म

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ (मनुस्मृति, १।९१)

ईश्वर ने शूद्रों का एक ही धर्म बनाया था । वह है तीन वर्णों की बिना निंदा किये हुए सेवा करना ।

रामराज्य में सब वर्ण बिना किसी शिकायत के अपने-अपने धर्म में लगे रहते थे ।

आश्रम धर्म

जिस प्रकार समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है, उसी प्रकार व्यक्ति का जीवन भी चार हिस्सों में बाँटा गया है । आश्रमों के सम्बन्ध में जाबालोपनिषद् में इस प्रकार लिखा गया है—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृहीभवेद् गृहीभूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥

इस विभाजन में पहला भाग ब्रह्मचर्य, विद्या और शक्ति के उपार्जन का है । इसमें सारे जीवन के लिए तैयारी की जाती है । गृहस्थाश्रम, धनोपार्जन, समाज के भरण-पोषण और उसकी सेवा तथा जीवन के संयम के साथ उपयोग के लिए, वानप्रस्थ आश्रम स्वाध्याय और संन्यास की तैयारी का है, अपनी आध्यात्मिक उन्नति के साथ स्वार्थ का त्यागकर समाज की धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति में संलग्न हो जाना पड़ता है ।

ब्रह्मचर्याश्रम—वैदिक साहित्य में ब्रह्मचर्य का विशेष महत्व वर्णित है । यथा—

ब्रह्मचारी.......स दाधार पृथिवीं दिवंच ।' (अथर्व० ११।५।१)

ब्रह्मचारी ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही राजा राष्ट्र का संरक्षण कर सकता है। ब्रह्मचर्य से ही देवताओं ने मृत्यु को जीता और अमर हो गये—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।। (अथर्व० ११।५।१७-१९)

स्कन्दपुराण में ब्रह्मचर्य को सभी धर्म, साधनसिद्ध, श्री एवं कीर्ति आदि का मूल बताया है—

मूलं हि सर्वधर्माणां ब्रह्मचर्यं परं तपः ।
मूलश्रीः प्रोच्यते ब्राह्मी ब्रह्मचर्यस्वरूपिणी ।।

(स्कन्द०, रेवाखण्ड, १९४।२४।२५)

ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कारों से होता था। उपनयन के समय बालक यह प्रतिज्ञा करता था—

अग्नेव्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्तेप्रब्रवीमि तच्छकेयम् तेनध्यासम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।

अर्थात्, 'हे व्रतपते अग्निदेव ! मैं अनृत अथवा अज्ञान से सत्य अथवा प्रकाश की ओर चलना चाहता हूँ। आज से यही मेरा व्रत होगा। मैं इस व्रत को पूर्णतया पालन करता हुआ उन्नति के मार्ग पर बराबर अग्रसर होता रहूँ,' यही मेरी प्रार्थना है।' उसी अवसर पर आचार्य उस बालक को अपने संरक्षण में लेकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए सौ वर्ष की आयु होने का आशीर्वाद देता था तथा निर्देश देता था "सदा कर्मशील बनो, दिन में न सोओ, अधर्माचरण को छोड़कर आचार्य के अधीन होकर रहो। आहार विहार में यथोचित नियमों का पालन करते हुए सदा विद्योपार्जन में यत्नशील रहो।" ब्रह्मचर्य में केवल धर्म की प्रधानता रहती है। आजीविका की शिक्षा प्राप्त करने में अर्थ की तैयारी हो सकती है। गुरुकुलों में राजा और रंक के बालकों को एक-सी स्थिति में रहना पड़ता था। सब को भिक्षाचर्या करनी पड़ती थी। श्रीकृष्ण भी संदीपन मुनि के यहाँ सुदामा के साथ लकड़ी बीनने जाया करते थे। उस समय के लिए गुरु ही उसके पिता बन जाते थे। ब्रह्मचर्य का जीवन बड़ी कठिनाई और संयम का जीवन था। नित्य स्नान करके तब ऋषि और पितरों का तर्पण, देवता का अर्चन, समिधाओं से होम करना, उसका नित्य का कर्तव्य था। उसके लिए शहद, मांस, गन्ध, माला, रस और स्त्री वर्जित थीं। जो चीजें पानी में भीजी हुई समय पाकर खट्टी हो जाती हैं वे भी ब्रह्मचारी के लिए वर्जित थीं। इनके अतिरिक्त उबटन, नेत्रों में कज्जलादि का लगाना, पादुका और छत्र का धारण करना, काम (सभी प्रकार के विषय भोग इसमें आ जाते हैं), कोध, नृत्य, गीत, वाद्यादि सब चीजों का उसके लिए निषेध था। जुआ और निरर्थक वाद और कलह, पराई निन्दा, झूँठ, स्त्रियों की ओर देखना और दूसरों को नुकसान

पहुँचाना ये सब बातें ब्रह्मचर्य जीवन में मना थीं। (मनुस्मृति २।१७६-१७९)। पाश्चात्य शिक्षा और प्राचीन शिक्षा का अन्तर इन्हीं नियमों से जाना जा सकता है।

आज गुरुकुलों में भी इस आदर्श का मुश्किल से ही पालन होता है। कॉलेजों के लिए तो यह आदर्श आकाश-कुसुम सा हो रहा है। कॉलेजों के विद्यार्थियों का जीवन प्रायः विलासमय होता जा रहा है। उनका वातावरण ऐसा नहीं बनाया जाता जिसमें कि प्रलोभनों से वे बच सकें। फैशन के आवेश में फिजूलखर्ची के दुर्गुण बढ़ते जाते हैं। स्पोर्ट्स में चाहे एक मील की रेस में दौड़लें, किन्तु काम पड़ने पर बिना साइकिल के चार फर्लांग भी नहीं जा सकते हैं। शारीरिक परिश्रम करने में वे अपनी गौरव-हानि समझते हैं। शारीरिक परिश्रम और कार्यव्यस्त जीवन ब्रह्मचर्य के लिए सहायक होता है। खाली बैठना बुरे विचारों के लिए रंगस्थली बन जाता है। हिन्दू आदर्श में ब्रह्मचर्य केवल विद्योपार्जन का ही आश्रम नहीं था, वरन् चरित्र निर्माण और उन साधनों के अनुशीलन का भी था जिनके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। आजकल का विद्यार्थी ईश्वर और धर्म से बहुत दूर होता जाता है। भारतीय संस्कृति से वह इतना अनभिज्ञ रहता है कि देशी तिथियाँ तो क्या उसे यह भी मालूम नहीं रहता कि कौनसा महीना चल रहा है। अपनी भाषा बोलने में वह लज्जित होता है। देशी पोशाक को वह असभ्यता का द्योतक समझता है। विनय की अपेक्षा वह अपनी उदण्डता पर गर्व करता है। रात्रिजागरण, चाय, सिनेमा, सिगरेट का परिसेवन और स्वाध्याय से उदासीनता, ये उसके जीवन के मुख्य अंग हैं। विद्यार्थी-गण पूर्ण रूप से अध्ययन के विषय में भी अनुराग नहीं रखते। हमारा भावी समाज विद्यार्थियों से ही बनेगा। प्राचीन काल में गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करने पर गुरु द्वारा यह उपदेश दिया जाता था। आजकल के जीवन में हमारे विद्यार्थी इन उपदेशों को अपना पद प्रदर्शक बना सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्यं प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्य अनवद्यानि कर्माणि तानि त्वयो सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकंसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।१-२)

वेदाध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य शिष्य को उपदेश देता है—सत्य बोल। धर्म का आचरण कर। स्वाध्याय से प्रमाद न कर। आचार्य के लिए अभीष्ट धन लाकर उसकी आज्ञा से स्त्री परिग्रह कर और सन्तान परम्परा का छेदन न कर। सत्य से प्रमाद न करना चाहिए। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (आत्म-रक्षा में उपयोगी) कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिए।

देवकार्य और पितृकार्यों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। तू मातृदेव (माता ही जिसका देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्यदेव हो और अतिथिदेव हो। जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए— दूसरों का नहीं। हमारे (हम गुरुजनों के) जो शुभ आचरण हैं, तुझे उन्हीं की उपासना करनी चाहिये।

गृहस्थाश्रम—वेदों के विवाह सम्बन्धी सूक्तों तथा सामनस्य सूक्तों में गृहस्थाश्रम की महत्ता का वर्णन मिलता है—

गृह्णामि ते सौभगत्वायहस्तं
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। (ऋक० १०।८५।३६)

वर वधू से कहता है—'हे वधू ! हम दोनों की सौभाग्य समृद्धि के लिए मैं तुम्हारा पाणिग्रहण कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसाद रूप में गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए प्राप्त किया है।

विवाह का लक्ष्य यही है कि पति-पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम में संयम तथा सच्चरित्रता का पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए अपना पूर्ण विकास कर सकें—

ऋतस्ययेनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सहपत्या दधामि। (ऋक० १०।८५।४७)

स्त्री के बिना पुरुष के व्यक्तित्व की पूर्णता नहीं है। पत्नी शब्द का अर्थ पाणिनिसूत्र में इस प्रकार है—**पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।** (४।१।३३)

अर्थात् जो पति के साथ में यज्ञों का सम्पादन करे। वैदिक कर्मकाण्ड के संपादनार्थ पति-पत्नी दोनों का सहयोग आवश्यक माना जाता था। वैदिक मन्त्रों में गृहस्थाश्रम के महत्व एवं उत्तरदायित्व का वर्णन स्थान-स्थान पर हुआ है। मन्त्रों में यह भी प्रार्थना मिलती है कि पति-पत्नी को जीवनपर्यन्त साथ रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिए। स्त्री-पुरुष के आपस में व्यवहार के सम्बन्ध में यह मन्त्र मिलता है—"हम दोनों की आँखें मधु के समान प्रेममय अमृत से सिंची हों, हम दोनों का मिलन सुखपूर्ण हो। हे प्रियतम और प्रियतमे, मुझको तू अपने हृदय के अन्दर रख ले, हम दोनों का मन सदा साथ रहे।"

गृहस्थी का चित्र

सूनृतावन्तस् सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अक्षुध्या अतृष्यासोगृहामास्मद् बिभीतिनः।।

× × ×

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।।
उपहूता भूरिधनास् सखायस् स्वादु संमुदः।
अरिष्टास् सर्वपुरुषा गृहानस् सन्तु सर्वदा।।

[पैप्पलाद (अथर्ववेद) संहिता—३, २६, ३ और ५-६]

"अर्थात् जिन घरों के निवासी आपस में मधुर और सभ्य सम्भाषण करते हैं (कटु वचन और कटु व्यवहार से बचते हैं) जहाँ सौभाग्य रहता है, प्रीतिभोज

होता है, जहाँ सभी हँसी-खुशी से रहते हैं, जहाँ न कोई भूखा है और न प्यासा वहाँ कहीं से भय का संचार न हो। हमारे घरों में दुधारू गायें हैं, भेड़-बकरियाँ भी हैं। अन्न को अमृत-तुल्य बनाने वाले रस भी हैं।

प्रचुर धनी मित्र इन घरों में आते हैं और प्रसन्नतापूर्वक भोजन में सम्मिलित होते हैं। हमारे घर के अन्दर रहने वाले प्राणी गृह-गृहीन रहित (रोग रहित) रहें।" —पं० मोहनलाल मोहता 'वियोगी'

गृहस्थ जीवन में धर्म, अर्थ और काम तीनों को यथोचित (किन्तु एक मर्यादा के भीतर) महत्ता मिलती है।[1] वानप्रस्थ और संन्यास में धर्म और मोक्ष की साधना की जाती है। इस प्रकार हमारे जीवन का तीन-चौथाई भाग प्रकृति के सम्पर्क में धर्मोपार्जन में जाता है। गृहस्थ आश्रम द्वारा तीन पुरुषार्थों की तो निश्चय रूप से और चौथे की भी गौण रूप से सिद्धि हो जाती है। उससे और आश्रमों का भी भरण-पोषण होता है। इसीलिये मनु महाराज ने उसे सब आश्रमों से श्रेष्ठ माना है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सब जन्तु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ के ऊपर अन्य आश्रम अन्नादि के लिए निर्भर रहते हैं। इससे गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में श्रेष्ठ हैं।

यथावायुं समाश्रित वर्त्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मान्त्रयोऽप्या श्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमोगृही॥

(मनुस्मृति ३।७७,७८)

इस आश्रम की सफलता जीवन की सफलता है। इसमें जीवन की समस्त शक्तियों का समन्वयपूर्ण विकास हो जाता है और जीवन की सम्पन्नता के दर्शन होते हैं। यद्यपि इस जीवन में कठिनाइयाँ हैं और इसका सुख अमिश्रित सुख नहीं है, तथापि समाज की स्थिति और उन्नति इसी पर निर्भर होने के कारण इसके दुःख भी सुख रूप हो जाते हैं। आपत्तियों से भागने में सुख नहीं है, उनका सामना कर उन पर विजय पाने में ही गौरव है। यद्यपि संन्यास से भी मनुष्य समाज-सेवा से विरत नहीं होता है, तथापि गृहस्थाश्रम में जितनी समाज सेवा हो सकती है उतनी और आश्रमों में संभव नहीं।

पंच महायज्ञ—पंच महायज्ञ ये हैं—(१) ऋषियज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृयज्ञ, (४) भूतयज्ञ, (५) नृयज्ञ। प्रत्येक गृहस्थ को उपरोक्त पाँच प्रकार के यज्ञ नित्य करने की आज्ञा दी गई है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पित्रयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवोबलिर्भौतो नृयज्ञोतिथिपूजनम्॥ (मनु० ३।७०)

---

१. धर्मार्थकामेभ्योनमः ॥१॥ (कामसूत्र)

अर्थात् ऋषि लोगों का ऋण वेद-शास्त्रादिकों के पढ़ने से, देवताओं का ऋण यज्ञ भाग से, पितरों का ऋण तर्पण और श्राद्ध से, भूतों का ऋण पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि को अन्न दान करने से और मनुष्यों का ऋण अतिथि को परमेश्वर समझकर खिलाने से चुकता है। गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले को पंचयज्ञ अवश्य करने चाहिए, ऐसी हिन्दू धर्मशास्त्रों की मान्यता है। पंचयज्ञ करने से सब प्रकार से सुख प्राप्त होते हैं और भगवान भी प्रसन्न होते हैं।

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितृन् श्राद्धैश्च नान्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ (मनुस्मृति ३।८१)

अर्थात् स्वाध्याय से ऋषियों की पूजा करनी चाहिये। मनीषियों के ग्रन्थों का मनन और स्वाध्याय उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन है। होम अर्थात् अग्निहोत्र द्वारा देवताओं की यथाविधि पूजा की जानी चाहिए। प्रत्येक सद्-गृहस्थ को गार्हस्थ्य अग्नि आवश्यक रूप से रखनी पड़ती थी। वह शव-दाह के समय घर से जाती थी। एक हाँडी में अब भी मृतक के साथ अग्नि घर से ही जाती है। पितृगणों की पूजा श्राद्ध-तर्पण द्वारा की जाती है। अतिथियों का पूजन नाना प्रकार के पकवानों से और जीव-जन्तुओं का बलिवैश्यदेव से। चींटी आदि ये विश्व के देवता माने जाते हैं। इस प्रकार ऋषि, पितृ, अतिथि और प्राणि मात्र के प्रति गृहस्थ को एक विशेष सौहार्द्र रखना पड़ता था।

"अथर्ववेद में अतिथि यज्ञ की महत्ता वर्णित है। जब गृहपति अतिथियों की प्रतीक्षा करता है तो वह इस प्रकार से देवयज्ञ करने का ही संकल्प करता है।"
(अथर्ववेद ६।६।१,३)

"जो पुरुष अतिथि के पहले भोजन कर लेता है वह अपने घरों की इष्टापूर्ति (सुख-संपत्ति) को खा जाता है।" (अथर्व० ६।६।३,१,७)

डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने पंच महायज्ञों का महत्व निरूपित करते हुए लिखा है "कर्मकाण्ड की दृष्टि को छोड़कर, इनका मौलिक अभिप्राय यही है कि प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि-दृष्टि और सर्वभूत-हित के आदर्शों के प्रकाश में ही अपने वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। उसको ज्ञान और विद्या की उन्नति में (=ब्रह्मयज्ञ), विश्व को नियन्त्रण में रखने वाली दैवी शक्तियों में (=देवयज्ञ), अपने पितृ-पितामह आदि की परम्परा में (=पितृयंज्ञ), प्राणियों के हित में (=भूतयज्ञ), और मानव के महत्व तथा मानव कल्याण में (=मनुष्ययज्ञ) बराबर आस्था रखनी चाहिए।"[1]

पंच यज्ञों के अतिरिक्त सात पाकयज्ञों का विधान है। इन यज्ञादिकों का विधान गृहस्थ को सत्कर्म में प्रवृत्त करना था जिससे वह ऋषि, देवता, पितृ, सखा,

---

१. **भारतीय संस्कृति का विकास** (प्रथम खण्ड), प्र० सं०, पृ० १४५।)

स्वजन, परिजन एवं अतिथिजन के प्रति अपना उचित कर्तव्य कर सके। भारतीय संस्कृति में गृहस्थ-आश्रम का आधार कर्तव्य-पालन ही था। इन कर्तव्यों को न करने वाला अप्रतिष्ठित एवं समाज की दृष्टि में हीन होता था।

सम्मिलित कुटुम्ब—हिन्दू गृहस्थ-आश्रम में सम्मिलित कुटुम्ब भी एक विशेषता है। यद्यपि आजकल के इस संघर्षमय जीवन में सम्मिलित कुटुम्ब का पालन कठिन हो गया है, फिर भी यह भारतीय मनोवृत्ति का, जो समष्टि की ओर अधिक झुकी हुई है, द्योतक है। सम्मिलित कुटुम्ब में यद्यपि आलस्य को प्रोत्साहन मिलता है, फिर भी व्यक्तियों को अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता नहीं रहती है और संकट के समय एक दूसरे की सहानुभूति सहज ही में मिल जाती है। सम्मिलित कुटुम्बों में स्वार्थ की साधना पर नियन्त्रण रहता है, किन्तु यह तभी तक अच्छा है, जब तक प्रसन्नता से हो सके। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करे और कुटुम्ब पर भार रूप न बने तो यह हिन्दू-जीवन का वरदान बन जाता है किन्तु जहाँ नित्य कलह हो वहाँ यह अभिशाप हो जाता है।

जहाँ घर आनन्दमय हो, अर्थात् किसी प्रकार का कलह न हो, लड़के (और लड़कियाँ भी) बुद्धिमान हों, स्त्री मधुरभाषिणी हो, अच्छे मित्र हों और ईमानदारी से कमाया हुआ धन हो, स्त्री-पुरुष आपस में रति रखते हों अर्थात् व्यभिचारी न हों और नौकर आज्ञाकारी हों, हर रोज अतिथि-सत्कार होता रहे, कल्याणकारी भगवान् का पूजन हो, घर में मिष्ठान और सुन्दर भोजन, पान की सामग्री नित्य वर्तमान रहे और साधुओं-सज्जनों का सत्संग होता रहे, ऐसा गृहस्थाश्रम धन्य है।

घरों में प्रायः कलह का कारण धन होता है अथवा अधिकार-प्रदर्शन। धन के लिए तो यह समझना चाहिए कि जन की अपेक्षा धन का महत्व नहीं है। थोड़ी-सी हानि से बचने या लाभ के कारण अपने बन्धु से वैर कर लेना बुद्धिमत्ता नहीं। जिनको पीछे से मनाना पड़े उनसे कभी बैर करना ही नहीं चाहिए। अपनों से तो हार में ही जीत समझनी चाहिए। इस सम्बन्ध में तुलसी की शमनकारिणी नीति श्लाघनीय है—

> **जे परि पाँय मनाइये तासों रूठि विचारि।**
> **तुलसी तहाँ न जीतिए जहाँ जीते हूँ हारि।।** (दोहावली, ४३०)

अधिकार जतलाने के सम्बन्ध में भी तुलसीदासजी की शिक्षा अमूल्य है। वह कहते हैं कि ऊँची स्थिति का सब कोई लाभ उठाना चाहते हैं। सास-ससुर बनकर सब लोग डाँट-डपट करना चाहते हैं, बहू बनकर कोई भी नहीं रहना चाहता है। ऐसे ही माता-पिता सब कोई बनना चाहते हैं, बेटे की तरह कोई रहना नहीं चाहता है—

> **सासु, ससुर, गुरु, मातु, पितु, प्रभु भयो चहै सब कोइ।**
> **होनो दूजी ओर को, सुजन सराहिअ सोइ।।**
> **(दोहावली, ३९१)**

सारांश यह है कि सम्मिलित कुटुम्ब में जो विनम्र बनकर रहते हैं, वे ही सराहनीय हैं।

वानप्रस्थ आश्रम—वानप्रस्थ आश्रम के सम्बन्ध में मनु महाराज ने इस प्रकार आज्ञा दी है—

गृहस्थस्तु यदापश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।। ६।२ ।।

अर्थात् गृहस्थ जब यह देखे कि उसकी शरीर की त्वचा शिथिल हो गई है अर्थात् झुर्रियाँ पड़ गई हैं और बाल पक गये हैं तथा सन्तान के सन्तान हो गई है, तब वह विषय-राग रहित हो वन का आश्रय ले। वानप्रस्थ आश्रम में दीक्षित हो जाने पर वह ग्रामों में उत्पन्न होने वाले सब प्रकार के भोज्य पदार्थ एवं शैय्या आदि को त्याग कर और स्त्री को पुत्रों के आश्रय में रखकर अथवा साथ लेकर जितेन्द्रिय होकर घर से निकले। तब वन में अग्निहोत्र और उसकी सामग्री लेकर जावे तथा वहाँ जितेन्द्रिय होकर रहे—

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ।।
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।। ६।३।४ ।।

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले के लिए कहा गया है कि वह सदैव वेदाध्ययन में लगा रहे। जाड़े और गर्मी के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर संयत वय के साथ सबका उपकार करता रहे। वह सदा यथाशक्ति दान देता रहे और दान लेने से बचता रहे। वह प्राणिमात्र के प्रति कृपाभाव बनाये रखे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।। ६।८ ।।

इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम का जीवन स्वाध्याय, अग्निहोत्र एवं संयम और सब जीवों के प्रति करुणा तथा मैत्री का था।

वानप्रस्थ के लिए तपस्या एवं तत्वज्ञान की प्राप्ति का विधान था। तप और तत्वज्ञान से वानप्रस्थी ब्रह्म में लीन हो जाने की इच्छा करता था। वानप्रस्थी के लिए ब्रह्मज्ञान का भी विधान है। एक श्लोक में कहा है—

प्रशान्त चित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ।।

अर्थात् उसी मोक्ष की इच्छा रखने वाले (वानप्रस्थी) को ब्रह्म ज्ञान देना चाहिए जिसका चित्त शान्त हो, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो, जिसके दोष नष्ट हो गये हों, जो उपदेशों के अनुसार चलने वाला हो, जो गुणी एवं आज्ञाकारी हो।

संन्यास आश्रम—संन्यास जीवन का चौथा आश्रम है। वानप्रस्थ में जीवन का तीसरा भाग बिताकर चतुर्थ अर्थात् शेष भाग को संन्यास में बितावे। वानप्रस्थ आश्रम में वह राग-द्वेष आदि से विमुक्त होने का अभ्यास कर लेता है।

मनुष्य अपने पिछले तीन आश्रमों में देवऋण, पितृऋण एवं ऋषिऋण को चुका देता है। चौथे आश्रम में वह अपने सब कर्मों को त्यागकर मोक्ष में मन लगाता है। इन तीनों ऋणों को चुकाये बिना मनु के अनुसार मनुष्य निम्न गति को प्राप्त होता है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्ष निवेशयत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ (मनु० ६।३५)

इस सम्बन्ध में मतभेद है कि गार्हस्थ्य आश्रम को पूरा करके ही मनुष्य संन्यास ले अथवा ब्रह्मचर्य में ही संन्यास ले ले। स्वामी शंकराचार्य तथा महर्षि दयानन्द के दो ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जिसमें सीधे ब्रह्मचर्य से संन्यास आश्रम में प्रवेश किया गया था।

परिव्राजक को दण्ड-कमण्डलु धारण करके विचरना पड़ता है। वह सब स्वादों से विरक्त रहकर मौन रहता है। वह सब कामोपभोगों से विरक्त हो जाता है। संन्यासी के लिये वन में रहने का निर्देश किया गया है। वह न तो यज्ञादि के लिये और न पकाने आदि के लिये अग्नि का संसर्ग रखता है और न वह कोई घर रखता है।

केवल अपने भोजन के लिये ग्राम का आश्रय ले, बुरे आदमियों का साथ न करे और स्थिरमति होकर रहे तथा मौन रखने के भाव को धारण करे अर्थात् वह ब्रह्म-चिन्तन में लगा रहे और सांसारिक प्रपंचों में न पड़े। वह संग्रही न हो और अपने शरीर-निर्वाह के लिये एक कमण्डलु रखे और वृक्ष के नीचे वास करे। वह सब में समताभाव रखे। वह देख-देख कर रास्ता चले कि जिससे जीवों की हत्या न हो। वस्त्र से छानकर जल पीवे और सत्य से पवित्र वाणी बोले और सदा अपने मन को पवित्र रखे।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ (मनु० ६।४६)

संन्यासी के लिए मन और वाणी का पूरा-पूरा संयम बताया गया है। उसको सबके साथ मैत्री भाव रखने का उपदेश दिया गया है। क्रोध करने वाले पर वह क्रोध नहीं करता, निन्दा करने वाले से कुशल-क्षेम की प्रेमपूर्वक वार्ता करता है। इन्द्रियों से प्राप्त विषयों की वार्ताओं को छोड़कर केवल ब्रह्म-ज्ञान की बात करता है तथा कभी मिथ्या नहीं बोलता। संन्यासी हमेशा आत्मरत हो जाता है। वह सब चीजों से निरपेक्ष होकर किसी वस्तु की अपेक्षा न रखकर निरामिष रहकर अपनी आत्मा की सहायता से सुख का अनुभव करता है अर्थात् उसका सुख इन्द्रियों से सम्बन्धित न रहकर ब्रह्म सुख का अनुभव होता है।

(मनु०, अ० ६, श्लोक ४७–४६)

इस प्रकार संन्यासी का जीवन विषय-सुख के त्याग और प्राणि-मात्र की कल्याण-कामना करते हुए मोक्ष की साधना का होता है।

वर्णाश्रम धर्म की महत्ता—इस धर्म की सबसे बड़ी विशेषता गीता के इस श्लोक से स्पष्ट है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः। १८।४५।
स्वभाव-नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ १८।४७॥

अर्थात् मनुष्य अपने-अपने कर्म में लगे रहकर ही सिद्धि प्राप्त करता है। स्वभाव से नियत कर्म को करने से ही मनुष्य को जीवन में सफलता मिल सकती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में सबको अपने-अपने कर्म में लगे रहकर कार्य करने की शिक्षा दी गई है। इस प्रकार वह पाप को प्राप्त नहीं होता। इसी से राष्ट्रोन्नति सम्भव है।

---

२ | सोलह संस्कार

संस्कारों का महत्व

मनुष्य के जीवन को जिस प्रकार चार आश्रमों में बाँटा गया है, उसी प्रकार उसके शरीर और मन के पूर्ण विकास और शुद्धि के लिये शास्त्रों में सोलह संस्कार बतलाये गये हैं। प्राचीन आर्यों ने मनुष्य का सारा जीवन धर्म के बन्धनों में बाँध रखा था। धर्म का आधार गर्भाधान से आरम्भ हो जाता था। मनुष्य-जीवन गर्भाधान से ही प्रारम्भ होता है और श्मशान में उसका अन्त होता है। इसीलिए मनुष्य-शरीर को स्वस्थ एवं मन को शुद्ध तथा अच्छे संस्कारों वाला बनाने के लिये गर्भाधान से लगाकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कार माने गये हैं। संस्कारयुक्त मनुष्य को ही मनु महाराज ने मानवधर्मशास्त्र का अधिकारी बतलाया है—

निषेकादि श्मशानान्तो मंत्रैयस्योदितो विधि।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ (मनु० २।१६)

यहाँ पर निषेक का अर्थ गर्भाधान बतलाया गया है तथा श्मशान-कर्म ही अन्तिम अन्त्येष्टि संस्कार है। इस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक सोलह संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति को ही मनु ने शास्त्राधिकारी बतलाया है।

सोलह संस्कार

(१) **गर्भाधान**—वह सर्वप्रथम संस्कार है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—"गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यास्मिन्येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम्" अर्थात् गर्भ का धारण अथवा वीर्य का स्थापन-गर्भाशय में स्थिर करना, जिस क्रिया से होता है उसी को गर्भाधान कहते हैं। सुश्रुत ने गर्भाधान के लिए कन्या की अवस्था १६ वर्ष तथा पुरुष की अवस्था कम से कम २५ वर्ष बतलाई है।

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागत वीर्यौ तौ जानीयात् कुशलोभिषक् ॥
(सुश्रुत सूत्रस्थान, अध्याय ३५।)

कारण यह है कि बिना सोलह वर्ष की अवस्था हुए गर्भाशय में बालक के शरीर को उचित रूप से बढ़ने के लिए उपयुक्त अवकाश प्राप्त नहीं होता तथा २५ वर्ष के बिना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं माना गया है। इसके लिये पारस्कर

गृह्यसूत्रों एवं शांखगृह्यसूत्रों में बतलाया गया है कि जब स्त्री रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पाँचवें दिन स्नान कर रजरोग रहित हो उसी दिन "आदित्यं गर्भमिति" मंत्रों से आहुति देते हुए हवन करे। उस समय पत्नी पति के वाम भाग में बैठे और पति वेदी के पश्चिमाभिमुख पूर्व दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे तथा ऋत्विजों को चारों दिशाओं में यथामुख बैठना चाहिए। इस प्रकार दिन में उचित रीति से हवन करके रात्रि को प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर यह गर्भाधान संस्कार करना चाहिए।

(२) **पुंसवन**—यह संस्कार गर्भाधान संस्कार के उपरान्त दूसरे या तीसरे महीने में होता है। गर्भस्थ वीर्य की पुष्टि के लिए यह संस्कार किया जाता है। पारस्कर तथा आश्वलायन गृह्यसूत्रों में लिखा है कि गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में इस संस्कार को करें—"अथ पुंसवनं पुरा स्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा।" (पारस्कर० १।१४) इस संस्कार के समय दूसरे या तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा अथवा उसकी पत्ती लेकर गर्भिणी स्त्री को दक्षिण नासापुट से सुंघावे और गिलोय, ब्राह्मी औषधि और सूंठी को दूध के साथ थोड़ा-थोड़ा नित्य खिलावें। अधिक शयन, अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक हर्रें आदि गर्भिणी को न खिलाई जावें, वह सूक्ष्म आहार करे, क्रोध, द्वेष, लोभादि दोषों में न फँसे। चित्त को सदैव प्रसन्न रखे तथा उसे शुभाचरण करने चाहिए क्योंकि गर्भिणी स्त्री की मानसिक स्थिति और कार्यों का अच्छा या बुरा प्रभाव बालकों पर पड़ता है।

(३) **सीमन्तोन्नयन**—इस संस्कार के लिए आश्वलायन गृह्यसूत्रों में गर्भ के उपरान्त चौथा महीना बतलाया गया है—

"चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्॥ (आश्व० १।१४।१)

किन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में गर्भ के उपरान्त छठा या आठवाँ मास इस संस्कार से लिए उपयुक्त माना गया है—

"पुंसवनवत्प्रथमे गर्भे मास षष्ठेऽष्टमे वा।" (पार० १।१५।१)

इस संस्कार के लिए शुक्लपक्ष में जिस दिन पुनर्वसु, पुष्य, अनुराधा, मूल, श्रवण, अश्विनी और मृगशिरा आदि पुल्लिंग वाचक नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो, वही दिन शुभ माना गया है। इसमें पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगंधित तैल डालकर कंघे से काढ़कर उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका या कुशा की मृदु छीपी वा सेही के काँटे से पत्नी के केशों को स्वच्छ कर पट्टी निकाले और पीछे की ओर सुन्दर जूड़ा बाँधकर यज्ञशाला में प्रवेश करावे। उस समय वीणा आदि बाजे बजाये जायें तथा सामवेद के मंत्रों का उच्चारण हो। उस दिन गर्भिणी खिचड़ी से हवन करके उसी को खाये तथा वृद्धायें एवं समीप बैठी हुई उत्तम स्त्रियाँ उसे ऐसा आशीर्वाद देवें—

"ओं वीर प्रसूस्त्वं भव, जीवप्रसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव।"

(गोभि० गृ० २।७।१३)

(४) **जातकर्म**—यह संस्कार प्रसव पीड़ा से लगाकर नालछेदन तक के कार्यों से सम्बन्धित है। प्रसव पीड़ा के समय गर्भिणी के शरीर पर पहले जल से मार्जन करना बतलाया गया है—

"सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति ॥" (पार० गृ० १६)

फिर पुत्र उत्पन्न होने पर उसे शुद्ध करके कोमल वस्त्र से पोंछकर पिता की गोद में देवे और पिता यज्ञ वेदी के समीप जाकर घी तथा मधु को सोने की शलाका से—"ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्। आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥" आश्व० गृ० १।१५।१॥ आदि मंत्रों का उच्चारण करते हुए—चटावे। पुनः चावल तथा जौ को शुद्ध पानी में पीसकर और वस्त्र में छानकर एक पात्र में रखके हाथ के अंगूठे और अनामिका से एक बिन्दु उसके मुख में डाले तथा हवन करके ऋत्विज् ब्राह्मणों से उसकी शतायु के लिए आशीर्वाद ग्रहण करे।

(५) **नामकरण**—जन्म के उपरान्त दसवीं रात्रि बीत जाने पर नामकरण संस्कार होता है।

"दशम्यामुत्थाप्य पिता का नाम करोति।" (पार० गृ० १।१७।१)

अर्थात् पिता ही बालक का ग्यारहवें दिन सुन्दर नाम रखे। उस समय यज्ञ, हवन, भोज आदि करने चाहिए, क्योंकि इनसे गृह-शुद्धि होती है तथा दो या चार अक्षरों का सुन्दर नाम रखना चाहिए।

(६) **निष्क्रमण**—पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार जन्म के चतुर्थ मास में यह संस्कार होता है—

"चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ (पार० १।१७।५,६)

उस समय बालक को स्नान कराकर तथा सुन्दर वस्त्र पहनाकर यज्ञवेदी के पास लाया जाता है और यज्ञ तथा हवन आदि करने के उपरान्त थोड़ा-सा बाहर शुद्ध वायु में भ्रमण कराया जाता है तथा दिन में सूर्य एवं रात्रि में चन्द्रमा के दर्शन कराये जाते हैं।

(७) **अन्नप्राशन**—आश्वलायन तथा पारस्कर गृह्यसूत्रों के अनुसार छठे महीने में[1] बालक का अन्नप्राशन संस्कार होता है—

"षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥१॥ घृतौदनं तेजस्कामः ॥२॥
दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥ (आश्व० १।१६।१—३ ॥)

अर्थात् उस समय बालक को घृतयुक्त भात अथवा दही, शहद और घी तीनों को भात के साथ मिलाकर खिलाया जाता है।[2]

---

१. दो दाँत निकल आने पर अन्नप्राशन होता है।

२. चावल खाओ, जौ खाओ, उरद की दाल खाओ और तिल खाओ। तुम्हारा यह भाग उत्तम फल प्राप्त करने के लिए नियत किया गया है। ऐ दाँतों, माता-पिता को (काटकर) कष्ट न देना। (ऋग० ६।१४०।२)

(८) **चूड़ाकर्म**—इसे केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार तीसरे वर्ष में यह संस्कार होना चाहिए—"तृतीये वर्षे चौलम् ।" (आश्व० १।१७।१) यही बात पारस्कर तथा गोभिलीय गृह्यसूत्रों में भी कही गई है, किन्तु गोमिलीय गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का समय तीन या एक वर्ष भी माना गया है। इस संस्कार के समय गर्भ के बालों को नाई से कटवाकर उन्हें शमीवृक्ष के पत्ते तथा दर्भ के सहित सकोरे में रख लिया जाता है और यदि कोई बाल उड़ भी जाता है तो उसे भी गोबर से उठाकर सकोरे में रख लिया जाता है। फिर उस सकोरे को नाई को दे दिया जाता है और वह जंगल में ले जाकर गड्ढा खोदकर उसमें उसको गाढ़ देता है अथवा गोशाला, नदी या तालाब के किनारे पर उसको गाढ़ देता है तथा क्षौर होने के उपरान्त बालक के सिर पर मक्खन तथा मलाई मलकर स्नान कराया जाता है और सुन्दर वस्त्र पहनाकर सभी गुरुजन आशीर्वाद देते हैं।

(९) **कर्णवेध**—इसे कनछेदन भी कहते हैं। यह संस्कार जन्म से तीसरे या पाँचवें वर्ष में किया जाता है—

कर्णवेधो वर्षे तृतीये पंचमे वा ।। (कात्या० गृ० १।२)

जो दिन कर्णवेध के लिए निश्चित किया जाता है उस दिन प्रातःकाल के समय बालक को शुद्ध जल से स्नान कराकर वस्त्रालंकार धारण कराये जाते हैं। बालक के हाथ में खिलौना दिया जाता है तथा उसके आगे खाने को कुछ पदार्थ रखे जाते हैं। फिर अच्छे वैद्य द्वारा पहले दाहिने कर्ण को और फिर वाम कर्ण को बेधा जाता है। तत्पश्चात् वही वैद्य अथवा स्वर्णकार उन छिद्रों में शलाका रखता है जिससे छिद्र भर न जायें और ऐसी औषधि भी लगादी जाती है जिसके कान पकते नहीं तथा जल्दी अच्छे हो जाते हैं। (कुछ लोगों ने कर्णवेध संस्कार को गौण माना है और कुछ ने मुख्य। इसका प्रचार यहाँ अधिक है, अतः यहाँ लिख दिया गया है। इसको १६ संस्कार की संख्या में शामिल न किया जाय।)

(१०) **उपनयन**—इसे यज्ञोपवीत संस्कार भी कहते हैं। तीनों वर्णों के बालकों के लिए इस संस्कार का पृथक्-पृथक् विधान बतलाया गया है। आश्वलायन और पारस्कर गृह्यसूत्रों में ब्राह्मण के बालक का उपनयन आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य के बालक का बारहवें वर्ष में करने का आदेश है। साथ ही शास्त्रों में यह भी लिखा है कि यदि ब्राह्मण बालक का १६ वें वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वें वर्ष तक और वैश्य का २४ वें वर्ष तक उपनयन नहीं होता तो वे पतित माने जाते हैं। किन्तु मनुस्मृति में ब्राह्मण बालक का जन्म से पाँचवें वर्ष में, क्षत्रिय का छठे वर्ष में, और वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन होना बतलाया गया है—

"ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।। (मनु० २-३७ ।)

इसी प्रकार ब्राह्मण का बसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का शरद् में यज्ञोपवीत होना ठीक है, वैसे सभी ऋतुओं में उपनयन हो सकता है और इसके लिए उचित समय प्रातःकाल माना गया है।

उपनयन संस्कार का भारतीय संस्कृति में सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित है। इस संस्कार के काल का अतिक्रमण हो जाने पर द्विजादि को समाज में पतित मानते थे। उपनयन में सामान्य विधि के उपरान्त पिता आचार्य का चयन करके उसके सम्मुख पुत्र को बिठाकर ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा कराता था। आचार्य ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत धारण कराकर अग्नि के समक्ष उससे कहता था—"हे शिष्य बालक, तेरे हृदय को मैं अपने अधीन करता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति एवं परमात्मा तुझको मुझसे युक्त करें।" शिष्य प्रत्युत्तर में कहता था "हे आचार्य! आपके हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी एकाग्र होकर सुनिये और परमात्मा मेरे लिये सदा आपको नियुक्त रखे।"

अथर्ववेद में आचार्यकर्म के महत्त्व का निरूपण करते हुए कहा गया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। ११।५।३॥

अर्थात् आचार्य अपने उपनयमान ब्रह्मचारियों के लिए उतनी सावधानी एवं ममता रखे जितनी गर्भस्थ शिशु के लिए माता रखती है।

(११) **वेदारम्भ**—गायत्री मन्त्र लेकर साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के अध्ययन करने के लिए जो नियम धारण किया जाता है, उसे वेदारम्भ संस्कार कहते हैं। जो दिन उपनयन संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है। यदि उस दिन यह संस्कार न हो सके अथवा करने की इच्छा न हो तो दूसरे दिन करना चाहिए, यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी भी दिन करना चाहिए। इसमें बालक कौपीन, एक कटिवस्त्र और एक उत्तरीय धारण करके दण्ड हाथ में लेता है और आचार्य के आधीन रहकर सांगोपांग वेदों का अध्ययन प्रारम्भ करता है।

(१२) **समावर्तन**—जिस समय ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए सांगोपांग वेद विद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थ-विज्ञान को पूर्ण रूप से प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए विद्यालय छोड़ा जाता है तब यह समावर्तन संस्कार होता है। इसे दीक्षान्त संस्कार भी कहते हैं। वेदाध्ययन की समाप्ति पर ही इसका विधान लिखा है।

"वेद समाप्तिं वाचयीत। (आश्व० १।१२।१६)

"वेदं समाप्त स्नायाद्। ब्रह्मचर्यंवाष्टचत्वारिंशकम्॥

(पारस्कर० २।६।१-२)

इस संस्कार में विद्यार्थी स्नान करके अपनी मेखला तथा दण्ड-कोपीनादि का परित्याग करता है तथा सुगन्धित द्रव्य शरीर पर मलकर सुन्दर वस्त्र व पीताम्बर धारण करता है। साथ ही, पगड़ी, दुपट्टा तथा टोपी या मुकुट एवं अलंकार धारण करके आचार्य का शुभाशीर्वाद ग्रहण करता है। आशीर्वाद प्राप्त कर अपने घर लौट आता है।

(१३) **विवाह संस्कार**—यह संस्कार पुण्य नक्षत्र एवं शुभ दिन में शुभ गोत्र की कन्या खोजकर किया जाता है। पारस्कार गृह्यसूत्रों में लिखा है—"पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत (॥१।२।४॥) उस समय इतना विचार किया जाता है कि वह कन्या माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, उसका कुल उत्तम हो, उसमें कोई रोगी न हो, वह पीत वर्ण की, अधिक अंग वाली जैसे छँगुली आदि, रोगवती, अधिक लोमवाली आदि न हो,। यह विवाह आठ प्रकार का बतलाया गया है—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनमें से ब्राह्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें कन्या के योग्य, सुशील विद्वान् पुरुष का सत्कार करके कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके उत्तम वर को बुलाकर कन्या दी जाती है। यह संस्कार उत्तम विधि-विधान द्वारा यज्ञ-वेदी में अग्नि को साक्षी बनाकर किया जाता है तथा वर एवं वधू दोनों आजीवन परस्पर सम्बन्धसूत्र में बँधने की प्रतिज्ञा करते हैं।[1]

गृहस्थाश्रम में प्रवेश विवाह करके होता है। प्राचीन ऋषियों ने स्त्री और पुरुष के सम्पर्क को विवाह की मर्यादा में बाँधकर सामाजिक व्यवस्था को दृढ़ किया था। वैदिक काल में विवाह के समय वर की आयु २५ वर्ष और वधू की १६ वर्ष की मानी गई, किन्तु स्मृतिकाल में कन्या के विवाह की आयु कम कर दी गई और ऋतुकाल से पूर्व ही उसका विवाह कर देना उत्तम माना गया। कामशास्त्र का मत है कि कन्या की आयु वर से ३ वर्ष कम होनी चाहिए।

विवाह संस्कार की मुख्य क्रियाएँ ये हैं—कन्या द्वारा वर के गले में जयमाल डालना, अग्नि की साक्षी देकर वर द्वारा कन्या का पाणिग्रहण तथा वर-वधू का अग्नि की सात प्रदक्षिणाएँ करना। वर अपने सम्बन्धियों के साथ कन्या के घर के द्वार पर पहुँचकर तोरण मारता है और कन्या के अभिभावक वर तथा बारात का स्वागत करते हैं। इस प्रकार कन्या वर के गले में वरमाला डालती है। अग्नि की साक्षी में अभिभावक कन्या का हाथ वर के हाथ में दे देते हैं। वैदिक मन्त्रों के साथ हवन होता है और अग्नि की सात प्रदक्षिणायें होती हैं जिसे सप्तपदी कहते हैं। इसके उपरान्त कन्या पूर्ण रूप से वर की पत्नी हो जाती है। विवाह संस्कार अर्थात् फेरे हो जाने के बाद भी कुछ मांगलिक क्रियाएँ होती हैं, जैसे वर द्वारा वधू को ध्रुवतारा

---

१. इस गृह में संतान उत्पन्न करके प्रसन्न होओ, यहाँ सावधान होकर कार्य करना। स्वामी के साथ अपने शरीर को सम्मिलित करो, वृद्धावस्था तक अपने गृह में प्रभुता करो।
हे वधू तुम सास, सुसर, ननद और देवरों की साम्राज्ञी बनो (ऋ० १०।८५)

दिखाना और आद्राक्षतारोपण विदा के समय पलंग पर वर-वधू के एक साथ बैठने पर वर-वधू के ऊपर कुटुम्बीजन और सौभाग्यवती स्त्रियाँ बारी-बारी से आद्राक्षतारोपण करती हैं।

विवाह की इन क्रियाओं के पश्चात् वर-वधू को सुहागरात मनाने के लिए 'कौतुक गृह' में पहुँचा देते हैं, जहाँ भरा हुआ कलश रखा रहता है।

गृहआश्रम संस्कार—इसे गार्हपत्य संस्कार भी कहते हैं। इसमें पुरुष ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करता हुआ नियतकाल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करता है तथा सत्यधर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाकर धर्मानुसार संतानोत्पत्ति करता है। इसमें सायं-प्रात: संध्योपासना, अग्निहोत्र, बलिकर्म आदि नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है तथा पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ-इन पाँच महायज्ञों को नित्य करता हुआ गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करता है।

(१४) **वानप्रस्थ**—जीवन के तृतीय भाग में मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। वह जीविकोपार्जन तथा अन्य सांसारिक कार्यों से विरक्त हो जाता है, किन्तु शिखासूत्र, संध्योपासन, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का त्याग नहीं करता। इस आश्रम में विधिवत् प्रवेश करने को ही वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं।

(१५) **संन्यास**—लोभ मोहादि के आवरण को छोड़कर पक्षपात रहित होकर विरक्त होता हुआ जब मनुष्य पृथिवी में परोपकारार्थ भ्रमण करने को उद्यत होता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार आयु के चौथे भाग में अर्थात् ७० वर्ष के पश्चात् होता है। इसमें प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त 'प्रजापत्येष्ठि यज्ञ' करके अर्थात् यज्ञोपवीत छोड़कर, आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणात्य नामक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके संन्यास लिया जाता है। इस संस्कार के समय शिखा के बाल और यज्ञोपवीत को जलांजलि सहित जल में होम किया जाता है।

(१६) **अन्त्येष्टि संस्कार**—यह अन्तिम संस्कार है। षोडस संस्कारों में अन्तिम अन्त्येष्टि संस्कार है जो मृत्यु के बाद मृत शरीर का किया जाता है। मृतक शरीर को स्नान कराकर उस पर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप किया जाता है। उसे नवीन वस्त्र में लपेटकर श्मशान ले जाते हैं, वहाँ वेदी बनाकर लकड़ियों की चिता पर शव को रखकर चिता को प्रज्वलित किया जाता है। इसके बाद वेद-मन्त्रों का उच्चारण[1] करते हुए आहुतियाँ दी जाती हैं और शव भस्म हो जाता है। मृत शरीर के भस्म हो जाने पर सब व्यक्ति घर लौट आते हैं और

---

१. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तशरीरम्
ॐ क्रतोस्मर कृतस्मर क्रतोस्मर कृतस्मर। (यजुर्वेद १०।१७)

तीसरे दिन अस्थियों का संचय करके उन्हें किसी पवित्र जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। दसवें या ग्यारहवें दिन मृतक के लिए पिण्डदान किया जाता है। चिता को जलाने के लिए अग्नि घर से ही श्मशान को ले जाई जाती है और फिर घर में तीन दिन अग्नि नहीं जलती तथा तीन दिन बाद नई अग्नि जलाई जाती है।

महत्त्व—भारतीय संस्कृति में संस्कारों का विशेष महत्त्व रहा है। संस्कारों के चार प्रयोजन इस प्रकार हैं :

(१) पवित्रता।

(२) वैदिक अध्ययन, कर्त्तव्य आदि की उपयोगिता।

(३) उत्सव के प्रति अभिरुचि, और

(४) सामाजिकता।

यद्यपि आज अनेक संस्कारों के रूप में युग की परिस्थितियों के अनुसार बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है फिर भी कुछ संस्कार अब भी प्रचलित हैं और संस्कारों की पवित्र भावना का हिन्दू समाज में महत्त्व है। इस समय संस्कारों को कराने वाले योग्य पण्डितों के अभाव तथा पाश्चात्य सभ्यता के कुप्रभाव के कारण संस्कारों का वास्तविक रूप लुप्त हो गया है और केवल लकीर ही पीटी जा रही है। भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन की आधारशिला इन संस्कारों पर ही रखी गई है। इनका समुचित पालन करने से ही मनुष्य समृद्ध और सुखी तथा अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल होता है।

संस्कारों का महत्त्व

"समाज विज्ञान की दृष्टि से भी संस्कारों का अध्ययन बड़ा महत्त्व रखता है। प्रत्येक समाज अपने मूल्यों और धारणाओं को सजीव और सुरक्षित रखने के लिए उनके प्रति निष्ठा और विश्वास उत्पन्न करता है। इसके लिए सामाजिक तथा धार्मिक प्रेरणा और अनुशासन की आवश्यकता होती है। संस्कार इस प्रकार की प्रेरणा और अनुशासन के सफल माध्यम हैं। केवल विधि और संविधान पर अवलम्बित रहने वाली कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक स्थायी नहीं हो सकती, जब तक उसकी जड़ सामाजिक-मन में दूर तक नहीं पहुँचती। किसी भी सामाजिक विनय अथवा व्यवस्था के पीछे शतियों और सहस्राब्दियों का संस्कार काम करता रहता है।"

—**डॉ० राजबली पाण्डेय**

३ प्राचीन भारत में शिक्षा पद्धति

ऋग्वेद काल में शिक्षा

ऋग्वेद काल आर्य सभ्यता का समुन्नति का युग था। सभी क्षेत्रों में आर्य-संस्कृति का विकास हो रहा था। शिक्षा की व्यवस्था से समाज में धार्मिक आस्था एवं संस्कृति का विकास हो रहा था। भारतीय आर्यों ने अपने प्रभातकाल (ऋग्वेद काल) में ही अध्यात्म एवं दर्शन के क्षेत्र में जो उन्नति की वह आज भी हमारे लिए आश्चर्य का विषय बनी हुई है।

ऋग्वेद काल में ब्राह्मण-वर्ग ही शिक्षा की व्यवस्था करता था। प्रत्येक ब्राह्मण का घर ही एक प्रकार से पाठशाला था और ब्राह्मण अध्यापक था। ये ब्राह्मण गुरु, शिक्षक और पण्डित आदि के नाम से विख्यात थे और इनके विद्यार्थी स्वयं इनके पुत्र-पौत्रादि होते थे। इस प्रकार कौटुम्बिक शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी। ऋग्वेद में सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं का उल्लेख नहीं मिलता।

ऋग्वेद में कहीं भी लेखन का उल्लेख नहीं है जिससे विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि वेदमंत्र आदि कंठस्थ किये जाते थे, उच्चारण को विशेष महत्व प्राप्त था। तपस्या शिक्षा पद्धति का प्रमुख अंग थी। विद्यार्थी के आत्म-शिक्षण का प्रमाण हमें ऋग्वेद के अनेक मंत्रों से प्राप्त होता है।[1] ब्रह्मचारी विद्यार्थी आत्मानुभूति के लिए तप करते थे। एक स्थान पर लिखा है कि ब्रह्मचारी दादुरों की भाँति पढ़ते थे। वेदमंत्रों को कंठाग्र करने के लिए यह आवश्यक था। अतः इससे भिन्न शिक्षा-पद्धति संभव नहीं थी।

उत्तर वैदिककाल में शिक्षा—उत्तर वैदिककाल में सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना हुई। अथर्ववेद में तत्कालीन शिक्षा पद्धति का वर्णन मिलता है। उपनयन संस्कार होने पर ब्रह्मचारी को आचार्य का संरक्षण एवं आशीर्वाद मिलता था। उपनयन के समय बालक यह प्रतिज्ञा करता था—

अग्ने व्रतपते व्रतंचरिष्यामि तत्तेप्रब्रवीमि तच्छकेयम्। आदि

अर्थात् हे व्रतपते अग्नि देव! मैं अनृत अथवा अज्ञान से सत्य अथवा प्रकाश

---

१. ऋग० १०।१०९।४; १०।१५४।२; १०।१९०।१

की ओर चलना चाहता हूँ। आज से यही मेरा व्रत होगा। उसी अवसर पर आचार्य उसे अपने संरक्षण में लेता हुआ आशीर्वाद देता था कि तुम बराबर उन्नति के मार्ग पर चलते हुए सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करो। सदा कर्मशील बनो। दिन में न सोओ। अधर्माचरण को छोड़कर आचार्य के आधीन रहो। आहार-विहार में यथोचित नियमों का पालन करते हुए सदा विद्योपार्जन में यत्नशील रहो।

इस प्रकार ब्रह्मचारी 'द्विज' (दूसरा जन्म) बनता था। उसे नवीन वस्त्र (कर्षणम् वसनाः, मेखला तथा बड़े बाल) धारण करने पड़ते थे। 'श्रम और तप' का जीवन व्यतीत करते हुए, आचार्य के स्नेहमूलक अनुशासन में रहते हुए, दत्तचित्त होकर विद्योपार्जन करने का लक्ष्य था। गुरु शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र सम्बन्ध से भी कहीं अधिक घनिष्ठ एवं स्नेहमय होता था। अथर्ववेद में शिक्षा प्राप्ति का उद्देश्य 'श्रद्धा', 'मेधा', 'प्रजा', 'धन', 'आयु' तथा 'अमरत्व' बताया गया है।

(१९।६४ तथा ९।५)।

साधारणतया शिक्षावधि १२ वर्ष होती थी। उच्च शिक्षा का प्रारम्भ बारह वर्ष की अवस्था से करके चौबीसवें वर्ष में परिसमाप्ति एवं समावर्तन संस्कार हो जाता था।

उत्तर वैदिककाल में शिक्षा-संस्थाओं को चलाने का भार राज्य पर नहीं था। बड़े-बड़े आचार्य अपने आश्रमों में विद्यार्थियों को एकत्र करते, शिक्षा देते, उनके निवास-स्थान एवं भोजन का निशुल्क प्रबन्ध करते थे। अध्ययन समाप्ति पर आश्रम छोड़ते समय विद्यार्थी गुरु-दक्षिणा देता था। विद्यार्थी के शारीरिक एवं मानसिक विकास का आचार्य पूरा ध्यान रखते थे। इसीलिए छात्र 'अन्तेवासी' या आचार्य-कुल-वासी कहलाते थे तथा शारीरिक श्रम करके, भिक्षाटन करके[1], गुरु के घर-द्वार की रक्षा करके[2], उसके पशुओं को चराकर[3] वे अपने जीवन को सार्थक करते थे।

आश्रम—शिक्षा-आश्रम नगर के कोलाहलपूर्ण वातावरण से दूर वनों में प्रकृति की रम्यस्थली में स्थित थे। आचार्यों के सरल, पवित्र एवं आध्यात्मिक जीवन का अनुकरण अन्तेवासी भी करते थे, वे मृगछाल व मेखला धारण करके रहते थे।

शिक्षा पद्धति—आचार्य के पास विद्यार्थियों को प्रायः उपनयन संस्कार के बाद ही भेजा जाता था। अतः जो 'उपनयन' की आयु है वह विद्यारम्भ की भी। आचार्य सामूहिक रीति से प्रायः कम ही पढ़ाते थे। प्रत्येक विद्यार्थी के मानसिक स्तर के अनुसार ही उपदेश देते थे। बृहदारण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद् से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध आचार्यों के पास दूर-दूर से उत्कण्ठित विद्यार्थी आते थे। कुछ

---

१. छान्दोग्य उपनिषद ४।३।५ २. शतपथ ब्राह्मण ६।२।१५

३. छान्दोग्य उपनिषद् ४।४।५

ऐसे आचार्य भी थे जो देश में भ्रमण करके व्याख्यान एवं वाद-विवाद द्वारा शिक्षा एवं ज्ञान का प्रसार करते थे।[1]

विषय—उन दिनों शिक्षा के विषयों में धर्मशास्त्र का अध्ययन प्रमुख था। इसके अतिरिक्त देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षात्रविद्या, नक्षत्रविद्या,[1] देवयजन विद्या, कल्प, श्राद्ध, तर्कशास्त्र आदि विषय भी पढ़ाये जाते थे।[2] शिक्षा की समाप्ति पर आचार्य अन्तेवासियों को अनुशासित करने के हेतु उपदेश देता था कि सत्य बोलो, धर्माचरण करो आदि। यही उपदेश आजकल विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त समारोहों में उपकुलपति दिया करते हैं। इनका कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि उपदेष्टा में सम्यक् चारित्र्य एवं आचरण के अभाव में उपदेशों में आत्मशक्ति का तेज एवं प्रभाव नहीं रहता है।

स्त्री शिक्षा—प्राचीन काल में स्त्रियों को भी शिक्षा का अधिकार था। वेदकालीन स्त्रियों में देवहूति, अदिति, अपाला के नाम उल्लेखनीय हैं। ये विद्या सीखती थीं। विश्ववरा जैसी कई स्त्रियों ने ऋग्वेद की कई ऋचाएं बनाई थीं। याज्ञवलक्य मुनि और उनकी पत्नी मैत्रेयी का संवाद बृहदारण्यकोपनिषद् में दिया हुआ है। बौद्धकाल में भी स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। शंकराचार्य और मण्डनमिश्र की पत्नी का शास्त्रार्थ इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है। बहुधा स्त्री शिक्षा का कार्य घर पर ही होता था, वे विद्यालयों में प्रायः नहीं जाती थीं।

बौद्ध काल में शिक्षा

बौद्ध धर्म के समृद्धि काल में विद्यापीठों की बहुत उन्नति हुई। प्रत्येक विहार छोटा-मोटा विद्यालय बन गया था। इनमें से कुछ तो इतिहास में बहुत ही प्रसिद्ध हैं। विदर्भ देश के श्री धन्यकटक का नाम वैदिक और बौद्ध दोनों विद्याओं के लिए विख्यात था।

तक्षशिला विश्वविद्यालय—यह पश्चिमी पंजाब के रावलपिंडी नगर से लगभग अठारह मील की दूरी पर स्थित था। प्राचीन काल में तक्षशिला नगर सभ्यता का प्रमुख केन्द्र रहा। ऐसी मान्यता है कि राम के अनुज भरत के कनिष्ठ पुत्र तक्ष ने तक्षशिला नगर बसाया था। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में तक्षशिला का शिक्षा केन्द्र इतना विख्यात हो चुका था कि देश-विदेश के विद्यार्थी अध्ययनार्थ आते थे। पाणिनि,चाणक्य, कुमारजीवक (शल्य चिकित्सक) आदि तक्षशिला के छात्र रहे थे। यहाँ साहित्यिक, धार्मिक, लौकिक सभी विषयों का अध्यापन होता था। वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, मन्त्रविद्या, धनुर्विद्या, हस्तविद्या शल्यविद्या आदि विभिन्न विषयों के अध्ययनार्थ छात्र यहाँ आते थे।

---

१. कौषीतकी उपनिषद् ४।१। २. छान्दोग्य उप० ७।१।१।२

सम्राट अशोक के समय में इस विद्यापीठ की अत्यन्त समृद्धि एवं प्रसिद्धि थी। इतिहासकार स्मिथ के अनुसार उत्तर भारत के सभी वर्गों के लोग यहाँ नाना विद्या और कला सीखने को आया करते थे।

मदुरा का संगम—तक्षशिला के समान मदुरा का संगम नामक महाविद्यालय भी देश-विदेश के विद्यार्थियों के आकर्षण का केन्द्र बना। यहाँ प्राचीन तामिल साहित्य की रचना हुई। तिरूवल्लुवर का 'कुरल' नामक महकाव्य तामिल-साहित्य का ही नहीं विश्व साहित्य का ग्रन्थ है। उसकी रचना संगम में हुई। इसी प्रकार मणिमेखला और 'शीलप्पतिकारम्' नामक तामिल-महाकाव्यों की रचना भी यहीं हुई।

दिवाकर मुनि का आश्रम—यह आश्रम भी सातवीं शती में महान् शिक्षा केन्द्र था तथा विन्ध्याटवी में गहन कान्तार में स्थित था। यहाँ वेदों के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। चीनी यात्री इत्सिग ने लिखा है कि चारों वेद के लगभग एक लक्ष छन्दों का यहाँ मौखिक परम्परा से अध्यापन-अध्ययन होता था। ब्राह्मण वैदिक ग्रन्थों का ही अध्ययन करते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय—ह्वेनसाङ् और ईत्सिङ् दोनों चीनी यात्रियों ने सातवीं शताब्दी ईस्वी में भारत में बौद्ध धर्म के तत्वदर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भ्रमण किया और विशेष रूप से नालन्दा में कई वर्ष रहे। उस समय नालन्दा का विहार समस्त एशिया में प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षा केन्द्र था। यहाँ के साधुओं को अगाध विद्वत्ता, मननशीलता विद्यार्थियों की उत्कट ज्ञान-पिपासा ने चीनी यात्री को बहुत प्रभावित किया। नालन्दा विश्वविद्यालय को गुप्त सम्राट कुमारगुप्त तथा उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने प्रश्रय दिया था। सातवीं शताब्दी में सम्राट हर्षवर्धन ने इस विश्वविद्यालय के लिए अपार धन-राशि दानस्वरूप प्रदान की। कुछ अन्य स्रोतों से भी संस्था को पर्याप्त धन प्राप्त होता था क्योंकि इसमें निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्रादि की भी व्यवस्था थी। उस समय यहाँ सुप्रसिद्ध विद्वान शीलभद्र कुलपति थे। उनके अतिरिक्त सौ अन्य आचार्य थे। संस्कृत शिक्षा का माध्यम थी। गुप्तसम्राट कुमारगुप्त द्वारा संस्थापित तथा शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त और बालादित्य नामक चार राजाओं ने इसको समुन्नत करने का भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने नालन्दा विश्वविद्यालय में अनेक नई-नई इमारतें बनवाईं। बालादित्य के समय (पाचवीं शती उत्तरार्ध) से इसकी विशेष उन्नति हुई। इस महाविद्यालय का मुख्य विशाल विद्याभवन बीच में था और उसके चारों ओर नौ भवन थे। उसके बाद बौद्ध भिक्षुओं के रहने के स्थान थे। इनके बीच में वेधशाला थी। इन भवनों में रत्न-सागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक बहुत ही प्रसिद्ध थे। रत्नोदधि नामक भवन नौ मञ्जिला था और उसी में नालन्दा विश्वविद्यालय का वह विशाल पुस्तकालय था जिसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। वह उस समय भारत भर में सबसे बड़ा पुस्तकालय था।

नालन्दा में वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों के ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था। मुख्य पाठ्य विषय ये थे—व्याकरण, न्याय, भिषग्विद्या, दर्शन और अध्यात्म-शास्त्र। पाली भाषा के गद्य-पद्य दोनों भागों का अभ्यास होता था। यह विद्यापीठ न्यायशास्त्र के लिए बहुत ही प्रख्यात था। यहाँ चीन, तिब्बत, मध्य एशिया, बुख़ारा और कोरिया आदि दूर-दूर के देशों से लोग विद्या सीखने को आया करते थे।

ह्वेनसांग ने नालन्दा विहार महाविद्यालय के कलात्मक वस्तु-शिल्प सौन्दर्य का अत्यन्त काव्यात्मक भाषा में वर्णन करते हुए लिखा है—"इस विद्यालय का मानमन्दिर प्रातःकाल के कुहरे में अदृश्य हो जाता है। इसके ऊपर के कमरे मानों बादल में छिपे रहते हैं। पर्वतों के समान ऊँचे विद्यालयों के शिखर पर ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती है। इनकी खिड़कियों से लोग वायु और बादलों के परिवर्तन का अनुमान कर लेते हैं। यहीं से सूर्य और चन्द्र भी दिखाई पड़ते हैं। बाह्य-मन्दिर के चार विभाग हैं। इसकी बलभि रंगीन है और इसके लाल स्तम्भों पर चित्र उत्कीर्ण हैं। स्तम्भों का प्रसाधन-कर्म मनमोहक है। कमरों को विविध प्रकार से अलंकृत किया है। छत के खपड़ों से प्रतिफलित होकर सूर्य-रश्मि सहस्रों भागों में बिखर जाती है। इन मन्दिरों के बनाने में सुन्दर ईंटों को इस प्रकार जोड़ा गया है कि उनके जोड़ दिखाई नहीं पड़ते। नालन्दा के विद्यालय की कीर्ति एशिया के सभी देशों में फैली हुई थी। नालन्दा का विद्यार्थी होना एशिया भर में गौरवपूर्ण समझा जाता था। यहाँ पर पढ़ने के लिये चीन, तिब्बत और जापान से बहुत से विद्यार्थी आते थे। कभी-कभी तो कोरिया, मंगोलिया और बोखारा तक से विद्यार्थी आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। ये विद्यार्थी भारतीय संस्कृति के रंग में रंगकर अपने देशों में भारतीयता का प्रचार करते थे। ऐसे ही बौद्ध विद्यालय नगरधन, जलन्धर, मतिपुर, भद्रविहार, पूर्वशैल, अवरशैल, कांचीपुर, पुष्करावती, उद्यान और रक्तामृत में भी थे। सारे देश में लगभग ५००० बौद्ध विहार थे, जिनमें सभी जाति और धर्म के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।"[1]

नालन्दा की शिक्षण विधि का वर्णन करते हुए ह्वेनसांग ने लिखा है—"बच्चों को बढ़ावा देने के लिये पहले द्वादश अध्यायवाली "सिद्धरस्तु" (सिद्धरचना) पुस्तक पढ़ाई जाती है। सात वर्ष या इससे अधिक अवस्था होने पर पंचविद्याओं की शिक्षा दी जाती है। पहली विद्या शब्दविद्या है। इसमें शब्दों के मेल का विवरण है और धातुओं की सूची दी गई है। दूसरी शिल्पस्थान विद्या है जिसमें शिल्प, यन्त्र बनाने का विज्ञान, ज्योतिष और तिथि-पत्र का वृत्तान्त है। वैद्यक शास्त्र तीसरी विद्या है। इस विद्या में शरीर-रक्षा, गुप्त-मन्त्र, औषधि-सम्बन्धी-धातुओं, शल्य चिकित्सा और जड़ी-बूटियों का निर्देशन है। चौथी हेतुविद्या है, जिसके द्वारा सत्यासत्य का विवेक तथा शुद्ध और अशुद्ध का निदान होता है। अन्तिम विद्या अध्यात्म सम्बन्धी

---

१. उपर्युक्त विवरण डॉ० रामजी उपाध्याय कृत 'भारत की प्राचीन संस्कृति' (१९४८, पृ० ३५) से उद्धृत है।

है जिसके द्वारा पंचयान[1], उसका कारण, फल तथा सूक्ष्म प्रभाव का विवेचन किया जाता है। बौद्ध काल में वैद्यक की शिक्षा की विशेष प्रगति हुई। बौद्धधर्म के प्रसिद्ध वैद्य जीवन ने किसी आयुर्वेदाचार्य के निरीक्षण में सात वर्षों तक चिकित्सा-पद्धति का अध्ययन किया था। सातवीं शताब्दी की आयुर्वेद शिक्षा के बारे में ईत्सिंग लिखता है कि इसके आठ विभाग हैं—(१) फोड़े की चिकित्सा (२) ऊर्ध्वांग-चिकित्सा (३) शारीरिक रोग (४) मानसिक रोग (५) विष चिकित्सा (६) शिशु चिकित्सा (७) कायाकल्प और (८) पैर और शरीर में बल बढ़ाना।[2]

नालन्दा में प्रवेश बड़ी कठिनाई से मिलता था। प्रवेश-द्वार पर पण्डित रहते थे जो विद्यार्थियों की मौखिक परीक्षा लेते थे। उसमें उत्तीर्ण होने पर ही प्रवेश मिलता था। लगभग ३० प्रतिशत विद्यार्थी ही सफल होते थे। स्त्रियों को भी शिक्षार्थी बनने की अनुमति थी। यहाँ प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा की पूरी व्यवस्था थी।

ह्वेनसांग ने नालन्दा विश्वविद्यालय के भव्य एव विशाल भवन मण्डपों का वर्णन इस प्रकार किया है—"उसके गगनचुम्बी बहुलंकृत शिखर और कँगूरे पर्वत-शिखर सरीखे थे जो प्रातःकालीन नीहार में लुप्त हो जाते थे और ऊपर की मंजिल के कक्ष मेघों में छिप जाते थे। उनकी खिड़कियों से वायु तथा मेघों के रूप-परिवर्तन के सुन्दर दृश्य स्पष्ट दिखाई पड़ते थे।" विहार के मण्डप-स्तम्भ मकराकृति से अलंकृत थे, कड़ियाँ इन्द्रधनुष-सी चमकती थीं।

वलभी विश्वविद्यालय—यह सातवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। इसकी प्रशस्ति नालन्दा के समान देश-विदेश में थी। वलभी नगरी सौराष्ट्र में वल नाम से अब भी प्रसिद्ध है। यहाँ ४८० ई० से ७८० ई० तक मैत्रकों की राजधानी रही, उन्होंने इस विश्वविद्यालय की स्थापना की। ह्वेनसांग के विवरणों के अनुसार सातवीं शती में वलभी में बहुत से सम्पन्न व्यक्ति थे जिनसे इस विश्वविद्यालय को प्रचुर दान प्राप्त होता था। यद्यपि मैत्रक शैव थे किन्तु बौद्ध धर्म पर उनकी अपार श्रद्धा थी। भटार्क, ध्रुवसेन प्रथम, ध्रुवसेन द्वितीय एवं ध्रुवसेन चतुर्थ के समय में वलभी के इस बौद्ध विश्वविद्यालय की बहुत उन्नति हुई। यहाँ के आचार्य अपने पाण्डित्य और विद्वत्ता के लिए देश-विदेश में विख्यात थे। इनमें बौद्ध साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित गुणमति और स्थिरमति भी थे। यहाँ व्याकरण, तर्क और न्याय की उच्च शिक्षा के साथ-साथ अनेक शिल्पों तथा उद्योगों एवं व्यापारिक शिक्षा का प्रबन्ध था।

---

१. पंचयान बौद्ध लोगों की धर्मोन्नति की कथायें हैं—(१) बुद्धदेव का यान (२) बोधिसत्व लोगों का यान (३) प्रत्येक बुद्ध का यान (४) उच्च कोटि के शिष्यों का यान और (५) गृहस्थ शिष्यों का यान।

२. उपरोक्त विवरण डॉ० रामजी उपाध्याय की 'भारत की प्राचीन संस्कृति' (प्र० सं०) पृ० ३७-३८ से उद्धृत है।

उदन्तपुर का महाविद्यालय—इसकी स्थापना पालवंश के संस्थापक महाराजा गोपाल ने बिहार में की। बारहवीं शती में यहाँ सहस्रों छात्र एवं आचार्य थे। इस बिहार को मुहम्मदबिन बख्तियार अली ने नष्ट कर दिया।

विक्रमशिला महाविद्यालय—बिहार राज्य में भागलपुर से चौबीस मील दूर पाथरघाटा की पहाड़ी में (विक्रमशिला) पालवंशीय राजा धर्मपाल ने ईसा की आठवीं शताब्दी में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना की। यह विश्वविद्यालय अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। पाल शासकों ने इस विद्यालय के लिए एक प्रबन्ध समिति का निर्माण किया था। इस महाविद्यालय के लिए धर्मपाल ने १०८ मन्दिर तथा अनेक बड़े व्याख्यान कक्ष बनवाये तथा विभिन्न विषयों के शिक्षणार्थ ६४८ अध्यापक रखे।

नालन्दा की भाँति विक्रमशिला में भी विद्यार्थियों का प्रवेश बहुत कठिनाई से होता था। महाविद्यालय के द्वारों पर पण्डित रहते थे, जो परीक्षा लेकर ही प्रवेश देते थे। वहाँ छह द्वार पण्डित थे, दक्षिण द्वार के पण्डित प्रज्ञाकरमति की चर्चा तारानाथ ने की है। पूर्वी द्वार का रत्नाकरशास्त्री, पश्चिमी का वागीश्वरकीर्ति, उत्तरी का ज्ञानश्रीमित्र था। यहाँ के विशाल सभा भवन में आठ हजार विद्यार्थी एक साथ बैठ सकते थे। अनुमान है कि यहाँ विद्यार्थियों की संख्या दस सहस्र से कम न होगी। यहाँ महायान तन्त्र की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। यह विद्यालय तन्त्रवाद का महान केन्द्र बन गया था।

आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक विक्रमशिला भारत का प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र रहा और इसके द्वारा भारत और तिब्बत के बीच घनिष्ठ ज्ञान-सम्पर्क बना रहा। तिब्बत के बहुत से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करते थे तथा यहाँ के बहुत से आचार्य तिब्बत गये और अनेक संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बत भाषा में अनुवाद किया। तिब्बती साहित्य से पता चलता है कि ज्ञानपाद, विरोचन, तथागत रक्षित, रत्नाकर, दीपंकर, लीलावज्र, बोधिभद्र, नरेन्द्र श्रीज्ञान आदि ने तिब्बत में बौद्ध साहित्य के प्रचार का कार्य किया।

बारहवीं शती के विवरणों से पता चलता है कि उस समय यहाँ तीन हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे। यहाँ एक विशाल पुस्तकालय था जिनमें अनेक दुर्लभ ग्रन्थ थे। मुसलमान आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी ने १२०३ ई० में इस विश्वविद्यालय को तहस-नहस कर दिया।

४ भारतीय समाज में नारियों का स्थान

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः (मनुस्मृति ३।५६)

भारत के मनीषी चाहे नारी-स्वातन्त्र्य के विरोधी रहे हों, किन्तु भारतीय समाज में नारी का स्थान सदा ऊँचा रहा है। वैदिक काल में स्त्रियों को पुरुषों के साथ बराबर का धर्माधिकार तो था ही और वे किसी अंश में स्वतन्त्र रहकर युद्ध, रथों की दौड़ आदि पुरुषोचित कार्यों में भी भाग लेती थीं। ऋग्वेद में इन्द्रसेना मुद्‌गलानी का उल्लेख आता है, जिसने रथों की दौड़ में अपने पति के साथ भाग लिया था और पति को विजय प्राप्त कराने में सहायक हुई थी। वैसे तो रामायण-काल में भी कैकेयी दशरथ के साथ युद्ध में गई थी।

आध्यात्मिक क्षेत्र में स्त्रियों का गौरवपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में देवताओं के साथ अदिति, शची, वाक् (सरस्वती) आदि देवियों को भी मान दिया गया है। देवियाँ मन्त्र-दृष्टा भी हुई हैं। उनमें घोषा को, जिसने वृद्धावस्था तक कुमारी रहने के पश्चात् विवाह किया था, ऋग्वेद के दशम मण्डल के उन्नीसवें और चालीसवें सूक्त बनाने का श्रेय दिया जाता है। इसके अतिरिक्त और भी कई ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं का उल्लेख आता है। जैसे विश्वावरा पंचम मण्डल के अट्ठाईसवें सूक्त की, सूर्या दशम मण्डल के पचासीवें सूक्त की, कामगोत्रजा श्रद्धा (जो प्रसाद जी की कामायनी है) इसी मण्डल के १५१ वें सूक्त की देखने वाली (द्रष्टा) हैं।

गार्गी ने महाराजा जनक की सभा में ऋषि याज्ञवल्क्य से ब्रह्म विद्या में लोहा लिया था (वृहदारण्यक ३।८-१-११)। याज्ञवल्क्य की स्त्री मैत्रेयी ने ब्रह्म विद्या के आगे धन और सम्पत्ति का तिरस्कार कर दिया था। (वृहदारण्यक २-४, २-५)। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को बड़ा सुन्दर राजनीति सम्बन्धी उपदेश दिया था। देखिये—

तस्मात् कामादयः पूर्वं जेया पुत्र महीभुजा।
तज्जयेहि जयोद्वश्यं राजा नश्यति तैजितः॥

अर्थात् इसलिये हे पुत्र, राजा को चाहिए कि वह कामादि को पहले जीतले। उनके जय कर लेने पर ही वह जय प्राप्त कर लेता है, नहीं तो स्वयं नाश को प्राप्त होता है।

मन्डन मिश्र की स्त्री ने अपने पति के साथ शंकराचार्य से हुए शास्त्रार्थ की मध्यस्थता की थी। उत्तररामचरित में विद्या-आश्रमों में स्त्रियों का पुरुषों के साथ अध्ययन का उल्लेख आता है। यह तो लोकोत्तर उदाहरण है, किन्तु साधारण स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। गृहिणी को घर बताया गया है। "गृहिणी गृह-मुच्यते।"[1] स्त्री और पुरुष एक ही पारिवारिक जीवन के दो विभिन्न पहलू हैं। स्त्री-पुरुष के एक साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ होता है। स्त्री को परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती है, अतः उसे गृहिणी के उच्च पद पर सुशोभित किया गया।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है (५।२।१।१०) कि "पत्नी पुरुष की आत्मा का अर्धांश है, इसलिए जब तक मनुष्य पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रजोत्पादन न होने से वह अपूर्ण रहता है।" महाभारत (आदि पर्व ७४।४०) में लिखा है कि "भार्या पुरुष का अर्धांग है, श्रेष्ठतम मित्र है, तथा वही त्रिवर्ग की जड़ एवं तारनहारी है।"[2] हमारे यहाँ की विवाह-पद्धति में स्त्री भी पति से सात वचन लेती है तब वह उसकी पत्नी होना स्वीकार करती है। वह आय-व्यय, क्रय-विक्रय में सलाहकार बनने, देश विदेश की यात्रा में साथी बनने, पति द्वारा परकीया स्त्री का सेवन न करने का वचन करवाती है। नमूने के लिए एक प्रतिज्ञा की मांग जो आय-व्यय, धन-धान्य के बारे में स्त्री की सम्मति के सम्बन्ध में है, यहाँ दी जाती है—

आयव्ययौ धान्यधनादिकानां
पृष्ठवः निवेशं च गृह निबध्याः।

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, १४४।६६।

२. **महाभारत में भार्या का महत्व—**

मार्या हीनं गृहस्थस्य शून्यम् एव गृहं भवेत्।
न गृहं गृहम् इत्याहुर्, गृहिणी गृहम् उच्यते।
गृहं तु गृहिणी-हीनम् अरण्य-सदृशं मतम्।
× × ×
अनुरक्ता स्थिराचैव भक्ता स्निग्धा यशस्विनी।
वृक्ष मूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम्।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम्।
नास्ति भार्या-समो बन्धुर् नास्ति भार्या-समा गतिः।
नास्ति भार्या-समो लोके सहायो धर्म-संग्रहे।
यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम्।
(महाभारते शान्तिपर्वणि कपोत-लुब्धकोपाख्यानम्)

वामाङ्गमायाभि तदा त्ववीयं
जगाव कन्या वचन चतुर्थम् ।।

हमारे यहाँ विवाह एक धार्मिक कृत्य था। सब आश्रमों में श्रेष्ठ आश्रम गृहस्थ-आश्रम इस पर निर्भर था। विवाह तीन ऋणों को चुकाने के लिए होता है। सन्तानोत्पत्ति करके पितृ ऋण चुकाया जाता है। (समाज में जन्म लेकर उस समाज के तारतम्य को स्थापित रखना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है) स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण चुकाया जाता है। (ऋषियों ने जो शास्त्र रचे हैं उनका पढ़ना और मनन करना उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करना है) और देव-ऋण अग्निहोत्र आदि-द्वारा चुकाया जाता है। धार्मिक कार्यों में पत्नी का सहयोग अनिवार्य है। सीता जी को निर्वासित कर देने के पश्चात् भगवान रामचन्द्र ने उनकी स्वर्णमयी मूर्ति बनवाई थी। कन्याएँ ऐसी अवस्था में विवाह करती थीं जब वे अपना जीवनसंगी चुन सकें। "भद्रा बधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सा बनुते जने चेत्।" (ऋग्वेद १०।२७।२२)। उन दिनों भी बहुविवाह की प्रथा थी; किन्तु भगवान् रामचन्द्र जी ने राजा होते हुए भी एक पत्नीव्रत के आदर्श का पालन किया।

वैदिक युग में स्वतन्त्रता के साथ शील और मर्यादा का भी उपदेश दिया गया है। उनसे कहा गया है कि वे नीचे की ओर देखें, ऊपर की ओर नहीं और पैरों को मिलाये रखें और उनके ओठों तथा कटि के निम्न भागों को कोई देखने न पावे।

अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन स्त्रीहि ब्रह्मा बभूविथ ।। (ऋग्वेद ८।४३।२१)

स्त्रियाँ किसी प्रकार का अवगुण्ठन आदि तो रखती थीं, किन्तु उनके चलने-फिरने और घूमने पर प्रतिबन्ध नहीं था। वाल्मीकि रामायण में रावणवध के पश्चात् जहाँ सीता जी को पालकी में लाये जाने का वर्णन है, वहाँ लिखा है कि विभीषण के राज-कर्मचारी बानरादिकों को सीता की पालकी के रास्ते से हटा रहे थे। इस पर रामचन्द्र जी ने क्रोध करके कहा था—

किमर्थं मामनादृत्यक्लिश्यतेयं त्वयाजनः।
निवर्तयैनमुद्वेगं स्वजनो मम ।।
न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारस्तिरस्क्रिया।
नेदृशाराजसत्कारवृत्तमावरणं स्त्रियः ।।
व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियः ।।
सैषा विपद्गताश्चैव कृच्छ्रेणचसमन्विता।
दर्शने नास्ति दोषो स्यात्मत्समीपे विशेषतः ।।

(युद्ध काण्ड ११।२५–२८ ।।)

अर्थात् मेरा अनादर करके तुम क्यों इन लोगों को क्लेश देते हो। इनका उद्वेग दूर करो, ये मेरे ही आदमी हैं। न घर, न वस्त्र, न प्राकार और न कनात या

और कोई आवरण स्त्रियों के लिए नहीं है। स्त्रियों का पर्दा तो शील ही है। खेल-कूद आदि व्यसनों, संकट के समयों में, युद्ध में, स्वयंवर में, विवाह में, यज्ञ में स्त्रियों को देखे जाने में दोष नहीं है—विशेषकर मेरे सम्मुख (मानापमान की रक्षा करने वाले के)।

इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में विशेषकर वाल्मीकि जी के समय में किसी न किसी प्रकार का पर्दा था, किन्तु चलने-फिरने, कार्यवश आने-जाने की रोक नहीं थी। स्वयंवर, यज्ञ, विवाह आदि अपवाद थे। वाल्मीकि के समय में स्त्रियों के नैतिक आदर्श भी बहुत ऊँचे थे। पारिवारिक जीवन पूर्णतया संगठित था। महाभारत में भी गांधारी, सावित्री, दमयन्ती, द्रौपदी पातिव्रत की मूर्तियां हैं। गांधारी अपने अन्धे पति धृतराष्ट्र को आदर देने के लिए आँखों से पट्टी बाँधे रहती थी। रामायण की नारियों की अपेक्षा महाभारत की नारियाँ कुछ अधिक स्वतन्त्र और तर्कशील हैं। युधिष्ठिर के द्यूतक्रीड़ा में हार जाने के पश्चात् जब द्रौपदी को दुर्योधन ने बुलाया तो वह जो तर्क उपस्थित करती है, उनमें से एक यह भी था कि युधिष्ठिर अपने हारने से पहले उसे हारे हैं या हार जाने के पश्चात् ?

स्मृति काल के अन्तर्गत देखने में तो स्त्रियों की आधीनता बढ़ी है, किन्तु वास्तव में गार्हस्थ्य सम्बन्ध और दृढ़ हुए। स्त्रियाँ अपने पतियों के पूर्ण गुणों और पदों की अधिकारिणी बन जाती थीं—

> **यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।**
> **तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥**
> **अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा॥**
> **शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥** (मनु ९।२२-२३॥)

अर्थात् जिस पुरुष को स्त्री भर्त्ता रूप से स्वीकार करती है उसके गुण वह उसी तरह ग्रहण कर लेती है जैसे समुद्र में मिलने वाली नदी समुद्र के गुण ग्रहण कर लेती है, जिस प्रकार अक्षमाला (अरुन्धती) नीच जाति की होती हुई भी अपने पति वशिष्ठ से मिलने से और शारङ्गी मंदपाल के संयोग से ऊँची उठ गई और प्रशंसा की भाजन बनी। स्त्रियों का समाज में कार्य बतलाते हुए मनु महाराज लिखते हैं—

> **उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।**
> **प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥**
> **अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।**
> **दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह॥** (मनु ९।२७-२८।)

अर्थात् सन्तानोत्पादन और उत्पन्न हुई सन्तान का पालन-पोषण और प्रतिदिन की लोक यात्रा (गृह कार्य, भोजन तथा घर के अन्य प्रबन्ध का) पत्नी प्रत्यक्ष आधार है। सन्तान, धर्म-कार्य (अग्निहोत्रादि), सेवा (पति, वृद्धों, बालकों आदि की) और उत्तम रति (रति में वे सब बातें आ जाती हैं जिनसे मन प्रसन्न हो) तथा

पति और उसके पूर्व पुरुषों का स्वर्ग स्त्री के ही आधीन है, इसीलिए स्त्री और लक्ष्मी में कोई अन्तर नहीं माना जाता है ।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन । (मनु० ९।२६)

एक दूसरे को सन्तुष्ट रखने में पति और पत्नी दोनों को बराबर रखा गया है ।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।। (मनु० ३।६०)

अर्थात् जहाँ भार्या से भर्त्ता सन्तुष्ट है और जहाँ भर्त्ता से भार्या सन्तुष्ट रहती है, उस कुल में निश्चय ही कल्याण का निवास होता है ।

आज से २६०० वर्ष पूर्व तीर्थङ्कर महावीर ने स्त्रियों को आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुष के बराबर अधिकार दिलाया ।

मध्यकाल में भी ६०० ई० से १२०० ई० तक स्त्रियों की दशा में विशेष अन्तर नहीं आया, वे राजकाज में भाग लेती थीं । इस सम्बन्ध में ओझा जी लिखते हैं—

"हर्ष की माता राजदरबारियों से मिलती थी । बाण ने कादम्बरी में विलासवती का भिन्न-भिन्न शकुन ज्योतिषियों, मन्दिर के पुजारियों और ब्राह्मणों से मिलने और महाकाल के मन्दिर में जाकर महाभारत की कथा सुनने का वर्णन किया है ।" राज्यश्री ह्वेनसांग से स्वयं मिली थी । तत्कालीन नाटकों में पर्दे का कोई उल्लेख नहीं है । यात्री अबुर्जेद ने भी राजदरबारों में देशियों-विदेशियों के सामने स्त्रियों के उपस्थित होने का उल्लेख किया है । इतना निश्चित है कि राजाओं के अन्तःपुर में सर्वसाधारण का प्रवेश नहीं होता था ।

वास्तव में हमारे यहाँ पारिवारिक जीवन को प्रधानता दी गई है । स्त्री और पुरुष को अलग-अलग इकाई नहीं माना है । दोनों को ही मिलकर धर्म-सम्पादन करना होता है और स्वर्ग की प्राप्ति करनी होती है । इसीलिये नारी को घर से अलग अस्तित्व नहीं दिया गया है, वह रक्षणीया है । वह स्वतन्त्र तो नहीं है (शायद इसलिये कि स्वेच्छाचारिणी न बन जाय), किन्तु आदरणीया रहती है । इसी दृष्टि से नीचे के श्लोक का अर्थ लगाया जाय ।

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्रीं स्वातंत्र्यमर्हति ।। (मनु० ९।३)

कौमारावस्था में पिता रक्षा करता है, यौवन में भर्त्ता, बुढ़ापे में पुत्र आदि रक्षा करते हैं, स्त्री स्वातंत्र्य के योग नहीं अर्थात् उसको अरक्षित न छोड़ना चाहिए क्योंकि वह स्वयं कोमल स्वभाव की होने के कारण अपनी रक्षा करने में असमर्थ है । यह साधारण स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा गया है, सभी दुर्गा और भवानी नहीं हैं जो रण के लिए चुनौती दे सकें ।

माता को सबसे अधिक मान दिया गया है । दीक्षान्त उपदेश में सबसे पहला स्थान माता को दिया गया है । **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** आदि (तैत्ति० १।११।२)

याज्ञवल्क्य स्मृति में (१।३४।३) माता को गुरु, आचार्य, उपाध्याय, ऋत्विक, इसे सबसे अधिक बड़ा माना गया है। माता गरीयसी। गर्भवती स्त्रियों से नाव की उतराई नहीं ली जाती थी। (पुत्र का हिन्दू समाज में इतना महत्व है) उसको संन्यासी और ब्रह्मचारी के बराबर आदर दिया जाता था (मनु० ८।४।७)।

शास्त्र असमान विवाहों के पक्ष में न थे। नियोग और विधवा विवाह की प्रथा थी, तथापि वह आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। इसको द्विज और विद्वानों द्वारा पशुधर्म कहा गया है।

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भि पशुधर्मो विगर्हितः ॥

मनु महाराज ने बाल विधवाओं का पुनर्विवाह निन्द्य नहीं समझा है। सती प्रथा भारत में रही अवश्य है, किन्तु शास्त्र की उसके लिए विधि रूप से आज्ञा नहीं है। यह शायद विधवाओं के कठोर जीवन के कारण चली हो। मध्यकाल में सती प्रथा के सम्बन्ध में ओझा जी लिखते हैं—

"हर्ष की माता के स्वयं जल मरने का वृतान्त हर्षचरित्र में मिलता है। राज्यश्री अग्नि में कूदने को तैयार हो गई थी, परन्तु उसे हर्ष ने रोक लिया। हर्ष रचित प्रियदर्शिका में विन्ध्यकेतु की स्त्री के सती होने का वर्णन मिलता है। इससे पूर्व छठी सदी के एक शिलालेख से भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की स्त्री के सती होने का उदाहरण मिलता है। अलबेरूनी ने लिखा है "विधवाएँ या तो तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती हैं या अग्नि में जल जाती हैं। राजाओं की स्त्रियाँ यदि वे वृद्ध न हों तो सती हो जाती हैं।"

स्त्री का भोग्या रूप

जैसे-जैसे धार्मिक बन्धन शिथिल होते गये, यज्ञ और दैनिक होम आदि कृत्यों का लोप होता गया, वैसे-वैसे रमणी भोग्या बनती गई। उसी की प्रतिक्रिया यह हुई कि संन्यासी और वैरागियों ने उसे निन्द्य, गर्हित और 'अघ की खानि' समझना शुरू कर दिया। वास्तव में स्त्री-जाति की निन्दा कामवासना की निन्दा है। तुलसीदास ने जहाँ नारी-निन्दा की है वहाँ वे अपने समाज के प्रभावों से ऊँचे नहीं उठ सके हैं। कुछ चीजें उनके मत्थे फिजूल में मढ़ी जाती हैं, जैसे "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी ॥" (सुन्दरकांड, ५८।६) यह तुलसीदास जी का सिद्धान्त-वाक्य नहीं है। यह वचन समुद्र ने अपनी दीनता में कहे हैं। कुछ नारी-निन्दा रावण ने मन्दोदरी के सदुपदेश देने पर की है जिसे आदर्श नहीं मान सकते।

विवाह में स्वतन्त्रता तो पाँचवीं-छठी शताब्दी से ही जाती रही। चुनाव का कार्य माता-पिता के हाथ में आ गया था, किन्तु मुसलमानों के राज्य-शासनकाल में बालविवाह की प्रथा जोर पकड़ गई, क्योंकि विवाहित स्त्रियों का मुसलमान लोग कम अपहरण करते थे। पर्दा प्रथा मुसलमानों के समय में बहुत दृढ़ हो गई क्योंकि मुसलमान लोग स्वयं पर्दा प्रथा के मानने वाले थे। उस समय स्त्री-शिक्षा भी कम हो गई थी।

यदि नारी को समाज की पृथक इकाई मानकर देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि उनका हिन्दू समाज में पुरुषों की अपेक्षा नीचा स्थान था और यदि पूरे परिवार को इकाई मान कर देखा जाय तो वह घर की स्वामिनी थी और अब भी है।

यद्यपि भारतीय रमणी का पैतृक सम्पत्ति में हक नहीं है, तथापि वह जीवन पर्यन्त पिता से लेती ही रहती है। विवाह का दहेज उस कमी को बहुत अंशों में पूरा कर देता है। हाँ, अविवाहित कन्याओं को और विधवाओं को भी, यदि उनके पति के यहाँ की सम्पत्ति न मिली हो तो पिता की सम्पत्ति में अधिकार होना चाहिये। कन्याओं और जामाताओं का पुत्रों से भी अधिक मान होता है। हिन्दू समाज में पति-पत्नी की धर्म में समानता है विवाह-विच्छेद आदि पाश्चात्य रीतियों का अनुकरण है। फिर भी हमारे विचारक लोग स्त्रियों की दशा सुधारने में प्रयत्नशील हैं। स्त्री-शिक्षा बढ़ती जा रही है और स्त्रियों को राजनीति में भी पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। हमारे कवियों का भी दृष्टिकोण बदलता जा रहा है—

जग जीवन मानव के संग।
हो मानवी प्रतिष्ठित ।।
प्रेम स्वर्ग हो धरा मधुर।
नारी महिमा से मंडित ।।
नारी मुख की नव किरणों से।
युग प्रभात हो ज्योतित ।।

—सुमित्रानन्दन पन्त

---

५ प्राचीन राज-व्यवस्था

अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद है जिसके अन्तर्गत दण्डनीति, राजनीति, अर्थ-शास्त्र और स्थापत्य कला आदि हैं।

दण्ड नीति—हमारे यहाँ चार विद्याओं को मुख्यता दी गई है—आन्वीक्षिकी (दर्शन, आदि), त्रयी (वेदादि), वार्ता (कृषि, पशु-पालन, वाणिज्यादि, विज्ञान)। दण्ड के अधीन ही तीनों विद्याओं का पोषण और परिवर्द्धन होता है। दण्ड को ही समाज का रक्षक माना है। इसके द्वारा ही अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का परिरक्षण, परिरक्षित का परिवर्द्धन और परिवर्द्धन का सदुपयोग और तीर्थादि में वितरण सम्भव है। सारी समाज की व्यवस्था दण्ड पर आश्रित है।

चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसंकरे।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानाम् कुतोभये॥

(**महाभारत, शान्ति पर्व,** ६९।७७)

दण्ड के द्वारा चारों वर्ण अपने-अपने कर्म में लगे रहकर मर्यादाओं का मिश्रण या उल्लंघन नहीं होने देते थे। दण्ड नीति के द्वारा जो क्षेम अर्थात् संरक्षण रहता है उसके कारण प्रजागण निर्भय हो जाते हैं, अर्थात् हर एक आदमी अपना-अपना काम बिना किसी बाधा के कर सकता है और अपनी सम्पत्ति का उपभोग भी निर्भय होकर कर सकता है।

यह दण्ड, जिसकी इतनी महिमा बताई गई है, राजव्यवस्था पर आश्रित है। राज्य का अधिकार उसकी इकाई के प्रतीक राजा में अथवा उसके चुने हुए प्रतिनिधियों में रहता है। राजा या प्रतिनिधियों के द्वारा नियुक्त अधिकारी ही दण्ड दे सकते हैं। राजा को भी दण्ड का प्रयोग शत्रु और पुत्र में समान रूप से करना चाहिए—"राजा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समंधृतः (अर्थशास्त्र, अधि० ३, अ० १)। व्यक्ति व्यक्ति को दण्ड नहीं दे सकता है। व्यक्ति का दण्ड नहीं वरन् प्रतिशोध कहलाता है। दण्ड नीति के आदि आचार्य ब्रह्मा माने जाते हैं। उनका ही आधार लेकर अन्य नीतिकार जिनमें बृहस्पति, शुक्र, विदुर, भीष्म, मनु, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, हारीत, चाणक्य, विष्णु शर्मा (पंचतंत्र के कर्त्ता) कौटिल्य, कामन्दक आदि प्रमुख हैं।

राजा की उत्पत्ति—यद्यपि प्राचीन भारत में राजतन्त्र का प्राधान्य रहा है और राजाओं को ईश्वर का रूप माना गया है (श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण

ने कहा है) कि मनुष्यों में मैं राजा हूँ—'नराणां च नराधिप:' (१०।२७) तथापि राजसत्ता की स्थापना में प्रजा का भी थोड़ा-बहुत हाथ रहा है।[1] मनुष्यों में जब मत्स्य न्याय का आधिक्य हो गया; (अर्थात् जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, वैसे ही मनुष्यों में शक्तिशाली लोग कम शक्तिशाली लोगों को सताते और नष्ट कर देते हैं) तब मनुष्यों ने उस अराजकता की दुर्व्यवस्था से तंग आकर ईश्वर से प्रार्थना की कि उनको कोई राजा दिया जाय अथवा उन्होंने स्वयं ही चुना। शक्ति पर्व के सड़सठवें अध्याय में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर भीष्म पितामह ने राजा की स्थापना की कथा इस प्रकार सुनाई है—

"हमने सुना है कि राजाहीन प्रजा, जिस प्रकार जल में मोटी मछली पतली मछली को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार शक्तिशाली लोगों के निर्बलों को मार डालने से प्रजा नष्ट हो गई। इसलिये आपस में सलाह करके लोग ब्रह्माजी के पास पहुँचे और उनसे कहा कि राजा के न रहने से हमारा दुख बढ़ रहा है, इस कारण आप हमको एक प्रभु या राजा दीजिये, उसके बिना हम मर जायेंगे। हम उसकी पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा। तब उन्होंने मनु को बतलाया और प्रजा ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने पहले तो इस भार के संभालने से इन्कार किया। उन्होंने कहा कि वे इस पाप कर्म से डरते हैं, क्योंकि राजधर्म का चलाना विशेषकर मनुष्यों में जो नित्य मिथ्याचार करते हैं, बहुत कठिन है। तब उनको हर प्रकार का आश्वासन दिया गया और उनसे कहा गया कि हम लोग आपके खजाने की वृद्धि के लिये अपने पशुओं और स्वर्ण का पचासवां भाग और धान्य का दसवां भाग देंगे, आप हमारी रक्षा करें।"

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवता लोग असुरों से हारने लगे तब उन्होंने सोम को राजा निर्वाचित किया। मनु महाराज के अनुसार अराजकता के कारण सब उलट-पुलट हो जाने के भय से भगवान ने पहले ही राजा की सृष्टि कर दी। इससे भी यह प्रतीत होता है कि पहले भी कुछ दिनों अराजकता थी। वाल्मीकीय रामायण में 'राजकर्त्तारः' शब्द आया है। वे राजाओं को चुनने वाले होते थे या इस बात का निर्णय देते थे कि कौन राजा हो। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् राजकर्त्ता और द्विजातियों का आह्वान हुआ था। 'समेत्य राजकर्त्ता समायीयुः द्विजातयाः'।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—राष्ट्राणि वै विशः (८।२६) अर्थात् प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं।
यजुर्वेद में—विशि राजा प्रतिष्ठितः (२०।६)
राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।
अथर्ववेद में—त्वां विशो वृणतां राज्याय। (३।४।२)
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। (४।८।४)
हे राजन्! प्रजाओं द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ। तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुम्हें चाहती हों।

महाराज दसरथ ने रामचन्द्र जी को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के पूर्व प्रजा के लोगों को सम्मति लेने को बुलाया था जिससे पीछे कोई झगड़ा न उठ खड़ा हो। प्रजा के अधिकार क्रमशः शिथिल होते गये। अधर्म करने पर राजा बेन को ऋषियों ने मंत्रों द्वारा पवित्र किये हुए कुशों से मार डाला। उसके दाहिने हाथ को मथ कर राजा पृथु को निकाला। वह बड़ा न्यायी राजा हुआ। पृथ्वी शब्द ही पृथु से बना है। बेन के अतिरिक्त अन्य राजाओं के जैसे नहुष, सुदास, यावनि, सुमुख और निमि के नष्ट होने का उल्लेख मनुस्मृति में आता है—

वेणो विनष्टोऽविनयान्नहुष चैव पार्थिव:।
सुदासो यावनिश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥

इसलिए राजा के लिए विनय और शील अत्यन्त आवश्यक माने गये हैं। ऐतिहासिक काल में भी प्रजा द्वारा राजा लोग राज्य-च्युत किये गये हैं। सन् ६०२ ईसा पूर्व में नरादिशक को प्रजा ने निकाल कर बाहर किया था क्योंकि वह पितृ-हन्ता था। अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्वल (ईसा पूर्व १९१-८५) को प्रतिज्ञा क्षीण होने के कारण मार डाला गया था।

इससे ज्ञात होता है कि अन्यायी राजा को पदच्युत करना और न्यायी को पोषण देना प्रजा के हाथ में था। प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचित होने के कुछ ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते हैं। १२५-५० ईसा पूर्व रुद्रदामन् का प्रजा द्वारा राजपद पर निर्वाचित किये जाने का उदाहरण मिलता है। राज्यवर्द्धन की मृत्यु पर उसके प्रधान मंत्रिमण्डल ने मंत्रियों की परिषद् बुलाकर निश्चय किया था कि राजा का भाई हर्षवर्द्धन राज-सिंहासन पर आसीन किया जाय।

राजा के गुण—राजा से जो सबसे पहली बात अपेक्षित है वह जितेन्द्रियता है। जो राजा इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता है वह शत्रुओं पर भी विजय नहीं पा सकता है—**अजितात्मा नरपतिर्विजयते कथं रिपुम्**। राजा को षड्वर्ग-रिपुओं से (काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, दर्प) बचने के लिए कहा गया है। राजा नितान्त स्वेच्छाचारी नहीं होता था। उसको निष्पक्ष रूप से न्याय करना पड़ता था। जैसे पहले कहा जा चुका है कि उसको शत्रु और पुत्र को दोषों के अनुकूल एकसा ही दण्ड देना पड़ता था। किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के गुप्तचर ने उन्हें संवाद दिया कि राजा दुर्योधन अपने राज्य को स्थिर करने के लिए प्रजा के साथ पूरा-पूरा न्याय करता है। न्याय में न वह धन प्राप्ति का ख्याल करता है और न अपने निजी क्रोध का। किसी बाहरी कारण के बिना वशी अर्थात् इन्द्रियजित होकर, केवल कर्त्तव्यबुद्धि से पुत्र और शत्रु को जैसे गुरू लोग या न्यायाधीश कहते हैं, उसके अनुकूल बिना किसी पक्षपात या द्वेष के दण्ड देकर धर्म विप्लव अर्थात् अनीति और अन्याय को रोकता है।

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारण:

गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्। (किरातार्जुनीय १।१३)

राजा स्वयं भी न्याय शासन से मुक्त न था। उसके लिये मनु महाराज ने एक हजार गुना अर्थ-दण्ड (जुर्माना) बतलाया है।

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ (मनु० ८।३३६)

राजा को मंत्रियों की सलाह से बँधा रहना पड़ता था। मंत्रियों और राजा की पारस्परिक अनुकूलता में ही राजा की सफलता रहती है। किरातार्जुनीय में ठीक ही कहा है—

स किं सखा साधु न आस्ति योऽधिपं
हिताम्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु सर्व सम्पदः॥ (१।५)

अर्थात् वह सखा क्या जो राजा को ठीक सलाह न दे और वह राजा ही क्या जो उस सलाह को न माने। मंत्रियों और राजाओं की परम्परानुकूलता में ही सब सम्पदाएँ रति मानती हैं अर्थात् वहाँ प्रसन्न होकर रहने लगती हैं। मंत्रियों को राजा के दान आदि को शासित करने का अधिकार था। सर्व-प्रभुत्व सम्पन्न सम्राट अशोक की भी अतिदानशीलता पर मंत्री लोग ब्रेक लगा देते थे। राजा को मंत्रियों की सलाह से काम करने की आज्ञा थी, वह केवल स्वमत से ही नहीं चल सकता था। उसके लिए शास्त्र का आदेश था कि वह चाहे जितना विद्वान और मंत्रणा में कुशल क्यों न हो, मंत्रियों की सलाह के बिना अकेला अर्थ-चिन्तन न करे। वह सदा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति[1] और सभासदों के मतानुसार काम करे। कभी भी केवल अपने मत से न चले।

सर्वविद्यासु कुशलो नृपोह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रनैकार्थचिन्तयेत्क्वचित्॥
सभ्याधिकारि प्रकृति, सभासत्सु मते स्थितः।
सर्वदास्यान्नृपःप्राज्ञः स्वमतेन कदाचन॥

(शुक्रनीतिसार, अध्याय २।२।३)

शुक्र नीतिसार का तो यहाँ तक कहना है कि राजा के जो सेवक हों वे भी मन्त्रियों की राय से रखे हुए हों 'भूपते सेवका ये स्युस्ते स्युः सचिवसम्मता।' मन्त्रियों के प्रति उत्तरदायित्व के साथ प्रजा के प्रति भी उसका उत्तरदायित्व रहता

---

1. राज्य की मनु महाराज ने सात प्रकृतियाँ मानी हैं। ये हैं—स्वामी व राजा, अमात्य (मंत्री), परराष्ट्र, कोश, दण्ड, मित्र। कामन्दकीय नीतिसार में अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्ड को राजा की प्रकृति माना है।

था। अभिषेक के समय राजा यह स्वीकार करता था कि प्रजा में ही राजा की प्रतिष्ठा है।

विशि राजा प्रतिष्ठितः। (शुक्ल यजु०)

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि प्रजा के अनुमोदन से राजा राजसूय यज्ञ करता था। (ताभिरनुमतःसूयते, यस्मै वै राजा, नो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति न सयस्मैन)। राजा रथ बनाने वाले कर्मकारों, धातु की वस्तुओं आदि के बनाने वालों के हाथ से (पलाश का पत्ता) राज-चिन्ह के स्वरूप में ग्रहण करता था और पर्ण से वह उन सबको अपने अनुकूल बनाये रखने की प्रार्थना करता था। इस प्रकार देखा जाता है कि प्रजा से ही, जिनमें निम्न वर्ग भी शामिल थे, राजा को राजसत्ता प्राप्त होती थी। राजाओं की कई श्रेणियाँ होती थीं। शुक्रनीतिसार के अनुसार वे इस प्रकार हैं—सामन्त, माण्डलिक, राजा, स्वराट् सम्राट, विराट अथवा सार्वभौम। ये श्रेणियाँ आय और स्वाधीनता की मात्रा पर निर्भर रहती थीं। सामन्त की आय एक से तीन लाख तक होती थी। वह राजा के अधीन होता था। माण्डलिक सामन्त से बड़ा होता था, लेकिन उसके अधीन कोई नहीं होता था। उसका अधिकार राजा के बराबर होता था। माण्डलिक की आय चार से दस लाख तक होती थी। राजा की दस से बीस लाख तक आय होती थी। जिसकी आय बीस से पच्चीस लाख तक हो वह महाराज, पचास लाख से एक करोड़ की आय वाला सम्राट, और पचास करोड़ की आय वाला विराट कहलाता था। जो सप्तद्वीपा पृथ्वी पर राज्य करता था, वह सार्वभौम कहलाता था।

मन्त्रियों की परिषद—मन्त्री या अमात्य के निम्नलिखित कार्य बतलाये गये हैं। स्वामि-रक्षा, तन्त्र-पोषण तथा लेन-देन आदि का ठीक रखना, **"आयोव्ययः स्वामिरक्षा, तन्त्र पोषण अमात्याधिकारः"**। मन्त्रियों की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मनु के पक्ष समर्थक मन्त्रि परिषद में बारह मन्त्रियों का होना आवश्यक बताते हैं। शुक्रनीति के मानने वालों के मत में यह संख्या बीस होनी चाहिये। कौटिल्य ने कहा है कि जितने मन्त्री आवश्यक हों रखे जायें। मन्त्रियों के अलग-अलग कार्यों के अनुकूल नाम होते थे। प्रतिनिधि का कार्य राजा का ध्यान कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की ओर आकर्षित करते रहना था। प्रधान आजकल के मन्त्री की भाँति सब कार्यों की देखभाल करता था। इसका अधिकार फौज के सब अंगों, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि और युद्ध-सामग्री पर था। सचिव का कार्य सेना की व्यवस्था करना होता था। मन्त्री राजा की साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति में परामर्श देता था और सन्धि तथा विग्रह (युद्धादि) के सम्बन्ध में भी नीति निर्धारित करता था। प्राड्विवाद प्रधान न्यायाधीश तथा कानूनी और धार्मिक सलाहकार के रूप में होता था। सुमंत्र आय-व्यय का लेखा रखने वाला वित्त मंत्री की भाँति होता था। भूमि आदि की जानकारी और व्यवस्था रखने वाला मंत्री अमात्य कहलाता था। खानों आदि की और खजाने की वास्तविक स्थिति भी

इसे मालूम रहती थी। देश-काल के अनुकूल परराष्ट्रों के सम्बन्ध में सलाह देने वाला दूत कहलाता था। भिन्न-भिन्न नीति ग्रन्थों में ये नाम कुछ हेर-फेर के साथ दिये गये हैं। कौटिल्य ने प्रधान को महामन्त्री कहा है। इन्हीं मंत्रियों के साथ पुरोहित का भी कहीं-कहीं विधान है। कौटिल्य ने पुरोहित को राजा का पितृ स्थानीय कहा है। जिस प्रकार पुत्र पिता का आदेश मानता है उसी प्रकार राजा पुरोहित की सलाह माने। वह केवल धर्माधिकारी ही नहीं होता था वरन् नीति-निपुण और द्रोणाचार्य की भाँति युद्ध-कुशल भी होता था। युवराज भी इस मन्त्रि-परिषद में बैठता था। राजा इन सबके बहुमत से काम करता था।

आत्यधिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात।
तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात॥ —चाणक्य

अन्य अधिकारीगण—मंत्रियों के पश्चात् सबसे बड़ा अधिकारी सन्निधाता होता था और उसकी बराबरी का दूसरा अधिकारी समाहर्ता होता था। सन्निधाता राज्य का प्रधान कोषाध्यक्ष और समाहर्ता प्रधान संग्रहकर्त्ता होता था।

कौटिल्य की व्यवस्था के अनुसार इन दोनों के नीचे कई-कई विभाग होते थे और उनके पृथक-पृथक अध्यक्ष होते थे। जैसे सन्निधाता के अधीन कोषाध्यक्ष (स्टोर्स का सुप्रिन्टेन्डेन्ट), कोष्ठागाराध्यक्ष (कोठार या खाद्य पदार्थों के संग्रहालय का अध्यक्ष), कुप्याध्यक्ष (जंगली वस्तुओं में संग्रहालय का अध्यक्ष), आयुधागाराध्यक्ष, प्राकाराध्यक्ष (खानों के अध्यक्ष) तथा बन्धकाराध्यक्ष (जेलों का व्यवस्थापक)। समाहर्ता के अधीन निम्नलिखित विभाग और उनके अध्यक्ष होते थे। शुल्काध्यक्ष (कस्टम आफीसर), सूत्राध्यक्ष (सूत का अफसर), सुराध्यक्ष (आबकारी के प्रधान), सूनाध्यक्ष (कसाई खाने का अध्यक्ष), सीताध्यक्ष (कृषि विभाग के अध्यक्ष), नावाध्यक्ष (बन्दरगाहों के अफसर), विवीताध्यक्ष (गोचर भूमि के अध्यक्ष), पौतवाध्यक्ष (बाटों और मापों की देखरेख करने वाला), देवताध्यक्ष (देवालयों के अध्यक्ष)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन विभागों का विस्तृत वर्णन है। नहरों-कुल्याओं की व्यवस्था का, खानों के प्रबन्ध का, सड़कों के प्रबन्ध का और उसके साथ नाना प्रकार की सड़कों का, जैसे रथों का अलग, जानवरों का अलग विवरण आया है। उस समय जनगणना की भी व्यवस्था थी। उसके सम्बन्ध में नगर और गाँव के अलग-अलग अफसर होते थे। उनके इन्सपेक्टर भी होते थे जिनको वे प्रदेष्ठा कहते थे। ये सब समाहर्ता के अधीन थे। जानवरों की भी वर्गवार गणना रहती थी। रोगों की रोकथाम की भी व्यवस्था थी। मृत्यु के कारणों को जानने के लिये आशुमृतक परीक्षा (पोस्टमारटम) भी होती थी। आज-कल की सी पूर्ण शासन की व्यवस्था चन्द्रगुप्त के समय में थी।

गणतन्त्र शासन—'गणराज्य' प्रायः राजाहीन प्रजातन्त्र राज्यों के लिये प्रयुक्त होता था। वे संघ भी कहलाते थे। महाभारत में हमको गणतन्त्र राज्यों का उल्लेख मिलता है। उनके सदस्यों के सम्बन्ध में शान्ति पर्व में लिखा है "जात्या च सदृशाः सर्वेकुलेन सदृशास्तथा।" इन लोगों में यदि फूट पड़ सकती है तो दान से और भेद

से । 'भेदाञ्चैं प्रदानञ्च भिद्यन्ते रिपुभिगणाः' । शाक्यसिंह भगवान बुद्ध के समय (ईसा पूर्व ६३०-५४३) वज्जि लोग बड़े शक्तिशाली गण थे । विदेह लोग जो राजतंत्र को मानने वाले थे, वैशाली के लिच्छवियों तथा अन्य राज्यों के साथ वज्जियों के गणराज्य में शामिल हो गये । महापरिनिब्बाण सुत्तान्त से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से वज्जियों पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में परामर्श किया । भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से पूछा कि वज्जिगण अपनी जाति की सभाओं में एकत्रित होते हैं । आनन्द के अस्तिवाचक उत्तर पाने पर भगवान बुद्ध ने कहा कि जब तक लोग सभाओं में एकत्रित होते हैं, सलाह के साथ रहते हैं, जब तक वे अपने बड़ों का आदर करते हैं तब तक वे अजेय रहेंगे । यदि वे जीते जा सकते हैं तो भेद से ही जीते जा सकते हैं । अजातशत्रु के मन्त्री वर्षकार की भेद नीति से वे पराजित हुए । सिकन्दर के आक्रमण के समय आरट्ट (अराष्ट्रक अर्थात् राजा को न मानने वाले), क्षुद्रक, क्षत्रिय और मालव गण थे । आरट्ट गणराज्य ने सिकन्दर के विरुद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता की थी । कुछ गणतन्त्र के प्रधान राजा कहलाते थे । गणतन्त्रों का शासन बहुमत से होता था । मतदान के लिये रंग-बिरंगी शलाकाएं काम में लाई जाती थीं । गुप्त मतदान भी होता था और प्रकट भी । इस प्रकार जनतन्त्र भारतीय संस्कृति के लिये नई वस्तु नहीं है ।

प्राचीनतम पालि और जैन ग्रन्थों में निम्नलिखित संघों का उल्लेख है—

१. कपिलवत्थु के साकिय ।
२. अल्लकप्प के बुलि ।
३. केसपुत्त के कालाम ।
४. सुंसुमार गिरि के भग्ग ।
५. रामगाम के कोलिय ।
६. पावा के मल्ल ।
७. कुसिनारा के मल्ल ।
८. पिप्फलिवन के मोरिय ।
९. मिथिला के विदेह ।
१०. वैशाली के लिच्छवि ।
११. वैशाली के ज्ञातृक ।

मिथिला का विदेह, वैशाली का ज्ञातृक और लिच्छिवि गणतन्त्र सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं प्राचीन हैं । लिच्छिवियों में राजा चेटक महान् प्रतिभाशाली हुए । उन्होंने लिच्छिवि गणतन्त्र को सुदृढ़ बनाया । वैशाली के ज्ञातृवंश में तीर्थङ्कर महावीर का जन्म हुआ । लिच्छिवियों ने तिब्बत और नैपाल में भी राज्य किया ।

९ भारतीय धर्म और दर्शनों की रूपरेखा

धार्मिक इतिहास—पाश्चात्य देशों में धर्म और दर्शन दो अलग वस्तुएँ मानी जाती हैं, यद्यपि वहाँ का भी दर्शन धर्म से प्रभावित है। हमारे कुछ दर्शन तो जैसे चार्वाक, धर्म से निरपेक्ष रहे, किन्तु अधिकांश में दार्शनिक विचार भी धर्म से सम्बद्ध रहे हैं। धर्म में श्रद्धा-विश्वास के साथ अपने से किसी बड़ी सत्ता के आगे, चाहे वह ईश्वर हो, चाहे वह तीर्थंकर हो, चाहे वह धर्म या संघ हो और चाहे मानवता हो, नमनशील बनना पड़ता है। यद्यपि हमारे यहाँ के दर्शनों का उद्देश्य व्यावहारिक है, दुःख से निवृत्ति, तथापि धर्म में कुछ विशेष पूजा-पद्धतियाँ, रीति-रिवाज, जीवन का दृष्टिकोण और सामाजिक व्यवहार भी सम्मिलित रहता है। दर्शन व्याख्यात्मक अधिक है। अपने यहाँ के दर्शनों का दृष्टिकोण हम आगे चलकर बतायेंगे।

भगवान् नारायण से ही ज्ञान और भक्ति की धाराएँ उद्भूत हुई हैं। नारायण, शुकदेव, गौड़पाद, गोविन्द भगवत्पाद, शंकराचार्य, यह अद्वैत मार्ग की आचार्य परम्परा है। नारायण, श्री, ब्रह्मा, रुद्र, सनत्कुमार, भक्ति सम्प्रदाय की परम्परा है। वैष्णव सम्प्रदायों के प्रवर्तक चार आचार्य हुए—श्री वैष्णव सम्प्रदाय रामानुज के विशिष्टाद्वैत दर्शन द्वारा, ब्रह्मसम्प्रदाय आचार्य आनन्दतीर्थ के द्वैत मत से, रुद्र-सम्प्रदाय विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत मत से और सनक सम्प्रदाय का प्रचार निबार्क के द्वैताद्वैत से हुआ।

वैदिक एवं वैष्णव धर्म

भारत में आरम्भ में वैदिक धर्म की प्रधानता रही। यद्यपि उसमें कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासना काण्ड तीनों का स्थान रहा, तथापि उसमें कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। वह यज्ञ प्रधान धर्म था। हिन्दू धर्म में वेदों की प्रधानता रही। उसके बाद स्मृतियों और पुराणों की भी मान्यता रही। पुराणों के प्रभाव से अवतारवाद, त्रिदेवोपासना और मूर्ति पूजा बढ़ी। वैदिक कर्मकाण्ड हिंसाप्रधान हो गया। उसकी प्रतिक्रिया में ही बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बौद्ध धर्म को राजसत्ता का भी पोषण मिला। जैन और बौद्ध धर्म की भाँति वैदिक युग के उपासना के तत्वों को लेकर श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत के आधार पर अहिंसा प्रधान वैष्णव सम्प्रदाय का उदय हुआ। नगरी के २०० ईसवी सन् के शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव की

मूर्तियों का उल्लेख है। वासुदेव का उल्लेख पाणिनी के व्याकरण में भी है। विष्णु के दश अवतार माने गये हैं—मत्स्य, कूर्म बाराह, नृसिंह, बामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। कहीं-कहीं २४ अवतार भी माने गये हैं।

वैष्णव धर्म में ब्राह्मणों को विशेष महत्व मिला। ब्राह्मणों ने पौरोहित्य का विकास किया। जब हिन्दू धर्म वैदिक कर्मकाण्ड से हटकर पौराणिक धर्म बना और इसमें अवतारवाद को प्रधानता मिली, तब मूर्ति पूजा का खूब प्रचार हुआ। व्रत, उपवास, भजन, कीर्तन, अनुष्ठान आदि पौराणिक धर्म के मुख्य विषय बने। एकेश्वरवाद के स्थान पर अनेकेश्वरवाद का प्रचार हुआ। सत्यनारायण की कथा तथा एकादशी व्रत भी पौराणिक धर्म के अंग बने। पौराणिक धर्म में विष्णु को प्रमुख मानकर उनकी उपासना एवं भक्ति पर बल दिया गया। वैष्णव धर्म आचार प्रधान धर्म है। यद्यपि यह धर्म वैदिक परम्परा में है, वेद को समस्त धर्म का मूल मानता है, किन्तु ईसवी सन् से कुछ शताब्दियों पूर्व इसमें पौराणिकता का प्राधान्य हो गया और इसमें भक्ति को विशेष महत्व मिला। रामायण-महाभारत काल में राम तथा कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उनकी पूजा-उपासना पर बल दिया गया। इस प्रकार ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वैदिक धर्म के स्वरूप में परिवर्तन होता गया।

गुप्तकाल—गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म या पौराणिक धर्म का पुनुरुत्थान हुआ है। इस युग में वैष्णव धर्म के अनुयायी गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में वैष्णव धर्म का पर्याप्त प्रचार हुआ। वैदिक द्रेवताओं की महत्ता कम हुई और उनके स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि पौराणिक देवताओं के प्रति वैष्णव जनता का झुकाव बढ़ा। गुप्तकाल में बहुत से पुराणों का निर्माण हुआ। अधिकांश पुराणों में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ देवता बताया गया है। गुप्त काल में मध्य देश में बहुत से विष्णु मन्दिरों का निर्माण हुआ। विष्णु के द्वादश अवतारों की भी प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता बढ़ी। उनमें कृष्ण तथा वराहावतार को अधिक सम्मान मिला। गुप्तकालीन मन्दिरों में विष्णु के विविध अवतारों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुईं। इस प्रकार गुप्तकाल में वैष्णव राजाओं के कारण वैष्णव धर्म का विशेष प्रचार एवं प्रसार हुआ। यद्यपि इस युग में शैवोपासना का भी विकास हुआ किन्तु शिव की पूजा विष्णु की अपेक्षा कम होती थी।

द्वितीय से पंचम शताब्दी तक सुदूरपूर्व में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। इनमें मलाया, कम्बोडिया, अनाम, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा बाली द्वीपों में भारतीय राज्य की स्थापना हुई। इन उपनिवेशों में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ।

वैष्णव धर्म का प्रमुख ग्रन्थ श्रीमद्भागवत् है। श्रीमद्भगवदगीता का भी वैष्णव धर्म में विशेष सम्मान है। इस सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त प्रसिद्धि इस प्रकार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृत महत् ॥

"सब उपनिषद् मानो गौएँ हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दुहने वाले हैं, अर्जुन वत्स है, बुद्धिमान व्यक्ति उपभोक्ता है और जो गीता का महान अमृत तुल्य उपदेश है, वही उसका दुग्ध है।" गीता में भगवान् कृष्ण ने ज्ञान-कर्म-समुच्चय के सिद्धान्त का निरूपण किया है। भक्तिवाद का सिद्धान्त गीता में इस प्रकार है—

यतः प्रवृत्ति भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। १८।४६।।

"जो भगवान् इस समस्त विश्व में ओत-प्रोत है, जो समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति का मूल-स्रोत है, उसी की अपने कर्म द्वारा अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-जीवन की सफलता कर्म द्वारा ईश्वर की भक्ति में ही है।"

वैष्णव पुराण—वैष्णव पुराणों में सर्वाधिक महत्व श्रीमद्भागवत का है। इसमें विष्णु के समस्त अवतारों में कृष्णावतार को परम श्रेष्ठ और भगवान् का पूर्णावतार या साक्षात् भगवान् माना है। इसमें स्थान-स्थान पर इन्द्र, ब्रह्मा, महेश्वर, ऋषिगण आदि के मुख से भगवान् कृष्ण की स्तुति करायी गयी है। इस पुराण का प्रधान लक्ष्य कृष्ण-भक्ति का लोक में प्रचार करना है। इसमें भगवान् वासुदेव को परमात्मा, सर्वभूतात्मा, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन कहा गया है। स्थान-स्थान पर उन्हें ब्रह्म कहा गया है—

त्वं ब्रह्म परम साक्षात्

उन्हें परमात्मा, परमानन्दपूर्ण ब्रह्म कहा गया है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्द गोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।

(भागवत १०।१४।३२)

"अहो! नन्द आदि व्रजवासी गोपों का भाग्य धन्य है। उनका अहोभाग्य है कि परमानन्द-स्वरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म कृष्ण के रूप में उनका सुहृद बनकर उनके मध्य में रह रहा है।"

वैष्णव पुराणों में विष्णु पुराण प्राचीनतम माना जाता है। यह आदर्श पुराण है और वैष्णव सम्प्रदाय को लेकर ही चलता है। इसमें स्थान-स्थान पर विष्णु की महिमा का हृदयस्पर्शी वर्णन उदात्त और दार्शनिक दृष्टि से ओत-प्रोत स्तुतियाँ तथा योग और वेदान्त विषयों का यत्र-तत्र सुन्दर वर्णन मिलता है :

ॐ नमो विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः ।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रय ।।

(वि० पु० १।१९।८३-८४)

विष्णु पुराण में साक्षात् विष्णु भगवान की वन्दना है।

रामानुज आदि—शंकराचार्य के पश्चात् रामानुज आदि (जन्म १०१६ ई०) ने बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया और रामानुज सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने नारायण की उपासना चलाई। उनकी ही शिष्य-परम्परा में रामानन्द जी हुए। उन्होंने रामोपासना को मुख्यता दी और कुछ उदारता के साथ शिष्य बनाये। कबीर इन्हीं के शिष्य थे। तुलसीदास जी भी इन्हीं की शिष्य-परम्परा में थे। वल्लभाचार्य (जन्म १४९७ ई०) ने अपना पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय चलाया। बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य और माध्वाचार्य (जन्म १४५७ ई०) का प्रभाव कृष्णभक्त वैष्णवों पर पड़ा। बल्लभाचार्य के शिष्यों में अष्टछाप के कवि प्रसिद्ध हुए। गीत-गोविन्द के कर्त्ता जयदेव श्री निम्बार्क के शिष्य थे। चैतन्यमहाप्रभु, जिन्होंने बंगाल और ब्रजभूमि में भी भक्ति का स्रोत बहाया, माध्वाचार्य से प्रभावित थे। इधर महाराष्ट्र में भी शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास, ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि ने भक्ति की लहर प्रवाहित की। वैष्णव धर्म में अहिंसावाद के साथ-साथ भक्ति भावना का प्रचार किया तथा राम और कृष्ण के शील, सौन्दर्य और शक्ति-प्रधान आदर्श चरित्रों को सामने रखा।

शैव मत—शैवोपासना का प्राचीनतम प्रमाण सिन्धु घाटी की सभ्यता में मिलता है। मोहनजोदड़ो में एक ऐसी मोहर मिली है जिस पर पुरुष-देवता ऊँची वेदी पर योगमुद्रा में स्थित हैं। उनके तीन मुख हैं, सिर पर दो सींग हैं, जो त्रिशूल के रूप में हैं। मूर्ति के चारों ओर चार पशु हैं—बाघ, गेण्डा, हाथी और भैंसा। पुरातत्त्ववेत्ता जॉन मार्शल का मत है कि यह पशुपति के रूप में भगवान् शिव का पुरातन रूप है। पशुपति की इसी मूर्ति के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी शिव के उपासक थे। सिन्धु घाटी की खुदाई में कुछ शिव लिंग भी मिले हैं। गुप्तकाल में वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान एवं विशेष उन्नति हुई, साथ ही शैव मत की उपासना भी बढ़ी। अनेक शिव मन्दिरों का निर्माण हुआ। गुप्तकाल के उपलब्ध मन्दिरों में विष्णु, शिव और सूर्य देवता के मन्दिर अधिक हैं। गुप्तकालीन सुप्रसिद्ध भूमरा का मन्दिर शिव मन्दिर है। नयना का पार्वती मन्दिर प्रसिद्ध है। खोह का एकमुखी शिव लिंग मन्दिर भी प्रसिद्ध है। देवगढ़ के दशावतार के मन्दिर में भी शिव मूर्तियाँ हैं। दक्षिण भारत में भी विशेष रूप से मैसूर के आस-पास शैव मत का विशेष जोर मिलता है।

ईसवी सन् के पूर्व की कई शताब्दियों में शैवोपासना का विशेष प्रचार था। महाकवि कालिदास का आश्रयदाता मालवेश विक्रमादित्य शैव था। कालिदास ने शाकुन्तल, रघुवंश आदि रचनाओं में मंगलाचरण में शिव की वन्दना की है। उज्जैन का महाकाल शिव का मन्दिर कालिदास के युग में अपने पूर्ण गौरव को प्राप्त था। मेघदूत में कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में शिव पूजा का अत्यन्त कलात्मक चित्रण किया है। कालिदास का कुमार-संभव नामक महाकाव्य पार्वती की तपस्या एवं कार्तिकेय के जन्म की कथा प्रस्तुत करता है।

यद्यपि गुप्त सम्राट वैष्णव थे, फिर भी उनके शासन काल में शैव मत का निरन्तर प्रसार हुआ और बहुत से उत्कृष्ट शिव मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनके ध्वंसावशेष आज भी उपलब्ध हैं। भारत में पंचदेवोपासना बहुत प्राचीन है। पंचदेवों में भगवान् शिव भी हैं। शिव पुराण में तो शैवोपासना का उद्भव एवं विकास पूर्ण विस्तार के साथ है ही, साथ ही अन्य पुराणों में भी शिव-स्तुति मिलती है। वस्तुतः पंच देव ब्रह्म की ही पाँच मूर्तियाँ हैं—

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शैव मत भी भारत में बहुत प्राचीनकाल से पल्लवित हो रहा है। यह वैष्णव धर्म से कम प्राचीन नहीं है। वैदिक देवताओं में शिव का स्थान नहीं है किन्तु वैदिकोत्तर काल में 'शिव' एक अत्यन्त लोकप्रिय अवढरदानी देवता के रूप में हमारे सामने आते हैं।

वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त शैव और शाक्त सम्प्रदाय भी चलते रहे। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत लकुलीश या नकुलीश, पाशुपत, लिंगायत, कापालिक आदि कई सम्प्रदाय हुए हैं। कापालिक लोग शिव के रुद्र रूप की पूजा करते हैं। शैवों की पूजा में केवल धतूरा आदि के फूलों और विल्व पत्रों का अधिक प्रचार है। शैव लोग त्रिपुण्ड धारण करते हैं और रुद्राक्ष की माला पहिनते हैं।

जैन-धर्म

"जैन शब्द 'जिन' धातु से बना है, जिसका अर्थ है जीतने वाला। जिसने अपने समस्त कषायों तथा कर्मों को जीत लिया है, वही जैन है।" जैन धर्म भी उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक धर्म और विद्वानों ने संभावना व्यक्त की है कि यह प्राक्-वैदिकयुगीन धर्म है। मोहनजोदड़ो के उत्खनन से मिली सीलों (मुहरों) से स्पष्ट पता चलता है कि वहाँ वृषभदेव तीर्थङ्कर की उपासना होती थी। ऐसी एक मुहर मिली है। इस प्रकार पाँच हजार वर्ष प्राचीन सिन्धु सभ्यता के समय जैन धर्म प्रचलित था। भ्रमवश अनेक लेखकों ने जैन धर्म को बौद्धधर्म का परवर्ती या समकालीन लिख दिया है। दोनों ही धारणाएँ भ्रामक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लेखकों ने बुद्ध और महावीर को समकालीन देखकर ही ऐसी भ्रामक धारणा व्यक्त की। वे भूल जाते हैं कि पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व यदुवंश मुकुटमणि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई तीर्थङ्कर नेमिनाथ हुए थे और उनसे पूर्व इक्कीस तीर्थङ्कर हो चुके थे। आदि तीर्थङ्कर वृषभदेव कुलकर नाभिराजा के पुत्र थे और मनु या हिरण्यगर्भ कहलाते थे। वे कल्पवृक्ष युग की समाप्ति के समय उत्पन्न हुए और उन्होंने उस युग के मानव को प्रथम बार कृषि कर्म सिखाते हुए कर्म-युग का प्रारम्भ किया। इससे पूर्व कल्पवृक्ष का भोग युग था। उन्होंने असि, मसि और कृषि की शिक्षा दी। वे इक्ष्वाकुवंश के प्रवर्तक क्षत्रिय थे और उन्होंने तीन वर्ण बनाये—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जैन पुराणों के अनुसार इन्द्र ने उन्हें पहली बार असि (तलवार, शस्त्र) अर्पण किये, जिसकी

शिक्षा देकर प्रजा को उन्होंने वीर एवं पराक्रमी बनाया। इस प्रकार जैन धर्म वैदिक धर्म की भाँति बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है। व्रात्य मुनियों की परम्परा का अस्तित्व वेदों में सुरक्षित है।[1] वेद के सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने 'व्रात्य' का निरूपण करते हुए लिखा है—"यहाँ उस व्रात्य से मंतव्य है जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील तथा विश्व पूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं।"[2]

व्रात्य परम्परा—व्रात्य परम्परा के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में व्रात्य मुनियों का भी एक सम्प्रदाय था, जो आचारशील, पुण्यात्मा और विश्व संपूज्य था। इन व्रात्य मुनियों की परम्परा जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर वृषभदेव से प्रारम्भ हुई और अन्तिम २४ वें तीर्थङ्कर महावीर स्वामी तक चलती रही।

चौबीस तीर्थङ्करों के नाम इस प्रकार हैं—(१) ऋषभनाथ (२) अजितनाथ (३) सम्भवनाथ (४) अभिनन्दननाथ (५) सुमतिनाथ (६) पद्मप्रभनाथ (७) सुपार्श्व-नाथ (८) चन्द्रप्रभुनाथ (९) पुष्पदन्तनाथ (१०) शीतलनाथ (११) श्रेयांसनाथ (१२) वासुपूज्यनाथ (१३) विमलनाथ (१४) अनन्तनाथ (१५) धर्मनाथ (१६) शान्तिनाथ (१७) कुन्थुनाथ (१८) अरनाथ (१९) मल्लिनाथ (२०) मुनिसुव्रतनाथ (२१) नमि-नाथ (२२) नेमिनाथ (२३) पार्श्वनाथ (२४) वीरनाथ (वर्धमान-महावीर)।

कुलकर या मनु—मानव समाज के नियामक एवं मार्गदर्शक मनु या कुलकर कहलाते थे। ये चौदह होते हैं, जिनके नाम ये हैं—(१) प्रतिश्रुति (२) सन्मति (३) क्षेमकर (४) क्षेमन्धर (५) सीमंकर (६) सीमन्धर (७) विमलवाहन (८) चक्षुष्मान (९) यशस्वान (१०) अभिचन्द्र (११) चन्द्राभ (१२) मरुद्देव (१३) प्रसेनजित् (१४) नाभिराय।

चौदहवें कुलकर या मनु नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थ-ङ्कर हुए। शाश्वत कोष में 'नाभिराय' शब्द का अर्थ इस प्रकार है—"जिस प्रकार प्राणी के अंगों में नाभि प्रमुख होती है, उसी प्रकार सब राजाओं में 'नाभिराज' प्रधान थे।"[3] कुलकर या मनु नाभिराय के पुत्र ऋषभ भी मनु कहलाते हैं। इनका

---

१. व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्। (अथर्ववेद १५।१)

२. किंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसामान्यं, कर्म परैर्ब्राह्मणविद्विष्टं व्रात्यमनुपलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।"

३. वैदिक परम्परा में स्वायम्भुव मनु को मानवों का आदि स्रष्टा माना गया है। उनकी वंश-परम्परा इस प्रकार है—

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः।। (श्रीमद्भागवत ११।२।१५)

चिन्ह वृषभ था, अतः ये वृषभ देव भी कहलाते हैं। इनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है—

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुणश्रवासीत् ।
येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति । (श्रीमद्भागवत ५।४।९)

"श्रेष्ठ गुणों के आश्रयभूत, महायोगी भरत अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ थे उन्हीं के नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं।"[1]

प्रजापति वृषभदेव—प्रजापति वृषभदेव ने अपने प्रथम वय में प्रजापति-धर्म का पालन करते हुए जहाँ प्रजाओं को पूर्ण सुखी करने का प्रयत्न किया और असि, मषी, कृषि, शिल्प और वाणिज्य आदि विद्याओं द्वारा उनके जीवनीय उपायों का मार्गदर्शन किया, उसी प्रकार अपने उत्तरकाल में संन्यासपूर्वक मोक्ष प्राप्त कर उन्होंने पारलौकिक पथ का प्रबोध भी किया। इस प्रकार इहलोक तथा परलोक दोनों के लिए अपेक्षित पथ का प्रदर्शन करने से उन्होंने प्रजापति तथा शिव दोनों रूप में प्रतिष्ठा पाई। उनके राजत्व काल में प्रजाएँ नितान्त प्रसन्न थीं और किसी प्रकार के अभाव की अनुभूति नहीं थी। ऋग्वेद के एक मंत्र में वृषभदेव को प्रजाओं को धनादि से प्रसन्नता प्रदान करने वाला राजा कहा गया है।[2] भागवत में लिखा है—"भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थपरम्परा से रहित केवल आनन्दानुभवस्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तथापि विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वालों को उसकी शिक्षा दी। साथ ही शम, शान्त और सुहृद एवं कारुणिक रहकर धर्म अर्थ, यश, सन्तान, भोगसुख तथा मोक्ष का उपदेश करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।"[3]

वृषभदेव ने व्रात्य परम्परा को प्रवर्तित किया एवं उसे पुष्ट बनाया। वे दीक्षा लेकर तपश्चर्या में मग्न हुए एवं केवलज्ञान प्राप्त करके दिगम्बर वेश में विचरण करते थे। क्योंकि 'लोक में नग्नत्व सहज है, स्वाभाविक है। वस्त्रों में शरीर का

---

१. आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः। आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतखण्डमुच्यते ॥
—नारद पुराण

२. आ चर्षणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः ।
स्तुतः श्रवस्यन्तवसोप मद्रिग्युक्त्वा हरी वृषणा याह्यर्वाङ ॥ (ऋक् १।२३।१७७)
इसी मन्त्र में इन्द्र के लिए उच्चैश्रवाः अश्व तथा वृषभ के लिए वृष-वाहन (उनके चिन्ह) का उल्लेख किया है।

३. "भगवानृवृषभसंज्ञ आत्मतंत्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलनन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारममाण कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थ यशः प्रजानन्दामतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ।" (भागवत ५।४।१४)

आच्छादन विकार है।" (यशस्तिलकचम्पू)[1] वे श्रमण दिगम्बर रूप में विचरण करते थे—

श्रमणा दिगम्वरा श्रमणा वातरसना।

आगम—जैन धर्म में सम्यग्यान का प्रतिपादन करने वाले शस्त्रों को आगम कहा गया है।[2] आप्तवाणी को ही आगम, जिनवाणी, दिव्यवाणी, जिन सरस्वती तथा मोक्षगिरा कहते हैं। जिसके कर्मों की पूर्ण निर्जरा हो गई है और जिसके आत्म-गुणों का साक्षात्कार कर लिया है, वही आप्त है। जैनागम के चार भाग हैं। उनके नाम ये हैं—

१. **प्रथमानुयोग**—इसमें तीर्थङ्कर तथा पुराण पुरुषों के चरित्रों का वर्णन है।

२. **करणानुयोग**—इसमें लोक और अलोक के विस्तार, आकार-प्रकार, युगों के परिवर्तन तथा जीव की चार गतियों का वर्णन है।

३. **चरणानुयोग**—इसमें गृहस्थ एवं त्यागी के आचार-विचार का निरूपण हुआ है।

४. **द्रव्यानुयोग**—इस अनुयोग में जीव-अजीव, पाप-पुण्य, बन्धु, संवर, निर्जरा और मोक्ष के स्वरूप का वर्णन है।

जैनागमों की मूलभाषा प्राकृत या जनभाषा है। आगम साहित्य की दृष्टि से श्रुतपंचमी का विशेष महत्त्व है। जैन धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनादि मन्त्र णमोकार है। वह इस प्रकार है—

(१) णमो अरहंताणं—अर्हन्तों को नमस्कार
(२) णमो सिद्धाणं—सिद्धों को नमस्कार
(३) णमो आइरियाणं—आचार्यों को नमस्कार
(४) णमो उवज्झायाणं—उपाध्यायों को ,,
(५) णमो लोए सव्वसाहूणं—साधुओं को ,,

ये पंच परमेष्ठी नमस्कार मन्त्र है। इसमें अर्हन्त को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। साधुओं के लिए पंच महाव्रत बताये गये हैं और उन्हीं को श्रावक गृहस्थ अणु रूप में पालन करते हैं। वे ये हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्म-चर्य। सम्यक्, दर्शन ज्ञान और चारित्र्य रूपी त्रिरत्न को मोक्षमार्ग माना गया है।

---

१. नग्नत्वं सहजं लोके विकारो वस्त्रवेष्टनम्।
महावीर स्वामी के बाद जैन धर्म में एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी उदित हुआ है किन्तु प्राची-नता की दृष्टि से दिगम्बर सम्प्रदाय ही प्रामाणिक है, जिसके माध्यम से साहित्य एवं कला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है।

२. धर्म के दश लक्षण ये हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

श्री फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री के शब्दों में 'जैनधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है। इसमें मुक्ति और उसके कारणों की मीमांसा साङ्गोपाङ्ग और सूक्ष्मता के साथ की गई है। इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें प्रवृत्ति के लिए यत्किञ्चित् भी स्थान नहीं है। वस्तुतः प्रवृत्ति कथञ्चित निवृत्ति की पूरक है। अशुभ और शुभ से निवृत्ति होकर जीव की शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति हो यह इसका अन्तिम लक्ष्य है। यहाँ शुभ से हमारा अभिप्राय शुभ राग से है। राग भी बन्ध का कारण है, इसलिए वह भी हेय है। इसका अपना दर्शन है जो आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। जैन धर्म एकमात्र उसी मार्ग का निर्देश करता है जो आत्मा के निज स्वरूप की प्राप्ति में सहायक होता है। यद्यपि कहीं-कहीं स्वर्गादि रूप अभ्युदय की प्राप्ति धर्म का फल कहा गया है किन्तु इसे औपचारिक ही समझना चाहिए। धर्म का साक्षात् फल आत्म विशुद्धि है। इसकी परमोच्च अवस्था का नाम ही मोक्ष है। यह न तो शून्य रूप है और न इसमें आत्मा का अभाव माना गया है। संसार में संकल्प-विकल्प और संयोगजन्य जो अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, मुक्तात्मा में उनका सर्वथा अभाव हो जाता है, इसीलिए जैनधर्म में मुक्ति-प्राप्ति का उद्योग सबके लिए हितकारी माना गया है।"

महावीर निर्वाण के ढाई हजार वर्ष—तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण को १९७४ में ढाई हजार वर्ष हो जावेंगे। महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर हुए। इनका मूल नाम इन्द्रभूति था, ये जाति से ब्राह्मण थे। महावीर के निर्वाण के साथ ही गौतम गणधर को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इन्होंने बारह वर्ष तक जैनधर्म का अपने उपदेश द्वारा प्रचार किया। गौतम के बाद सुधर्म नामक केवली ने बारह वर्ष धर्म प्रचार करते हुए भारत में विहार किया। जम्बू-स्वामी नामक महान् प्रतापी आचार्य ने जैन संघ को सुसंघटित करते हुए ३८ वर्ष जैन शासन को चलाया और चौरासी (मथुरा) क्षेत्र में निर्वाण प्राप्त किया। आचार्य भद्रबाहु (ई० पू० ३२५) अन्तिम श्रुत केवली थे। इनके समय में बारह वर्ष का भयंकर अकाल पड़ा। तब यह अपने साधु संघ को दक्षिण भारत ले गये। प्रसिद्ध मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने इन्हीं आचार्य भद्रबाहु से मुनिदीक्षा ली और दक्षिण में चले गये—

मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्ख धरदि चन्द्रगुत्तोय।

(तिलोयपण्णत्ति। १४८)

चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार और पौत्र सम्राट अशोक प्रसिद्ध हैं। सम्राट अशोक को बौद्ध धर्म का महान प्रचारक माना जाता है। अशोक का फिरोजशाह कोटला, दिल्ली का शिलालेख उसे जैन धर्मावलम्बी सिद्ध करता है—

निगण्ठेसु पिमे कटे वियापटा हो हंति।

निगण्ठ या निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनि को कहते हैं। अशोक ने कश्मीर तक जैन धर्म का प्रचार किया। अशोक के पौत्र सम्राट सम्प्रति ने भी जैन धर्म के प्रचार

के लिए पर्याप्त उद्योग किया। वह २१५ ई० पू० में सम्राट बना। उसने देश-विदेश में धर्म प्रभावना के लिए जैन साधुओं को भेजा और बहुत से लोकोपकारी कार्य किये। इस प्रकार सम्प्रति के काल में जैनधर्म सुदूरवर्ती देश-विदेशों में फैला हुआ था। बौद्धग्रन्थ महावंश में सम्प्रति के काल में लंका में जैन मुनियों के जाने का उल्लेख मिलता है।

विक्रम की प्रथम शती में आचार्य गुणधर हुए। इन्होंने 'कसायपाहुड़' प्राकृत भाषा में लिखा, जो तत्त्व ज्ञान का उत्तम ग्रन्थ है। इसकी 'जयधवला' नामक बृहद् संस्कृत टीका है। इस प्रकार जैन मुनि एवं आचार्यों ने तथा जैन विद्वानों ने भारत की सबसे प्राचीन भाषा प्राकृत का आदर किया, उसमें विपुल साहित्य की रचना की। इसके बाद संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, गुजराती और मराठी आदि प्रमुख भारतीय भाषाओं में भी जैन मुनियों ने साहित्य रचना की।

जैनधर्म के चार संघ हैं—(१) मुनि (श्रमण) (२) आर्यिका (श्रमणी) (३) श्रावक और श्राविका। मुनि महाव्रती और श्रावक अणुव्रती होते हैं। पंच महाव्रत ये हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका पालन मन, वचन और कार्य से किया जाता है। जैन संस्कृति में निम्नांकित आठ बातों को विशेष महत्त्व दिया है—

(१) **श्रम और तप**—यह श्रमण संस्कृति की प्रधान विशेषता है।

(२) **चारित्र की महत्ता**—श्रमण संस्कृति में चारित्र की निर्मलता पर विशेष बल दिया गया है।

(३) **विषय-पराङ्मुखता**—श्रमण संस्कृति आध्यात्मिक उन्नति को महत्व देती है और विषयों से दूर रहने की शिक्षा प्रदान करती है।

(४) **जीओ और जीने दो**—श्रमण संस्कृति में स्वहित और परहित दोनों को समान महत्त्व दिया है।

(५) **आत्मोपलब्धि**—सांसारिक नश्वर विषय-वासनाओं से विरक्त हो, अविनाशी परमपद मोक्ष प्राप्त करना श्रमणों का मूल उद्देश्य रहा है।

(६) **दिगम्बरत्व**—श्रमण संस्कृति में दिगम्बर को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(७) **सुख-दुःख में समता भाव**—श्रमण संस्कृति में समता भाव को विशेष महत्व दिया गया है।

(८) **नारी की प्रतिष्ठा**—श्रमण संस्कृति में नारी को बहुत प्रतिष्ठित पद पर आसीन किया है।

जैन धर्म को निरीश्वरवादी कहना अनुचित है। जैनधर्म में प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञ बनने के गुण माने हैं। जैन दर्शन में आत्मा को निश्चय की दृष्टि से शुद्ध और

व्यवहार की दृष्टि से शुद्ध एवं विकृत उभयरूपा माना है। 'सम्यग दर्शन, ज्ञान और चरित्र नामक त्रिरत्न से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।' (तत्त्वार्थसूत्र) 'अहिंसा परमो धर्म', जैन धर्म का मूल मन्त्र है। जैनधर्म में अनन्त सिद्धात्मा एवं परमात्माओं को माना गया है किन्तु वह परमात्मा जगत् का कर्ता, हर्ता, धर्ता नहीं है, वह तो वीतराग भगवान् है। उसकी भक्ति सांसारिक वैभव की प्राप्ति के हेतु नहीं वरन् वीतरागता एवं केवलज्ञान के लिए की जाती है।

सांख्य और योग दर्शन के ईश्वरवाद से जैन दर्शन की कुछ समानता है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरंडश्रावकाचार्य में ईश्वर के गुणों का निरूपण इस प्रकार किया है—

क्षुत्पिपासाजरातङ्क जन्मान्तक भयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

"जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, मद, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य नहीं है वही ईश्वर कहा जाता है।"

वेदान्त का जीवन्मुक्त ही जैन दर्शन का 'अर्हन्त' है। आत्मा और मोक्ष के स्वरूप-सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर विचार करने पर भी जैन दर्शन वैदिक दर्शन की भाँति आस्तिक ठहरता है। इसकी गणना नास्तिक या वेद विरोधी दर्शनों में करने का कारण इसके पूर्ण ज्ञान का अभाव है। प्रायः विद्वानों ने जैन तत्त्व ज्ञान का गंभीर अध्ययन किये बिना (ब्राह्मणों ने द्वेषवश) कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित करदी हैं, जो आज ज्ञान के आलोक में एकदम निराधार सिद्ध हो चुकी हैं।

बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध ने ढाई हजार वर्ष पूर्व श्रमण संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण कर बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया। प्रारम्भ में गौतम बुद्ध ने जैन साधु का शिष्य बनकर दिगम्बर वेश में तपस्या की थी। मज्झिम निकाय में लिखा है "मैं वस्त्ररहित रहा, मैंने आहार अपने हाथों से किया। न लाया हुआ भोजन लिया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ लिया, न निमन्त्रण से जाकर लिया।"

डा० रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है "जैन मत, बौद्ध मत की अपेक्षा कहीं प्राचीन है। बुद्ध ने अपने लिए जो मार्ग चुना, वह बिलकुल नवीन मार्ग नहीं था। वह जैन साधना में से निकला था और याम, कृच्छाचार एवं तपस्या की परम्परा भी जैन साधना से ही निकली। इस प्रकार जैन साधना जहाँ एक ओर बौद्ध साधना का उद्गम है, वहाँ दूसरी ओर वह शैव-मार्ग का भी आदि स्रोत है।" जैन धर्म में आत्मधर्म का प्रचार है तो बौद्ध धर्म में लोकधर्म या मानव धर्म का।

गौतम बुद्ध का जन्म ई० पू० ५६३ में कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन में हुआ। यह स्थान नेपाल राज्य के अन्तर्गत और भारत की सीमा से आजकल ५ मील की दूरी पर स्थित है। उनकी माता का नाम महामाया था। उनका

यशोधरा नामक राजकुमारी से विवाह हुआ था और राहुल नामक पुत्र था। उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में घरबार छोड़कर अभिनिष्क्रमण किया। देवदूतों के द्वारा प्रदर्शित जरा, रोग, मृत्यु और भिक्षुक के दर्शन से उनके मन में सहसा तीव्र उद्वेग उत्पन्न हुआ और उन्होंने संसार-त्यागकर काषाय धारण किया। बोधिवृक्ष गया के नीचे तपस्या करते हुए उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ।

ज्ञान प्राप्त होने के बाद गौतम बुद्ध ने अपने लोकधर्म का सर्वप्रथम उपदेश सारनाथ में किया। उन्होंने अपने उपदेश बोधगम्य दृष्टान्त शैली में जन-भाषा में दिए। उन्होंने सभी वर्ण एवं जाति के लोगों को अपने धर्म का अधिकारी ठहराया। बहुत से राजा-महाराजा भी उनके शिष्य बन गये। इससे बौद्धधर्म का विशेष प्रसार हुआ। बुद्ध ने ४५ वर्ष तक धर्म प्रचार करने के बाद ८० वर्ष की आयु में ५२० ई० पू० के लगभग कुशीनार में निर्वाण (महामोक्ष) प्राप्त किया।

महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं के समक्ष जो प्रथम उपदेश दिया, वह धर्म चक्र प्रवर्तन कहलाता है। उन्होंने सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके चार आर्य सत्य खोज निकाले—

(१) **दुःख सत्य**—संसार में मानव जीवन में दुःख ही दुःख है। जन्म, जरा, व्याधि, मरण और अनिष्ट संयोग ये पाँच दुःख के रूप हैं और अनिवार्य हैं।

(२) **दुःखों का कारण**—संसार के दुःखों का कारण तीन प्रकार की तृष्णा है—संसार के सुखों की तृष्णा, स्वर्ग के सुखों की तृष्णा और आतपनाश की तृष्णा।

(३) **दुःख निरोध सत्य**—तृष्णाओं के उन्मूलन से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(४) **दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा**—दुःख से बचाने वाला मध्यम मार्ग निर्मल ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग है, अष्टांगिक मार्ग है। तृष्णाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए आठ बातें ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।

बुद्ध ने दस शीलों का भी उपदेश दिया, जो इस प्रकार हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्यगान का त्याग, सुगन्धित पदार्थों का त्याग, असमय में भोजन का त्याग, कोमल शय्या का त्याग, कामिनी-कांचन का त्याग।

इन दस शीलों में से पाँच शीलों का पालन करना गृहस्थ एवं अन्य लोगों के लिए तथा दस शीलों का पालन भिक्षुओं के लिए आवश्यक बताया।

महात्मा बुद्ध का कर्म-सिद्धान्त और आवागमन में विश्वास था। वे आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन थे। वेदों की प्रामाणिकता उन्हें मान्य नहीं थी और यज्ञ के भी वे घोर विरोधी थे। वे जाति-पाँति के बन्धन को नहीं

मानते थे और शूद्र को भी निर्वाण का अधिकारी मानते थे। बौद्ध धर्म का त्रिरत्न इस प्रकार है—

बुद्धं शरणं गच्छामि
धर्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि

बौद्ध धर्म में आचार की प्रधानता है। अहिंसा को विशेष महत्त्व दिया है। मानव सेवा के हेतु करुणा का प्रसार बौद्ध धर्म का मूल मन्त्र है। **बौद्धधर्म में संघ के** द्वारा धर्म प्रचार का तरीका अपनाया गया।

बौद्धधर्म का विकास—बौद्ध धर्म का विश्वव्यापी धर्म के रूप में भारत और सुदूरपूर्व में विकास हुआ। इसकी उन्नति के प्रमुख कारण ये थे—

(१) गौतम बुद्ध का महान् एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं उनसे प्रभावित सम्राट।

(२) राज्याश्रय का प्राप्त होना और भारतीय ही नहीं कनिष्क जैसे विदेशी वंश सम्राटों द्वारा इसका विश्व में प्रचार।

(३) संघ व्यवस्था के द्वारा धर्म का प्रचार।

(४) जनसाधारण की पालिभाषा में उपदेश।

(५) बुद्ध के उपदेशों की सरल, व्यावहारिक शैली।

(६) अहिंसा एवं जीवदया की प्रधानता।

(७) बौद्ध भिक्षुओं का त्यागमय जीवन।

(८) जाति-पाँतिगत ऊँच-नीच का अभाव।

अशोक को सभी बौद्ध परम्पराएँ बौद्ध घोषित करती हैं किन्तु वास्तव में वह सभी धर्मों का हितैषी था। बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४,००० बौद्ध स्तूपों का निर्माण कराया। उसने बौद्ध कला के प्रसार-विकास में बहुत सहयोग दिया।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिणापथ में कुछ समय तक सातवाहनों का प्राधान्य रहा। यद्यपि सातवाहन वंशीय राजा ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे, किन्तु उनकी उदारता से दक्षिणापथ में बौद्ध धर्म एवं कला का प्रचुर विकास हुआ। भाजा, पितलखोरा, कोन्डाने, जुन्नर, बेड्सा, नासिक एवं कार्ली में अनेक शिलोतखात चैत्य एवं विहार उपलब्ध होते हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० तीसरी शती तक पूर्वी दक्षिणापथ के कृष्णा एवं गुन्टूर जिलों में बौद्ध धर्म की समृद्धि के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जग्गयपेट और श्री शैल बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र थे। अमरावती दक्षिण में बौद्ध कला के विकास का केन्द्र बना।

यवन शासक—ई० पू० दूसरी एवं प्रथम शताब्दी में अनेक यवन शासकों ने पश्चिमोत्तर भारत में शासन किया और सद्धर्म के विकास में योगदान किया।

मैनेन्डर अथवा मिलिन्द का नाम प्रसिद्ध है। उसने सद्धर्म के लिए बहुत से बिहार एवं चैत्य बनवाये। अपनी कुछ मुद्राओं में उसने चक्र का चिन्ह् भी रखा। आगाथोक्लेस नाम के ग्रीक राजा की मुद्राओं में भी स्तूप एवं बोधिवृक्ष चिह्नित हैं। यवनों की सद्धर्म के प्रति रुचि अशोक के समय से ही मिलती है। मौद्गलीपुत्र तिष्य ने धर्मरक्षित नाम के यवन को यवन प्रदेशों में सद्धर्म के प्रचार के लिए चुना। यवनों का मुख्य केन्द्र गान्धार प्रदेश था, जहाँ ग्रीक शिल्प एवं बौद्ध आदर्श के समन्वय से 'गान्धार कला' का विकास हुआ। ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों में गान्धार कला फली-फूली। शक एवं कुषाण शासकों ने भी गन्धार कला का पोषण किया। बुद्ध प्रतिमा का विकास मथुरा में भागवत् धर्म की मूर्ति पूजा की प्रेरणा से ईसवी सन् के प्रारम्भ में हुआ। गान्धार कला में बुद्ध प्रतिमाएँ बहुतायत से बनीं।

गुप्तकाल—डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के शब्दों में "गुप्तकाल को बौद्ध धर्म के प्रसार और कला का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। उस समय मध्य-एशिया के अतिरिक्त फाश्येन ने उत्तरायण और मध्यप्रदेश में बौद्ध धर्म की समृद्धि का उल्लेख किया है, जिसका पुरातत्वीय सामग्री से समर्थन होता है। गुप्तकाल में मथुरा शैली में बौद्ध प्रतिमाओं का बहुल परिमाण में निर्माण हुआ। सामान्यत: गुप्तकालीन बुद्ध प्रतिमा में शीर्ष के प्रभाचक्र में एक-केन्द्रिक वृत्तों में अलंकरण उत्कीर्ण होते हैं, केश सावर्त प्रदर्शित किये जाते हैं, ऊर्जा का प्रदर्शन नहीं होता, भौहों का आलेख निराला है। गुप्तकाल में मथुरा और सारनाथ बुद्ध प्रतिमाओं के निर्माण के दो केन्द्र थे।

बौद्ध धर्म के दो यान—बौद्ध धर्म में मतभेद के कारण दो शाखाएँ हो गईं—महायान और हीनयान। महायान के मुख्य अधिष्ठाता महाकवि अश्वघोष थे। महायान की प्रमुख विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानना।
(२) बुद्ध को मुक्तिदाता मानना।
(३) बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण करके उनके प्रति भक्ति-पूजा करना और उन्हें अवतार मानना।
(४) अनेक बोधिसत्वों की कल्पना।
(५) बुद्ध के प्रति भक्ति रखने से ही निर्माण की प्राप्ति।
(६) इच्छाओं की पूर्ति को मोक्ष माना गया।
(७) पूजा-पाठ को स्थान दिया गया।
(८) पाली के स्थान पर संस्कृत को अपनाया गया।
(९) ज्ञान के स्थान पर भक्ति को महत्व प्रदान करना।

हीनयान बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप को ही बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानता है। हीनयान में बुद्ध को धर्म गुरु एवं पथ प्रदर्शक माना है, ईश्वर नहीं। हीनयान में मोक्ष प्राप्ति पर विशेष वल दिया है। इसमें अवतारवाद तथा आत्मवाद

के लिए कोई स्थान नहीं। यह मत प्रमुख रूप से ज्ञान एवं पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तियों तथा संन्यासियों के लिए था। यह धर्म शुष्क, सिद्धान्तपरक तथा आचारवादिता में दृढ़ था, अतः जनता में लोकप्रिय न हो सका। इसमें ज्ञान और वैराग्य को महत्व दिया गया। हीनयान में संघोन्मुखी भावना ने उसे अनुदार, कठोर एवं अपने ही क्षेत्र में सीमित बना दिया।

गुप्तकाल में बौद्ध धर्म का विकास बौद्ध आचार्य वसुबन्धु द्वारा हुआ। गुप्त सम्राटों के बहुत से अधिकारी बौद्ध थे। इस काल में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का ही अस्तित्व था। बौद्ध धर्म के अनुयायी अब बुद्ध तथा बोधिसत्वों को ईश्वर का अवतार मानने लगे और इनकी मूर्तियाँ बनाकर चैत्यों में उनकी पूजा करने लगे।

शाक्त—शाक्त लोग प्रायः हिंसावादी होते हैं। वे भगवान की शक्तियों के उपासक होते हैं। उनमें कुछ सौम्य हैं और कुछ उग्र। सौम्य शक्तियों या देवियों के नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, नारसिंही और ऐन्द्री। इनको मातृका कहते हैं। काली, कराली, कपाली, चामुण्डा और चण्डी, ये देवियों के उग्ररूप हैं और इनकी उपासना कापालिकों में होती है। वाममार्गी लोग कौल कहलाते हैं। ये भी शाक्तों में से ही हैं। इसमें से कुछ तो मांस, मदिरा और मैथुन आदि पंचमकारों का खुला प्रचार करते हैं और कुछ इनका हठयोगी अर्थ लगाते हैं। शाक्त लोगों में जवाकुसुम के फूल तथा अन्य लाल चीजों का अधिक चलन रहता है।

गुरु गोविन्दसिंह और स्वामी दयानन्द—भारत में आठवीं शती से मुसलमानों का आगमन शुरू हो गया था। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में आक्रमणों ने उग्र रूप धारण कर लिया था और धर्म परिवर्तन भी हुए। ईसाई धर्म तो भारत में यूरोप से भी पहले ईसा की पहली शती में मद्रास में आया, किन्तु प्रचार-कार्य पश्चिमी शक्तियों के भारत में प्रभुत्व प्राप्त करने पर प्रारम्भ हुआ। ईसाइयों ने अधिकांश में शिक्षा द्वारा धर्म का प्रचार किया और कुछ अछूतोद्धार द्वारा। मुसलमान शक्ति से लोहा लेने के लिये सिक्ख धर्म का उदय हुआ। यह धार्मिक और राजनैतिक सम्प्रदाय था। सिक्खों के अब तक दस धर्म गुरु हुए हैं। गुरू नानक (जन्म सन् १४६७ ई०) प्रथम गुरू हुए और गुरू गोविन्दसिंह अन्तिम गुरू हुए हैं और अब गुरुओं के स्थान में ग्रन्थ साहब की मान्यता है। वे जाति-पांति को नहीं मानते हैं। कड़ा, केश, कंघा, कृपाण और कच्छ पंच मकारों का विशेष आदर करते हैं। सिक्ख संस्कृति में पान-सिगरेट और अन्य नशीली वस्तुएँ निषिद्धि समझी जाती हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द थे। उन्होंने सन् १८६३ के करीब अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया था। आर्यसमाज से पुरानी वैदिक सभ्यता का प्रचार करते थे। वे मूर्ति-पूजा और श्राद्ध को नहीं मानते थे। समाज सुधार का भी आर्यसमाज ने बहुत काम किया। उसने ईसाई और मुसलिम धर्म की बढ़ती हुई लहर को रोका। हिन्दी और संस्कृत के प्रचार में आर्यसमाज ने बड़ा योग दिया।

राजा राममोहन राय—जो कार्य स्वामी दयानंद ने पंजाब और उत्तर प्रदेश में किया वह कार्य बंगाल में राजा राममोहनराय ने किया। सती प्रथा को उठवाया और विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया। केशवचन्द्र सेन ब्रह्मसमाज को ईसाई धर्म के बहुत निकट ले आये। ब्रह्म समाज में बुद्धिवाद का अधिक महत्व है। ये शब्द प्रमाण नहीं मानते, परन्तु उपनिषदों के कुछ वाक्यों को (जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म') अधिक महत्व देते हैं। राजा राममोहन राय का ब्राह्म समाज प्राचीन भारतीय संस्कृति के अधिक निकट है। केशवचन्द्र सेन का ब्रह्मसमाज ईसाई धर्म के (विशेषकर यूनीटोरियन ईसाइयों के) अधिक निकट आ गया था। ब्राह्म समाज ने भारत को सर जगदीशचन्द्र बसु जैसे वैज्ञानिक और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे कवि और विचारक दिये। आजकल भारतवर्ष में बुद्धिवाद का प्रचार बढ़ता जाता है। जाति-पाँति के बन्धन शिथिल होते जाते हैं। विदेशी संस्कृति का अधिक प्रचार है, फिर भी देशी संस्कृति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है।

दर्शन

दर्शन नाम की सार्थकता—दर्शन कहते हैं देखने को। यह शब्द देवादि महान् सत्ताओं को देखने में विशिष्ट हो गया है, जैसे चन्द्र-दर्शन, देव-दर्शन आदि। किन्तु दर्शन सदा मूर्ति पदार्थों का ही नहीं होता वरन् अमूर्त पदार्थों का भी होता है। उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय माना है—'आत्मा वा परे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, 'दर्शन द्वारा परम दैवत ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किये जाते हैं। हमारे वाताम्बुपरणहारी ऋषियों ने भारत के विस्तृत तपोवनों में, जिनकी महिमा रवि बाबू ने 'प्रथम सामरव तव तपोवने' लिखकर गायी है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के दर्शन कर अमरत्व प्राप्त किया था। यह दर्शन भिन्न-भिन्न झरोकों में से प्राप्त करने के कारण पूर्ण नहीं हो सकता, किन्तु देवताओं की सी झांकी का सा महत्व रखता है। यही दर्शन शब्द की सार्थकता है और यही भारतीय दृष्टिकोण को अन्य देशों के दृष्टिकोण से पृथक कर देता है। अंग्रेजी में दर्शन का पर्यायवाची शब्द है (Philosophy), जिसका शाब्दिक अर्थ होता है ज्ञान का प्रेम। इसलिए उनका दृष्टिकोण केवल बौद्धिक जिज्ञासा का है। भारतीय मनीषी, दर्शन को केवल चिन्तन की वस्तु नहीं समझता वरन् साक्षात्कार का विषय बनाता है। इसलिए उपनिषदों में आत्म-ज्ञान के लिए तप और ब्रह्मचर्यादि साधन बतलाये हैं। यही हमारे यहाँ के दर्शनों की विशेषता है कि ये केवल बुद्धि का विलास नहीं वरन् साधना के विषय हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी प्रातिभ-ज्ञान (Intution) को माना है। वह बौद्धिक ज्ञान से ऊंचा है, किन्तु उसमें योग का सा साक्षात्कार नहीं है। भारतवर्ष में दर्शन का एक व्यावहारिक उद्देश्य है, वह 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतं' की सी केवल कौतूहलमयी जिज्ञासा नहीं है। उन्होंने उसको अमरत्व-प्राप्ति का साधन

माना है। भारतीय मनोवृत्ति आध्यात्मिक है। यहाँ अपने पुरुषार्थ की इतिकर्तव्यता इस दृश्य जगत के क्षणभंगुर वैभव की उपलब्धि में नहीं समझी गयी है।

हमारे यहाँ धर्म और दर्शन का उद्देश्य एक ही रहा है। वह है सांसारिक अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति। किन्तु, धर्म का अर्थ साम्प्रदायिकता नहीं रहा है। 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' यह वैशेषिक जैसे भौतिक दृष्टिकोण प्रधान दर्शन की ही भूमिका है। हमारे यहाँ सांसारिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा नहीं की गई है किन्तु, वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं रहा है।

संख्या और क्रम—भारतीय दर्शनों की संख्या निर्धारित करना कठिन है क्योंकि दर्शनशास्त्र का विषय व्यापक है। यहाँ सभी विद्याओं का प्रदीप है। सब का इससे सम्बन्ध है और सभी अन्तिम तत्व इसके प्रकाश के मुखापेक्षी रहते हैं। इसी लिये तो हमारे यहाँ पाणिनि और रसेश्वर दर्शनों के नाम से व्याकरण और आयुर्वेद को भी दर्शनों में स्थान मिला है। सर्वदर्शन-संग्रहकार ने सोलह दर्शन माने हैं।

साधारणतया हम दर्शनों के दो विभाग कर सकते हैं—वैदिक और अवैदिक। इन्हीं को हमारे यहाँ आस्तिक और नास्तिक दर्शन कहा गया है। हमारे यहाँ वेदों की प्रतिष्ठा ईश्वर से भी अधिक है। वेद की प्रतिष्ठा ज्ञान का सम्मान है। 'नास्तिको वेदनिन्दकः'। सांख्य दर्शन ईश्वर की उपेक्षा करके भी आस्तिक है क्योंकि वह वेदों को शब्द प्रमाण मानता है। आस्तिक दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा (वेदान्त)। चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शनों में प्रमुख हैं। हमारे यहाँ के दार्शनिक सदा देश और काल के परे जाने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसीलिये उन्होंने काल की परवाह भी नहीं की। भारत के अन्य वाङ्मय की भाँति दर्शन-साहित्य का काल-क्रम निर्धारित करना कठिन है। भारतीय दर्शनों के मूल सिद्धान्त उपनिषद काल में बहुत पहले निर्धारित हो चुके थे, किन्तु उनका नामकरण और उनको सूत्र-बद्ध रूप में लाने का कार्य पीछे से हुआ है, हम केवल यही कह सकते हैं कि पहले वेद, फिर उपनिषद, उसके पश्चात् सूत्र और उसके पश्चात् उनके वार्तिक, भाष्य, टीका, कारिका आदि ग्रंथ रचे गये। ये सूत्र अनुमानतः मौर्य-युग के कुछ पहले ही लिखे गये होंगे। डॉक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा दर्शनों का सूत्र-बद्ध होना ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में मानते हैं। बाल्मीकीय रामायण, महाभारत (विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीता में) और श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में जो दार्शनिक चिन्तन मिलता है वह उपेक्षणीय नहीं है। सम्प्रदायों के तन्त्र ग्रन्थों में भी उच्च कोटि का दार्शनिक विवेचन है।

यदि हम यह मान लें कि विकास का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर है तो इस दृष्टिकोण से हम दर्शनों के तार्किक क्रम का अनुमान लगा सकते हैं। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदांत), एक दूसरे के पश्चात् तार्किक क्रम से आते है और सम्भव है कि यह काल-क्रम भी हो।

वैशेषिक दर्शन—इसके प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। कणाद शब्द का अर्थ है कणों (खेत में पड़े हुए अन्न के कणों) को खाने वाले। यह था ऋषियों का सांसारिक वैभवहीन सात्विक जीवन। सम्भव है कि कण या परमाणुओं को मानने के कारण यह नाम पड़ा हो। वैशेषिक नाम 'विशेष' नाम के एक पदार्थ मानने के कारण पड़ा। वैशेषिक का दृष्टिकोण यद्यपि भौतिक है तथा उसका उदय धर्म की व्याख्या के लिए ही हुआ है, 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम:'। धर्म से सांसारिक अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्त होती है। नि:श्रेयस की प्राप्ति पदार्थों के ज्ञान द्वारा होती है। इस सम्बन्ध में पदार्थों की व्याख्या हो जाती है। पदार्थ ६ माने गये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इनमें सब वस्तुओं को विशेष रूप से ही देखा गया है। आत्मा को अन्य और द्रव्यों (पंच तत्व, काल, दिशा, आत्मा और मन) के साथ एकद्रव्य माना है। वैशेषिक ने परमाणुओं को माना है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम किया। यही आधुनिक विज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है। विदेशी वैज्ञानिकों ने भी माना है कि कई अर्थों में वैशेषिक का विज्ञान अर्वाचीन विज्ञान से भी आगे बढ़ा हुआ है और संभव है कि विज्ञान भी उन तथ्यों की ओर अग्रसर हो जिनकी छानबीन इस शास्त्र में की गयी है।[1] वैशेषिक में पदार्थ को ही सृष्टि का एकांक मानकर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग का निर्देशन किया गया है, इस प्रकार स्वाभाविक है कि पदार्थ के गुण आदि का विवेचन किया जाय। वैशेषिक के अनुसार पदार्थ को छ: एकांकों में बाँटा गया है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—

धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञाननि: श्रेयसम् ॥

पण्डितराज पद्मभूषण श्री राजेश्वरशास्त्री द्रविड़ ने भारतीय प्राचीन तत्वज्ञान का आधुनिक विज्ञान से तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है[2]—'आधुनिक-विज्ञान की दृष्टि से यह विभाजन (महर्षि कणाद का पदार्थ विभाजन) मेल नहीं खाता। पदार्थ और द्रव्य दोनों समान हैं और इस पदार्थ के गुण और कर्म, जो सामान्य और विशेष प्रकार के होते हैं, वर्णन किये जाते हैं। वैशेषिक ने भी वही किया है, किन्तु एक विचित्र दार्शनिक दृष्टिकोण से द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों को समान अस्तित्व वाला माना है। फिर द्रव्य को ९ भागों में बाँटा गया है, वास्तव में पदार्थ का यही वर्गीकरण समझना चाहिये। इसके अनुसार ९ प्रकार के द्रव्य होते हैं पृथ्वी, आप:, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इस प्रकार अन्य शास्त्रों में जो पंच महाभूत बताये गये हैं उनमें चार और इकाइयाँ जोड़ दी गई हैं—काल, दिशा, आत्मा और मन। अर्वाचीन विज्ञान के दृष्टिकोण से पदार्थ और शक्ति को आइनस्टीन

---

१. प्रो० मुंज।
२. 'आज', २४ दिस० १९६७, 'हमारा प्राचीन तत्वज्ञान'।

के सापेक्षवाद के सिद्धान्तानुसार समकक्ष मान इस प्रसरणशील महान विश्व का जो कालदिक कान्टिनुयम, स्पेस टाइम काण्टिनुयम है, वह इस वर्गीकरण की पुष्टि करता है। साथ ही वैशेषिक दर्शन आत्मा और मन को भी इसी विस्तारण का अंग मान एक नयी प्रगति का आभास देता है, क्योंकि आत्मा और मन का जो विवेचन दिया है वह भी वैज्ञानिक शब्द क्षेत्र और पदार्थ की विशेषता रखते हैं। जिस प्रकार चुम्बकीय क्षेत्र, गुरुत्व क्षेत्र हैं उसी प्रकार आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है, किन्तु मन इस प्रकार के क्षेत्र के गुण से परे है।

अब हम गुणों पर ध्यान दें तो पाते हैं कि द्रव्य के गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न बताये गये हैं। इनमें ५ ऐसे अन्तिम गुण हैं जिन्हें भौतिक विज्ञान में हम नहीं रख सकते, शेष गुणों की विशद विवेचना अर्वाचीन विज्ञान में हुई है। संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व के गुण द्रव्य को, अणु को परमाणुओं में विभक्त करते हैं। इस प्रकार हम यहाँ भी देखते हैं कि चेतन पदार्थ विज्ञान का विस्तार सुख दुख आदि गुणों से बढ़ जाता है। महर्षि कणाद ने सूत्रों में इन तथ्यों को प्रकट किया है और यदि भौतिक विज्ञान के विस्तार को हम दो दिशाओं में बढ़ावें तो जो परिणाम निकलेंगे, वे कहाँ तक महर्षि कणाद के सूत्रों की पुष्टि करते हैं, यह भविष्य के गर्भ में है। एक दिशा है कि द्रव्य के भीतर आत्मा और मन को भी रखना और गुणों के अन्तर्गत सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को शामिल करना। इस प्रकार जो जीव-भौतिक-विज्ञान बन पावेगा वही महर्षि कणाद द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक दर्शन के समकक्ष का विज्ञान होगा। प्रो० मुंज, जिनकी अवस्था लगभग ८० वर्ष की हुई, अभी गत वर्ष भारतवर्ष आये थे और उन्होंने अनेक व्याख्यानों में भारतीय वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और बताया कि "अमेरिका के कुछ वैज्ञानिक भी इस दृष्टिकोण को अपनाकर आगे बढ़ना चाहते हैं ताकि प्रायोगिक विधियों द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर वैशेषिक के सूत्रों की जाँच की जाये, किन्तु उन्होंने भारतीय वैज्ञानिकों को भी इस दिशा में अग्रसर होने की बात बतलायी। वास्तव में इतनी भौतिक उन्नति के होते हुए भी संसार में सुख-शान्ति दूर जा रही है, और भारतीय दर्शन की ओर ही हम शान्ति के लिये देख सकते हैं। वैसी दशा में कणाद का वैशेषिक दर्शन बड़ा महत्वपूर्ण ज्ञान पड़ता है क्योंकि पार्थिव जगत् की रचनाओं को लेकर अन्त में उस चिरंतन शान्ति का मार्ग निर्देशन किया गया है, जो त्रस्त संसार की एकमात्र चाह है।"

आत्मा—वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्यस्वरूपा द्रव्य है। चेतन इन्द्रियों का प्रवर्तक, विषयों का उपभोक्ता तथा शरीर से परिछिन्न है, वही आत्मा है। चैतन्य शरीर के व्यापार ही आत्मा के परिचायक लिंग हैं—'प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।' अर्थात् प्राण तथा अपान, इन प्रयत्नों का कर्ता, निमेष तथा उन्मेष, इन कार्यों का

प्रवर्तक, जीवन अर्थात् शरीर का अधिष्ठाता, मन को प्रेरित करने वाला, सभी इन्द्रियों का स्वामी और सुख-दुख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न—इन मनोभावों का सूचक केवल आत्मा है। इसके दो भेद हैं—जीवात्मा-अनित्य तथा शरीर भेद से अनन्त है; परमात्मा-नित्य तथा एक है। जीवात्मा के चौदह गुण हैं—पाँच सामान्य—संख्या, परिणाम, पृथकृत्व, संयोग, विभाग। नौ विशेष गुण—बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना, धर्म और अधर्म।

न्याय दर्शन—इसके प्रवर्तक हैं महर्षि गौतम, जिनको अक्षपाद भी कहते हैं। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है। 'नीयते प्राप्यते विविक्षितार्थ-सिद्धिरनेन इति न्यायः' अर्थात् जिसके द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि तक पहुँचाया जाय वही न्याय है। न्याय में विवेच्य विषयों की अपेक्षा विवेचन या सत्योपलब्धि के साधनों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसीलिये उनके सोलह पदार्थों में पन्द्रह तर्क-शास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं और प्रमेय में दुनियाँ के और सब विषय आ जाते हैं। न्याय के पदार्थ इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान। पिछले छः दूषित तर्क ही हैं। न्याय ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नाम के चार प्रमाण माने हैं। प्रमाण प्रमा वा यथार्थ ज्ञान के साधन हैं। वैशेषिक में उपमान और शब्द को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है।

न्याय में बारह प्रमेय (जानने योग्य पदार्थ) माने गये हैं—(१) आत्मा-सब वस्तुओं का द्रष्टा, भोक्ता ज्ञाता एवं अनुभव कर्ता। (२) शरीर भोगों का आयतन। (३) इन्द्रियाँ—भोगों के साधन। (४) अर्थ—भोग्य पदार्थ। (५) बुद्धि। (६) मन। (७) प्रवृत्ति—मन, वचन और शरीर का व्यापार। (८) दोष—जिसके कारण सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति होती है। (९) पुनर्जन्म। (१०) फल—सुख या दुःख का अनुभव। (११) दुख। (१२) अपवर्ग या मोक्ष।

आत्मा—न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा निराकार, स्पर्शादिगुणरहित, ज्ञान एवं चेतन्य का अमूर्त आश्रय, देशकाल के बन्धनों से मुक्त और सीमातीत है। अतएव उसे विभु और नित्य कहा गया है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा अनेक एवं प्रत्येक शरीर में भिन्न हैं और परमात्मा एक है। जीवात्मा के छह लिंग (गुण) ये हैं—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान। शरीर आत्मा का भोगायतन है। शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध पूर्व कर्मों के फल का उपभोग करने के लिए होता है—पूर्वकृत फलानुबन्धात अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय का विकासक्रम बहुत काल तक चलता रहा। नव्य न्याय ने तर्कशास्त्र को तत्व ज्ञान से पृथक कर शुद्ध तर्कशास्त्र की स्थापना की और व्याप्ति ग्रहण के उपायों की विशद विवेचना की। यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहा। नव्य न्याय के लिए नवद्वीप नदिया शान्तिपुर बहुत प्रख्यात है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों की मान्यताएँ प्रायः एकसी हैं और उनको एक वर्ग में रखा जाता है। तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, आदि जो प्रकरण ग्रन्थ बने उनमें न्याय वैशेषिक के सिद्धान्त सम्मिलित हैं। आर्यसमाज में इन दर्शनों की विशेष प्रतिष्ठा है।

सांख्य दर्शन—इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। सांख्य के सिद्धान्तों का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी है। उसमें कपिल के तत्वों को गिनाने वाला (तत्व संख्याता) कहा है। सांख्य ने २५ तत्व माने हैं—इनमें पुरुष और मूल प्रकृति मुख्य हैं। पुरुष के अस्तित्व के कारण प्रकृति में विकास प्रारम्भ होता है।

इस संयोग में अन्ध-पंगु न्याय से प्रकृति-पुरुष दोनों को ही लाभ हैं। प्रकृति ज्ञान के अभाववश अन्धी है, पुरुष क्रिया के अभाव के कारण पंगु है। अन्धा लंगड़े को यदि अपने ऊपर बैठाले तो दोनों रास्ता चल सकते हैं। अन्धा चलेगा, लंगड़ा रास्ता बतायगा। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि चलती है। प्रकृति पुरुष के बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। मुक्ति पाने के लिए २५ तत्वों का ज्ञान आवश्यक है।

आत्मा—सांख्य के अनुसार आत्मा ज्ञाता और शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह स्वयं न ज्ञान है न चेतन वरन् ज्ञान उसका विषय है और चैतन्य उसका गुण। वह शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि भी नहीं है। वह चैतन्य स्वरूप है। वह साक्षी है, द्रष्टा है, उदासीन है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा।

प्रकृति के क्रमिक विकास की तालिका इस प्रकार है—

प्रकृति—(प्रधान, अव्यक्त)
↓
महत् (बुद्धि)
↓
अहंकार (भूतादि)
↓

↓	↓	↓	↓
मन	पंच ज्ञानेन्द्रियाँ	पंच कर्मेन्द्रियाँ	पंच तन्मात्राएँ (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श)
			पंचभूत (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी)
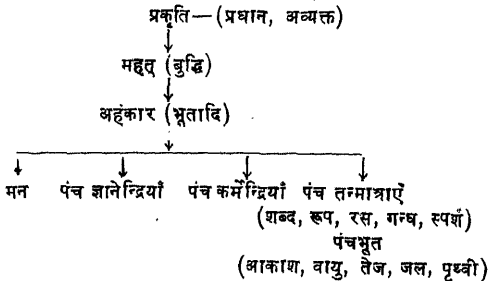
सांख्यदर्शन का अत्यन्त लोकप्रिय प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण कृत 'सांख्य कारिका' है।

सांख्य को अधिकांश लोगों ने निरीश्वर माना है और योग को सेश्वर सांख्य कहा है। प्रकृति पुरुष के अस्तित्व मात्र से स्वयं ही कार्य कर लेती है। उसमें ईश्वर की जरूरत नहीं पड़ती। सांख्य सूत्रों में एक प्रसंग विशेष में 'ईश्वरासिद्धेः प्रमाणाभावात्' कहा है। इसी के आधार पर विद्वानों ने सांख्य के निरीश्वर होने की कल्पना की है। ईश्वर की सिद्धि साधारण प्रमाणों से नहीं होती।

योग दर्शन—इसके प्रवर्त्तक हैं महर्षि पतञ्जलि। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' जिस प्रकार वैशेषिक के सिद्धान्तों की पुष्टि न्याय प्रतिपादित प्रमाणों से होती है, उसी प्रकार सांख्य की पुष्टि और पूर्ति योग द्वारा होती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं। वे इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम के द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अभ्यास होता है। नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर के प्रणिधान का विधान है। आसन से शरीर को ध्यान और समाधि के योग्य बनाया जाता है। आसन से शरीर में सौन्दर्य, लावण्य, बल एवं क्षमता आती है। प्राणायाम से चित्त को शान्त और स्थिर करते हैं। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाते हैं। इसके बाद मन और शरीर को शुद्ध करके धारणा के द्वारा चित्त को एक स्थान पर नियत कर देते हैं। ध्यान द्वारा चित्त स्थिर रूप से एक विषय के चिन्तन में लीन रहता है। ध्यान अन्त में समाधि में परिणत हो जाता है। समाधि द्वारा पुरुष सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाकर कैवल्य की प्राप्ति करता है। यही जीव का चरम साध्य है। योगदर्शन में कर्म की विशद व्याख्या है। योगदर्शन में सांख्य की सृष्टि-योजना में ईश्वर का स्थान स्पष्ट कर दिया जाता है। वह उस माली का सा है जो बरहे को साफ कर पानी की गति को अबाधित कर देता है। मेरी समझ में सांख्य की सृष्टि-योजना में इतनी गुंजाइश अवश्य है कि प्रकृति की साम्यावस्था को विषम बनाकर सृष्टि-क्रम जारी करने के लिए एक निमित्त कारण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

पूर्व मीमांसा दर्शन—इसके आचार्य हैं महर्षि जैमिनी। यद्यपि इनका विषय धर्म की जिज्ञासा है, तथापि इसमें वेदों के पौरुषेय या अपौरुषेय होने तथा उनके अर्थ लगाने की विधि और यज्ञों का विवेचन है। जैमिनी ने केवल तीन प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द माने थे। आगे चलकर प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति तथा कुमारिल भट्ट ने अनुपलब्धि प्रमाण माने।

मीमांसा में कर्म की प्रधानता है—'कर्मेति मीमांसकाः।' इस प्रधानता के कारण कुछ लोगों ने मीमांसाशास्त्र को निरीश्वरवादी माना है। इसका कारण यह है कि कर्म-फल देने में ईश्वर की आवश्यकता नहीं रखी गई है। कर्म स्वयं ही फलवान हो जाते हैं। किन्तु जो शास्त्र वेदों को पूर्णतया प्रामाणिक मानता है वह ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता है। कुमारिल भट्ट ने मोक्ष के लिए कर्म और ज्ञान दोनों को महत्त्वपूर्ण माना है।

उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन—वेदान्त शब्द के कई प्रकार से अर्थ किये गये हैं—वेदों का अन्त अर्थात् वेदों के कर्म और उपासना के पश्चात् ज्ञानकाण्ड जो उपनिषदों में प्रतिपादित है। वेदान्त का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जो विद्या वेदों के अध्ययन के पश्चात् आती हो। वेद और उसके अंगों को अपरा विद्या कहा है और वेदान्त या ब्रह्म-विद्या को परा-विद्या कहा है—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद····अपरायथातदक्षरमधिगम्यते ।

भारत में वेदान्त-दर्शन का सर्वाधिक महत्व है—वेदों के अन्त, सार व निचोड़ को भी वेदान्त कह सकते हैं, उत्तर-मीमांसा शब्द में भी यही भाव है। वेदों के ज्ञानकाण्ड का विकास हमको उत्तरकालीन उपनिषदों में मिलता है। इसलिये ज्ञानप्रधान वेदान्त उत्तरकालीन मीमांसा नाम से प्रख्यात हुआ। कर्मकाण्ड प्रधान मीमांसा, पूर्व मीमांसा कहलाई। वेदान्त में तीन ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं—उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता। इनको प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता बादरायण या वेदव्यास जी हैं। ब्रह्मसूत्र में चार पाद हैं जिनमें चार-चार अध्याय के हिसाब से सोलह अध्याय हैं। ये चार पाद स्वयं ब्रह्म के ही द्योतक हैं। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है—'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां० ३।१२।६) अर्थात् सारा विश्व ब्रह्म का एक-चौथाई भाग है और तीन पाद में वह अमृतरूप से स्थित है। ब्रह्म का व्यापक अंश थोड़ा है, संसार से जो परे अतीत अंश (Transendental) है वह बहुत है। ब्रह्मसूत्रों पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार टीकाएँ की हैं। यद्यपि वे एक ही ग्रन्थ की टीकाएँ हैं और उनमें सिद्धान्त का काफी भेद है, तथापि ये सब श्रुति-वाक्यों से बँधे हुए हैं और सब ही किसी न किसी प्रकार से जीव और ब्रह्म की एकता मानते हैं सिर्फ मध्वाचार्य पूर्ण द्वैतता मानते हैं।

श्री शंकराचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवाद कहलाता है। इनका सिद्धान्त इस प्रकार है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है, और जीव ब्रह्म है, दूसरा नहीं। वे अभेद को मानते हैं। सारे भेद मायाकृत हैं और झूठे हैं। श्री शंकराचार्य का वेदान्त-भाष्य शारीरिक-भाष्य कहलाता है।

'विवेक चूड़ामणि' शंकराचार्य का एक गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ है, उनमें वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण है। वेदान्त के अनुसार अविद्या के कारण यथार्थ पर मिथ्या का आवरण ही माया है—

यावद् भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता।
मिथ्याज्ञानोज्जृम्भितस्य प्रमादात् ॥
रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव।
भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत ॥

जिस प्रकार भ्रम की स्थिति पर्यन्त ही रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार भ्रम की स्थिति तक प्रमादवश मिथ्या ज्ञान से प्रकट हुए इस जीव भाव की सत्ता है।

'आत्मबोध' ग्रन्थ में शंकराचार्य ने 'जीवात्मपरमात्मनोः' कहकर 'अयम् आत्मा ब्रह्म' आदि महावाक्यों की पुष्टि की है। आत्मब्रह्म के ध्यान के लिए उन्होंने महावाक्यों एवं मंत्रों का चयन वेद और उपनिषद से किया है, यथा—

१. तत्वमसि (सामवेद, छान्दोग्य उपनिषद)।

२. अहं ब्रह्मास्मि (यजुर्वेद, बृहदारण्यक उपनिषद्)।

श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 'श्री भाष्य' में हुआ है। वे ब्रह्म को जगत और जीव से विशिष्ट मानते हैं। चित (जीव), अचित संसार और ईश्वर तीनों मिलकर हरि है—'ईश्वरश्चिदचिच्चेद पदार्थं त्रितयं हरि'। श्रीवल्लभाचार्य का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहा जाता है। वे सच्चिदानन्द ब्रह्म में सत्+चित+आनन्द तीनों गुण मानते हैं। जीव में आनन्द का तिरोभाव रहता है और सत् और चित का भाव रहता है। जड़ में आनन्द और चित दोनों का अभाव रहता है और केवल सत् का भाव रहता है। वे संसार को झूठा नहीं मानते। इनका सम्प्रदाय पुष्टि मार्ग भी कहलाता है। पुष्टि भगवान के अनुग्रह को कहते हैं। वल्लभाचार्य का भाष्य 'अणुभाष्य' कहलाता है। निम्बार्काचार्य का सिद्धांत द्वैताद्वैत कहलाता है। जीव की यह पृथक् सत्ता मानते हुए भक्ति द्वारा उसमें लीन हो जाना बतलाते हैं। वे राधाकृष्ण की उपासना पर बल देते हैं।

माध्वाचार्य पूर्ण द्वैतवादी हैं। वे जीव-जगत का और जीव और ब्रह्म का भेद मानते हैं। जगत के पदार्थों में भी मौलिक भेद मानते हैं।

आत्मा—वेदान्त में आत्मा को सभी प्रमाणों का आधार माना गया है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—अन्तःकरण की इन चार वृत्तियों से आबद्ध चेतना का नाम ही प्रत्यागात्मा या व्यक्तिगत आत्मा है। ब्रह्म माया से विशुद्ध, विनिर्मुक्त चेतना है। आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। आत्मा के आठ गुण हैं—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुख और उनके संस्कार। आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, सत्, कूटस्थ, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ज्ञात सब कुछ है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में वह एकरूप है।

समन्वय—यद्यपि भारतीय दर्शनों की संख्या ६ है और उनमें परस्पर भेद भी है, तथापि वह भेद दृष्टिकोण का है। वे एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते, वे एक दूसरे के पूरक हैं। इनका दृष्टिकोण-भेद समझ लेना चाहिए। षट् दर्शनों में वास्तव में तीन प्रकार की विचार-धाराएँ हैं। ये छओं दर्शन तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व-उत्तर मीमांसा। इन युग्मों में एक अनुष्ठापक और दूसरा ज्ञापक कहा जा सकता है, अर्थात् एक का सम्बन्ध साधनों और क्रियाओं से है और दूसरे का सम्बन्ध ज्ञान से। न्याय-वैशेषिक में न्याय ज्ञापक है और वैशेषिक अनुष्ठापक। वैशेषिक धर्म की व्याख्या के लिये आया, 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'। सांख्य-योग में सांख्य ज्ञापक और योग अनुष्ठापक है। योग में चित्त-वृत्ति के निरोध का साधन बतलाया है। उत्तर मीमांसा ज्ञापक है और पूर्व मीमांसा अनुष्ठापक है। उसका भी उदय धर्म की जिज्ञासा और व्याख्या के लिये हुआ।

परम-आत्मा 'जिनेश्वर ही ईश्वर है। तीर्थङ्कर भी परम-आत्मा के रूप ही हैं। परम-आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं सुख सम्पन्न है तथा अपने ही अनन्त गुणों में विराजमान है। वह कर्म, कर्मफल, पाप-पुण्य और कर्मफल प्रदान क्रिया आदि से संयुक्त नहीं है। संसार का भाग्यविधाता भी नहीं है। यह सिद्धान्त दृष्टि है। व्यवहार में ईश्वर को हर्ता, कर्ता, पालनकर्ता भी माना जाता है।

जैन धर्म के मुख्य चार सिद्धान्त ये हैं—अहिंसा, आत्मा का अस्तित्व एवं पुनर्जन्म, कर्म तथा स्याद्वाद। अहिंसा को परमधर्म[1] कहा है क्योंकि इसमें व्यक्ति और समाज की संजीवनी शक्ति निहित है। आत्मा को जैन-धर्म में शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, अनन्त शक्ति माना है किन्तु कर्मों के जाल में फँसकर अशुद्ध एवं मैली होकर संसार में भटक रही है। कर्म निर्जरा से ही इसकी मुक्ति सम्भव है।

कर्मों का सौन्दर्य—जैन दर्शन कर्म के सौन्दर्य में विश्वास रखता है। राग द्वेष के कारण शरीर, मन या वचन से जो क्रियाएँ की जाती हैं; उनसे कर्म-परमाणु आत्मा के पास खिंच आता है। यही आस्रव कहलाता है। हमारी प्रत्येक पुण्य या पापमय क्रिया से आत्मा में पुण्य या पाप का आस्रव होता रहता है, अतः हमें अपने कर्म को सुन्दरतम बनाना चाहिए। हमारी शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक क्रियाएँ सुन्दर हों, पुण्यमयी हों। यह जैन-दर्शन का कर्म-सिद्धान्त अद्भुत एवं अद्वितीय है। यह सामान्य कर्मवाद नहीं है वरन् गम्भीर चिन्तन एवं दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर्मवाद है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही भावी जीवन का निर्धारण करता है। इसमें किसी अलौकिक शक्ति का हाथ नहीं रहता।

राग-द्वेष आदि से प्रभावित कर्म के आस्रव को अर्थात् क्रिया के प्रकार के अनुसार कर्मरूपी द्रव्य का आत्मा से संलग्न हो जाना **बन्धत्व** है।

राग-द्वेष आदि के प्रभाव से कर्म के आस्रव के रोकने को ही **संवर** कहते हैं। जो कर्म हमारी आत्मा से बद्ध हैं उन्हें तप, योग आदि से दूर करने को **निर्जरा** कहते हैं।

जैन-दर्शन में न्याय, वैशेषिक और सांख्य का सा बहुपुरुषवाद है। संसार को सत्य माना गया है। वेदान्त के विपरीत जीव मुक्त होकर व्यक्तित्व को नहीं खो देता है। जैन-दर्शनों में आत्मा मुक्त होकर अपना पार्थक्य रखती है। इस प्रकार जैन-सिद्धान्त अनेकत्ववादी वेदान्त है और पुद्गल को अलग मानने से सांख्य के बहुत निकट आ जाता है। फिर भी उसकी विशेषता है। सबसे बड़ी विशेषता अनेकान्तिक दृष्टिकोण सम्बन्धी है। अर्थात् यह कि एक ही चीज को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रूप में देख सकते हैं। स्थायित्व की दृष्टि से हम वस्तु को अस्ति कह सकते हैं, किन्तु उनके परिवर्तनों की दृष्टि से उसे नास्ति कह सकते हैं। ऐसे सात

---

१. अहिंसा धर्म मानवता का धर्म है, सर्वोदय तीर्थ है, विश्वमैत्री का ग्रन्थ है।

—मुनि विद्यानन्द

भंग माने गये हैं। इसी को सप्तभंगी न्याय कहते हैं।[1] लेकिन दृष्टिकोण या नय अनेक हो सकते हैं। अनेकान्तवाद को भी मानते हुए जैन-सिद्धान्त अनेकत्व में एकत्व देख सकता है। मुनिश्री विद्यानन्द जी ने जैन दर्शन के महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'स्यादवाद' की व्याख्या इस प्रकार की है—

"एक वस्तु में नाना धर्म होते हैं। उन्हें वस्तु के पार्श्व चित्र कह सकते हैं। प्रत्येक पार्श्व का चित्र पृथक् होता है, हो सकता है। वह अपेक्षात्मक है। स्यात् कथंचित्त-शब्दों द्वारा उसके आपेक्षिक, अवयवों का बोध सुगम, सहज हो जाता है तथा विचार-विमर्श की व्यापकता स्वतः अनुभूत होती है। तब आलोच्य वस्तु उतनी ही नहीं रह जाती जितनी हम जानते होते हैं अथवा एक कालाच्छेदेन कह पाते हैं। वस्तु की इस बहुमुख अनेकान्तधर्मिता की व्याख्यान शैली का पारिभाषिक नाम स्याद्वाद है। हिमालय की ओर मुख करके उसके चारों ओर अवस्थित मनुष्य उसे पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओं में बतायेंगे। उनका यह निर्वचन उनकी स्वस्थिति के अनुसार समीचीन है क्योंकि हिमालय तत्पूर्वस्थित से पश्चिम है तो वही तत्पश्चिमस्थित से पूर्व भी है। इससे अतिरिक्त भिन्न-भिन्न कोणों के निरीक्षण पर ही वस्तु की समग्रता दृष्टिपथ में आ पाती है। अन्यथा वस्तु अपूर्ण तथा खण्डात्मक ही दिखायी देने से गोलार्धवत् अशेष परिलक्षित नहीं हो पाती।"

जैन-धर्म जीव को मिट्टी में मिला हुआ खान के सोने की भाँति मानता है। उसको वासनाओं के कारण पुद्‌गल का आस्रव होता रहता है और अधिकाधिक धूल मिलती जाती है। इस आस्रव को संवर और निर्जरा द्वारा रोक देना और जीव को शुद्ध कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। इसके लिये शमदमादि की आवश्यकता होती है। जैन-सिद्धान्त आवागमन को मानते हैं और कारण और तैजस शरीर में भी विश्वास रखते हैं। जैन धर्म सिद्धान्त में समताभाव रखता हुआ भी जाति-पांति को मानता है। अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी वह हिन्दू जीवन में घुल-मिल गया है।

जैन-धर्म में अठारह प्रकार के पाप और बयालीस प्रकार के आस्रव गिनाये हैं। डॉ० डी० आर० भण्डारकर के अनुसार "पाप और आस्रव" की इस तरह की तुलनात्मक गणना बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में नहीं पाई जाती।

अशोक ने अपने स्तम्भ प्रज्ञापनों में 'आसिनव' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द उसने जैनों से लिया है। डॉ० भण्डारकर ने लिखा है कि "पाप और

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम द्रव्यादेश वश सप्तभंगी का कथन करते हुए लिखा है—

सिय अत्थि णात्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणोयतत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥

(पञ्चास्तिकाय गा० १४)

(१) द्रव्यस्यात अस्ति (२) स्यात नास्ति (३) स्यात अस्ति-नास्ति (४) स्यात अवक्तव्यं (५) स्यात अस्ति अवक्तव्यं (६) स्यात नास्ति अवक्तव्यं (७) स्यात अस्ति नास्ति अवक्तव्यं।

आसिनव (आस्रव) में विभेद को, और जैन सूची में कम से कम तीन विकारों के समावेश को देखकर किसी को भी यह निश्चय हो जायगा कि बहुत संभाव्यतः अशोक ने यहाँ जैन-दर्शन की कुछ धारणाओं को अपना लिया है ।"[1]

श्री वाचस्पति गैरोला ने जैन-दर्शन के द्रव्य आदि तत्वों को निम्नांकित तालिका द्वारा दर्शाया है—
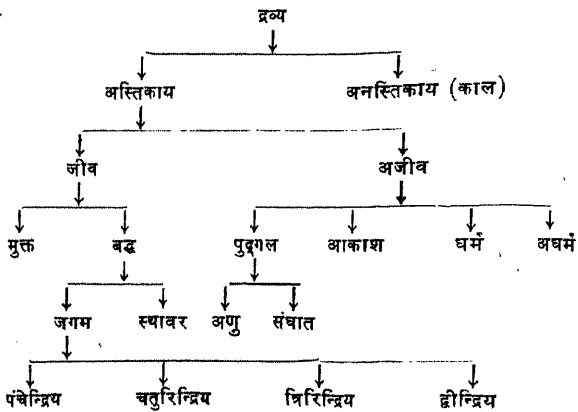
जैन-धर्म जीव की अनन्त सत्ता में विश्वास करता है । जल, वायु, इन्द्रिय, खनिज पदार्थ और धातुओं, सभी को वे जीववंत मानते हैं । उनके मतानुसार कुछ जीव पृथ्वीकाय, कुछ अपःकाय, कुछ वायुकाय और कुछ वनस्पतिकाय हैं । समग्र जीवों की 'बद्ध' और 'मुक्त' दो श्रेणियाँ हैं । बद्ध जीव भी कुछ 'सिद्ध' होते हैं और कुछ 'असिद्ध' । सिद्ध पुरुष ही जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ है ।

अजीव अथवा जड़ की पाँच श्रेणियाँ हैं । काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल । काल के अतिरिक्त शेष चतुर्विध जड़ पदार्थ अस्तिकाय है । सत् और सावयव पदार्थ ही अस्तिकाय कहलाते हैं । जो अपने स्वभाव में स्थिर है और उत्पत्ति, व्यय तथा ध्रुवत्व से युक्त है, उस गुण-पर्याययुक्त पदार्थ को ही द्रव्य कहते हैं । मिट्टी द्रव्य है और घर उसका पर्याय (प्रवचन सार २।४) काल सत् होने पर भी अस्तिकाय इसलिए नहीं क्योंकि वह निरवयव है । उत्पत्ति, क्रम और स्थिर स्वाभाव वाले गुण ही 'सत्' हैं (तत्वार्थाधिगमसूत्र ५।२९—उत्पाद, व्यय, ध्रोव्य-युक्तं सत्) ।

---

१. मुनिश्री विद्यानन्द : श्री पुरुदेव भक्ति गंगा, प्र० सं०, पृ० ६५ ।

जैन दर्शन का चरमोद्देश्य मोक्षप्राप्ति है जो त्याग और संन्यास के बिना दुर्लभ है। 'तत्वार्थसूत्र' में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग कहा है। 'जिन' अर्थात् इन्द्रिय विजयी ही जैन कहा जाता है।

मुनि-धर्म—श्रमण संस्कृति में मुनि-धर्म का विशेष महत्व है—

एस ओहन्तरे मुणी तिण्णे मुत्ते बिरए वियाहिए त्तिबेमि।

अर्थात् संसार सागर को तरने वाला ही मुनि है। उसी को 'तीर्ण', 'मुक्त' या 'विरक्त' कहा गया है। मुनि प्रज्ञा की आँख से लोक के स्वरूप को भलीभाँति जानता है। मुनि होने के पूर्व वह जीव वैराग्य भावना के द्वारा अपने परिवारीजनों से सम्बन्ध तोड़ लेता है और उनके आत्मा का स्वरूप बताते हुए अपना उनसे पार्थक्य निरूपित करता है। वैराग्य की भावना से ही मोहबंधन काटना संभव है। एक गाथा में यह प्रसंग आता है "हे भव्य जीवो, समझो। समझते क्यों नहीं। परलोक में धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है। गया समय फिर वापिस नहीं आता। बार-बार मनुष्य-जीवन मिलन कठिन है। कई बालकपन में, कई वृद्धावस्था में और कई जन्मते ही मर जाते हैं। आयु समाप्त होने पर जीवन किसी तरह नहीं टिकता। जिस प्रकार श्येन पक्षी छोटी-छोटी चिड़ियों को खा जाता है उसी प्रकार काल भी जीवों का संहार कर लेता है।" "जो जीव माता-पिता आदि के मोह में पड़ा है, उसको अच्छी गति नहीं मिलती। वह दुर्गति को जाता है।....इसलिए हे भव्य जीवो, संतोष को अपनाओ और मोह, ममता को छोड़ दो। थोड़े समय के सुखाभास के लिए सागर के समान दुःख को किसलिए अपने सिर लेते हो।" "जिस कुटुम्ब के लिए तुम प्रयत्न कर रहे हो वह तुम्हारे साथ चलने वाला नहीं है। जो कुटुम्बी तुम्हारे साथ चलने वाले हैं उनको अपनाने के लिए यदि थोड़ा सा भी प्रयत्न करोगे तो हमेशा के लिए सुखी बन जाओगे।"

मुनि विद्यानन्दजी के शब्दों में "रात्रिदिव आत्ममनन करने वाले को मुनि कहते हैं।" दिगम्बर मुनिचर्या के सम्बन्ध में मुनिश्री का कथन है "दिगम्बर मुनिचर्या सुलभ नहीं है। यह महाव्रती का जीवन है। बाहरी पदविक्षेप को संभालकर चलते हुए जहाँ चींटी का ध्यान रखना आवश्यक है वहाँ आभ्यन्तर आत्मप्रदेश को कर्म-बन्धन से नितान्त विमुक्त रखना परमावश्यक है। यदि विषयकषायों से रंजित अणु भाग भी मुनिजन में उदीर्ण होता है तो वह कर्मबन्धन उत्पन्न करता है। इसलिए मुनि सदैव अप्रमत्त रहते हैं। उनको दिये गये विशेषण काव्यमय अतिशयोक्ति अथवा केवल प्रशंसापरक नहीं कहे जा सकते। वे वस्तुतः उन गुणों का अहर्निश पालन करते हैं और अतिचार को क्षम्य नहीं मानते। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरि-ग्रह उनके महाव्रत हैं। "ईर्या, भाषा, एषणा, उत्सर्ग, आदाननिक्षेपण—पंच समितियाँ हैं। स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु:, श्रोत्र-निरोध करना पचेन्द्रिय निरोध है। सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—दैनिक षडावश्यक क्रिया हैं और केशलुंचन, अचैलक्य, अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, स्थिति भोजन तथा एकाहार

ये प्रकीर्ण गुण मिलाकर अष्टाविंश मूलगुण होते हैं जिनका पालन निर्ग्रन्थ मुनि करते हैं। सर्वसवद्यविरत, परहितनिरत, सर्वस्वत्यागी, परमाविरागी, मोहममताजयी, काम विजयी, तपस्त्यागसंयमादर्श, विश्ववन्द्य इत्यादि विशेषण उनके स्वरूप के वास्तविक अलंकरण हैं। मुनि मन, वचन और काय के त्रियोग का सदा ध्यान रखते हैं। मन और वचन को भिन्न-भिन्न रखते हुए भाषण नहीं करते।"[1]

मुनि विद्यानन्दजी के शब्दों में जैन-धर्म की सर्वोदय की विचारधारा का स्वरूप इस प्रकार है "विचारों में अनेकान्त, आचार में अहिंसक, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ही सर्वोदय है और इसी से सर्वोदय आ सकता है।"

बौद्ध दर्शन

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध थे। ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। इनका जन्म ईसा पू० ५६६ के लगभग हुआ था। इन्होंने तप करके गया में बुद्धत्व प्राप्त किया था और प्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन सारनाथ में किया था। इन्होंने चार आर्यसत्यों और अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया। इनके धर्म में वैदिक-कर्मकाण्ड के हिंसावाद की प्रतिक्रिया है। बौद्ध लोग वेद और ईश्वर को नहीं मानते। ये जाति-पाँति के विरुद्ध थे। इनके यहाँ संघ को विशेष महत्व मिला है। बुद्ध धर्म को स्वीकार करते समय लोग तीन रत्नों—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाते थे। वे कहते थे—"बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।" पूर्ण समता-भाव इसकी विशेषता है।

भगवान् बुद्ध ने उपासक के लिए कुछ नियमों का निरूपण किया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) त्रिशरण—बुद्ध, धर्म और संघ की।

(२) पंचशील—जीव-हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य भाषण तथा मादक द्रव्यों का सेवन कभी न करना।

(३) श्रद्धा—बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा।

(४) चाग—कृपणता त्यागकर उदारतापूर्वक दान एवं धर्म कार्यों में व्यय करना।

(५) पञ्ञा (प्रज्ञा)—दुःख मुक्ति के लिए प्रज्ञा का प्रयोग। लोभ, द्वेष, आलस्य, औद्धत्य एवं त्रिरत्न में संशय भाव का सर्वथा त्याग।

(६) सुत—धार्मिक प्रवचन ध्यानपूर्वक सुनना एवं मनन करना।

(७) रात्रि या कुसमय भोजन न करना।

(८) सुगन्धित पदार्थों, फूलों आदि का प्रयोग न करना।

(९) आराम देने वाली चारपाई पर शयन न करना, धरती पर साधारण शय्या बिछाकर सोना।

---

१. पिच्छि कमण्डलु, द्वि० सं०, पृ० ५७।

बौद्ध दर्शन का उदय भी सांख्य की भाँति दुख की निवृत्ति के लिए हुआ। जिस प्रकार सांख्य का मूल उद्देश्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, उसी प्रकार बुद्ध महाराज के आने का उद्देश्य बतलाया गया है कि उन्होंने दुःख और उसके कारणों और उसके शमन का उपाय बतलाया।

दुःखवाद और उससे मुक्ति—'सर्वम् दुःखम्' बुद्ध का मूल मंत्र था। यही वह प्रेरणा थी जिसने उन्हें 'बुद्ध' बनाया। 'जन्म दुख है, जरा दुख है, रोग दुख है, मृत्यु दुख है, अप्रिय के साथ संयोग दुख है, प्रिय से वियोग दुख है, हर अपूर्ण इच्छा दुख है।' केवल निर्वाण की स्थिति स्थायी और दुख से रहित है। दुख से निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति के लिए बुद्ध ने चार सत्य बताये—(१) **दुख** (२) **दुख का समुदय** या कारण अर्थात् तृष्णा। (३) **निरोध**—दुख को दूर करने का उपाय वासनाओं का पूर्ण नाश ही है। (४) **मार्ग**—वासनाओं से मुक्ति का मार्ग आष्टाङ्गिक मार्ग है। इनके मार्ग के आठ नियम इस प्रकार हैं—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (जीविका कमाने का साधन) (६) सम्यक् व्यायाम (उद्योग) (७) सम्यक् स्मृति तथा (८) सम्यक् समाधि (चिन्तन)।

मध्यमा प्रतिपदा—भगवान बुद्ध ने अपने मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहा "भिक्खुओ, संन्यासी को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अन्त कौन से हैं? एक तो करम और विषय-सुख में फँसना जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य (गँवारू) अनार्य और अनर्थकर है, और दूसरा शरीर को व्यर्थ में अतिकष्ट देना जो अनार्य और अनर्थकर है। इन दोनों अन्तों को त्यागकर तथागत (बुद्ध) ने मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को ग्रहण किया जो आँखें खोलने वाली और ज्ञान को देने वाली है।"

निर्वाण—बौद्धधर्म में निर्वाण का अर्थ ऐसी अवस्था की प्राप्ति है जिसमें सभी प्रकार की तृष्णा अथवा वांछा का अभाव रहता है। निर्वाण प्राप्त करने के बाद मनुष्य दुःखमूल जन्म अथवा पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त करता है। इस अवस्था में जरा, व्याधि, मृत्यु, शोक तथा क्लेश का अभाव है, अतः इसे जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य माना गया। (अरियपरियेसनसुत्त)। बौद्ध निर्वाण और उपनिषदों के ब्रह्म-निर्वाण में पर्याप्त अन्तर है। बौद्ध निर्वाण एक गतिशील प्रक्रिया (पटिच्च-समुप्पाद) है।

महाकरुणा—शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति अपने लिए नहीं वरन् अनेक जीवों का क्लेश दूर करने के लिए की, जो उनकी महाकरुणा के रूप में व्यक्त हुई। इस प्रकार बौद्धों की महाकरुणा को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ इस बाह्य संसार की हैं, जिनसे 'बुद्ध' विचलित होता है और करुणा का उदय होता है। बोधिसत्वों की चर्या महाकरुणा पुरःसर होती है, अतः महाकरुणा ही उसका प्रारम्भ है। इस करुणा के दुःखित तत्त्व ही पात्र हैं। 'जातक' में इस सम्बन्ध में

अनेक अन्तर्कथाएँ हैं। प्रायः सभी कथाओं का मूलमंत्र किसी न किसी रूप में महाकरुणा ही है। इसी महाकरुणा से प्रेरित परहित और परसुख की भावनाओं से ओत-प्रोत कहानियाँ समय पाकर धीरे-धीरे बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ बन गईं और यह ख्याल किया जाने लगा कि अनेक जन्मों तक प्राणि-हित के लिए अनेक प्रकार का त्याग और यत्न करते हुए वे बुद्ध हुए थे। उदाहरणार्थ जब बुद्ध को बोधिवृक्ष तले ज्ञान की प्राप्ति हुई तो उन्होंने मायान्ध संसारी लोगों को उपदेश व्यर्थ समझा परन्तु फिर ब्रह्मा की विशेष प्रार्थना करने पर सर्वभूतदया से प्रेरित होकर सत्वों के कल्याण के लिए धर्मोपदेश दिया। यह 'जातक' की एक कथा है। लोक का दुःख दूर करने के सम्बन्ध में बुद्ध का भिक्षुओं को संदेश है—"भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए.........मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए विचरण करो।"[1]

महायानी महाकरुणा को ही मोक्ष का उपाय मानते हैं। बोधिसत्व कभी कातर नहीं होता, क्योंकि वह अपना और दूसरों का दुःख दूर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। वेदना और मक्षकदंशक आदि व्यथा को सहन करके ये लोग महती व्यथा को सहन करने योग्य बनते हैं, अतः बौद्धों के अनुसार जो दुःख से पराजित नहीं होता वह व्यथा को अभिभूत करता है और परसुख का कारण बनता है। दुःख का यह भी गुण है कि वह यौवन धनादि-विषयक मद को भंग करके सांसारिक जीवों के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण बुद्धधर्म का मूल महाकरुणा ही रहती है।[2]

निर्वाण की साधना—निर्वाण विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध प्रेम का अन्तिम परिणाम है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि निर्वाण पाप प्रवृत्ति से छुटकारा है प्रेम से नहीं, क्षुद्रसत्ता से मुक्ति है विराट्सत्ता से नहीं, अशुभ का निवारण है कल्याण का नहीं।

निर्वाण प्राप्ति के लिए व्याकुल मुमुक्षुओं की तीन श्रेणियाँ हैं—

(१) **श्रावक**—बुद्ध की वाणी को शिरोधार्य करके, आर्यचतुष्टय सत्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके निर्वाण पद की प्राप्ति ही इनका एक मात्र लक्ष्य है।

(२) **बुद्ध**—निर्मल ज्ञान से द्वारा निर्वाण पद-प्राप्ति के निमित्त बुद्ध के बताये मार्ग पर चलते हैं। ज्ञान से जीव की उत्पत्ति का ज्ञान करके ये निर्वाण प्राप्त करते हैं और प्रत्येक 'बुद्ध' नाम से प्रसिद्ध हैं।

(३) **बोधिसत्व महासत्व**—ये 'बुद्धत्व' और 'सर्वज्ञत्व' प्राप्ति हेतु पूर्ववर्ती बुद्धों की भाँति निर्वाण साधना में लगते हैं। महाकरुणा को अपनाते हैं।

---

१. **बुद्धचर्या**—राहुलजी, प्र० सं०, अध्याय ७।
२. डॉ० जयकिशनप्रसाद : **महादेवी का वेदनाभाव**।

क्षणिकवाद—'अनित्य, दुःख, अनात्म' बुद्ध भगवान् के सम्पूर्ण दर्शन का प्रतीक है।[1] अनित्य ही क्षणिकवाद का द्योतक है। तत्व तीन प्रकार के होते हैं—पहला स्कन्ध, दूसरा आयतन तथा तीसरा धातु।

स्कन्ध के पाँच उपविभाग ये हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। रूप में पृथ्वी आदि चारों महाभूत वेदना में सुख-दुखात्मक अनुभूति, चेतन एवं अभिज्ञान संज्ञा और मन पर पड़ी छाप या वासना संस्कार हैं। चेतना एवं मन को विज्ञान कहते हैं। बुद्ध ने स्कन्ध के उपरोक्त पंचविभाग को नश्वर माना है।

आयतन द्वादश रूप वाला है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन (छः इन्द्रियाँ) तथा उनके छः विषय रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श; द्रव्य तथा धर्म।

धातु के १८ रूप—उपरोक्त छः इन्द्रियाँ, उनके छः विषय तथा उनके पारस्परिक सम्पर्क से जनित छः विज्ञान।

बुद्ध-दर्शन इन समस्त तत्वों को अनित्य या क्षणिक मानता है।

संसार और जीव के सम्बन्ध में बौद्ध लोग किसी शाश्वत आत्मा को नहीं मानते और न वे चार्वाकों की भाँति आत्मा के अस्तित्व को ही बिलकुल मिटाते हैं। जब तक वासना का क्षय नहीं होता तब तक आवागमन का चक्र चलता रहता है। लेकिन जो आत्मा जन्म लेती है वह आगे बढ़ती हुई संस्कारों की परम्परा है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति में प्रतिक्षण नये कण आते रहते हैं उसी प्रकार नये संस्कारों का प्रभाव चलता रहता है। बाह्य सत्ता भी इन क्षणिक विज्ञानों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इस संसार में सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इन क्षणिक पदार्थों में आधार के सम्बन्ध में बौद्धों के चार सम्प्रदाय हैं—वैभाषिक और सौत्रांतिक तो बाह्याधार मानते हैं, माध्यमिक और योगाचार नहीं मानते। योगाचार वाले शून्यवादी हैं। ये तो दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार विभाग कहा जाता है। बौद्ध धर्म की अठारह शाखाएँ थीं। धार्मिक दृष्टि से दो मुख्य शाखाएँ हो गईं—हीनयान और महायान। हीनयान का शासन बहुत कठोर था, महायान का शासन कुछ उदार था। हीनयान का ग्रन्थ पाली में है, महायान के संस्कृत में। महायन पर शैव सम्प्रदाय का प्रभाव था।

'महायान' का अर्थ है 'बड़ी गाड़ी' अर्थात् जिससे अधिक प्राणियों को निर्वाण सुख प्राप्त हो सके। हीनयान का अर्थ 'छोटी गाड़ी' अर्थात् थोड़े प्राणियों की निर्वाण-सुख-उपलब्धि का साधन। महायान बौद्धधर्म का व्यापक रूप प्रस्तुत करता है। इसमें भिक्षुओं का विशेष महत्व न होकर गृहस्थियों के लिए बौद्ध संघ के द्वार खोल दिये गये। महायान में सभी सूत्रों में 'कुलपुत्रों' और 'कुल पुत्रियों' को सम्बोधित किया गया है। 'प्रत्येक कुलपुत्र' बोधिचर्या द्वारा बुद्धत्व के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है

---

१. अंगुत्तरनिकाय ३।१।३४।

किन्तु वह दूसरों के लिए अपना सर्वस्व त्याग करना ही निर्वाण मानता है (सर्वत्यागश्च निर्वाणम्)।

नागार्जुन—महायान सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे। उनके बाद आर्यदेव, असंग, वसुबन्धु आदि ने इस मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण किया। महायान से ही माध्यमिक योगाचार दर्शन का विकास हुआ। महायान के सम्बन्ध में एक विद्वान का यह कथन द्रष्टव्य है—"पुरातन बौद्ध धर्म की अपेक्षा यह कम संघोन्मुखी और अधिक भावनामय था दान तथा सहायता के लिए इसमें अधिक स्थान था। इसमें भक्ति का रूप सामूहिक न होकर व्यक्तिगत था। हीनयान सम्प्रदाय इसकी अपेक्षा में अनुदार, कठोर और अपने ही दायरे में सीमित था।"

महात्मा बुद्ध का जीवन दर्शन उनके प्रवचनों में संकलित है। उन्होंने स्वयं कोई रचना नहीं की। उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को स्मरण रखा और उनके निर्वाण के बाद लिपिबद्ध किया। इन परवर्ती लिपियों में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी सम्मिलित हो गये हैं और उनमे से मूल बुद्ध वाणी को खोज निकालना कठिन हो जाता है। भगवान बुद्ध बातचीत करते हुए व्यावहारिक जीवन की मिसालें देकर गम्भीर तत्वों को सरल रूप में समझाने के अभ्यस्त थे।

हमारा भविष्य—भारतीय विचारधारा शुद्ध रूप में अठारहवीं सदी तक चलती रही। नवद्वीप में नव्य-न्याय का उत्तरकालीन विकास इसका प्रमाण है। निश्चलदास आदि के विचारसागर आदि ग्रन्थों में वेदान्तिक विचारधारा प्रवाहित हुई है। आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज ने भी भारतीय विचारधाराओं को अग्रसर करने में योग दिया है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा अरविन्द घोष ने भी अपने भाषणों में भारतीय विचारधारा को बढ़ाया ही है। उनकी मौलिक देन चाहे अधिक न हो, किन्तु उन्होंने ज्ञान की ज्योति को बुझने से बचाये रखा है। स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। आजकल के युग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी ने भारत की विचारधारा को विशेष रूप से प्रभावित किया है। कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यवाद सम्बन्धी कविताओं में वैष्णव प्रेम पद्धति का एक नये रूप में पुनर्जीवन मिलता है।

महात्मा गांधी ने नीति और आचार सम्बन्धी विचारधारा पर अधिक प्रभाव डाला है। उनकी विचारधारा में भारतीय अहिंसा और टालसटाय के विचारों का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है। भविष्य में चलकर इन विचारों का यथार्थ मूल्यांकन हो सकेगा। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, डॉ० एस. एन. दास गुप्त आदि विद्वानों ने भारतीय विचारधारा का अंग्रेजी भाषा जानने वालों को उनकी ही भाषा में (खग जाने खग ही की भाषा) परिचय कराया है। इसके साथ उन्होंने अपने विचारों द्वारा भारतीय विचारधारा को कुछ अग्रसर किया है। पाश्चात्य देशों में डॉ० राधाकृष्ण के विचार निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) के नाम से प्रख्यात है।

अब भारतीय विचारधारा शुद्ध गंगा-धारा तो नहीं रही है, उसमें पश्चिमी विचारधारा का यमुनाजल भी मिल गया है। यह तो इतना दुःख का विषय नहीं है, यह सम्मिश्रण हमारी विचारधारा को अधिक गति प्रदान करेगा। किन्तु पाश्चात्य विचारों की बिना समझे-बूझे कोरी नकल करना अवश्य दुःख का विषय है। हमको पश्चिम की विचार-धारा से भी लाभ उठाकर अपनी परम्परा को आगे बढ़ाना चाहिये।

राधया सहितो देवो माधवेन च राधिका।
योऽनयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति।

ऋक् परिशिष्ट (स्वध्याय मण्डल, औंध)

राधा तथा कृष्ण अभेद है, इनमें भेद देखने वाले साधक की मुक्ति नहीं होती।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोमध्य आत्मनि तिष्ठति। —कठोपनिषद्

अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य 'जीव' कहलाता है। यह जीव ब्रह्म के समान ही अद्वैत है—अद्वैत वेदान्त।

चतुर्थ खण्ड

प्राचीन भारतीय कला एवं विज्ञान का सांस्कृतिक मूल्यांकन
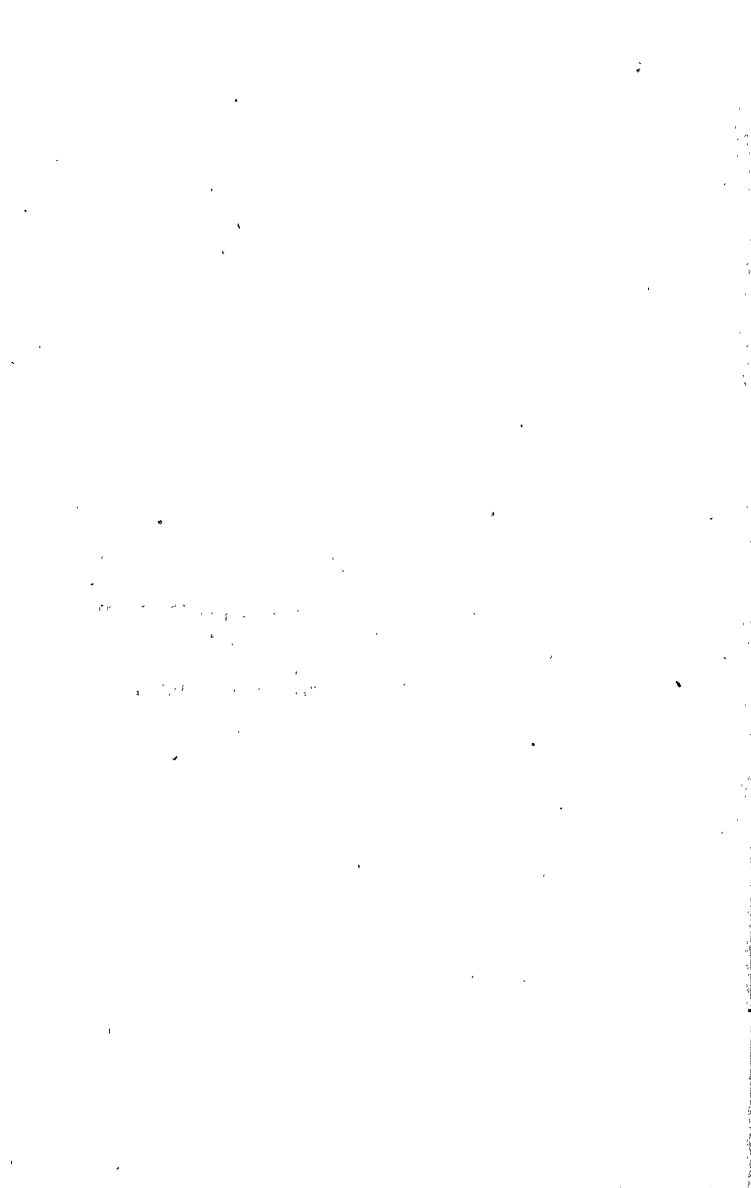
१ भारतीय कला

'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला'—साकेत

भारतीय कला की विशेषताएँ—मानव-आत्मा आनन्द से उद्वेलित हो जो अभिव्यक्ति करती है उसी को कला कहते हैं। हमारी आत्मा भीतर से बाहर आकर मूर्त रूप धारण करने को उत्सुक रहती है और अपने व्यक्तीकरण में वह तथाकथित अनात्म को भी आत्मरूप देना चाहती है। कला अनात्मा पर आत्मा की छाप है। कभी यह छाप ईंट-चूने पर डाली जाती है, तो कभी पत्थर पर, कभी वह तूलिका के रंगों से कागज पर। कला अनेक हैं। जिन-जिन वस्तुओं में आत्मा का ओज, उत्साह और उल्लास दर्शित होता है वे सब कलाकृति का रूप धारण कर लेती हैं। हमारे यहाँ ६४ कलायें मानी गई हैं। इनका उल्लेख कामसूत्र में हुआ है। दण्डी ने इनको 'कामार्थसंश्रया' कहा है—नृत्यगीतप्रभृतय: कामार्थसंश्रया:' भारतीय संस्कृति में जीवन के व्यापक आदर्शों में काम (जो कुछ सुन्दर, रमणीय, दर्शनीय है वह काम का विषय बन जाता है) भी आ जाता है। मनुष्य का मन ही शिल्पी है, क्योंकि वही सर्वप्रथम कलाकृति को अपने ज्ञान में प्रतिभासित करता है। यही ज्ञानवृत्ति कला की जन्मदात्री है। ज्ञान घट ही अभिव्यक्ति प्राप्त करके अर्थघट और नामघट बनता है।

कला हमारे भावों और विचारों की द्योतिका होने के कारण संस्कृति की परिचायिका होती है। कला में एक प्रेषणीयता रहती है, वह स्वयं ही मनुष्य का एकाकीपन दूर कर देती है और मनुष्यों का पारस्परिक सम्पर्क भी बढ़ाती है।

कला का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन से है। हमारे धर्मप्राण भारतीयों का जीवन विशेषकर कलामय रहा है। वैदिक यज्ञों की वेदी की निर्माण-कला शुल्वसूत्रों में वर्णित है। संगीत का मूलस्रोत सामवेद है। वैदिक काल की वेदियाँ आदि सुरक्षित नहीं हैं। कला सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ **मानसार और विष्णु धर्मोत्तरपुराण हैं।**

उद्भव—भारतीय कला का आरम्भ धर्म में होता है। यूनान में भी कला का उदय धर्म में ही हुआ है। भारतीय धर्म मनुष्य के सारे जीवन को घेरे हुए रहा है। उसमें लौकिक अभ्युदय और निश्रेयस दोनों ही शामिल हैं। धार्मिकता भारतीय कला की पहली विशेषता है। धर्म में एक आत्म-समर्पण की भावना रहती है। इसी कारण हमारे यहाँ के कलाकारों में नाम की लालसा कम रही। लोकैषणा से वे

ऊँचे उठना चाहते थे। तीसरी बात यह है कि भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही बाह्य की अपेक्षा हमारे कलाकारों का ध्यान अन्तर की ओर रहा है। अरस्तू ने कला को अनुकृति माना है। इसी से प्रभावित हो वहाँ के कलाकारों ने शारीरिक अवयवों के अनुपात और संगठन को अधिक महत्व दिया है। भारत में भावों को अधिक महत्व दिया है। भारतीय कलाकार कलाकृति द्वारा भावाभिव्यक्ति करना अपना ध्येय समझते हैं। वे भावरूप आत्मा को स्थूल आकार देना चाहते थे। इसमें शरीर का भी सौंदर्य आ जाता था। भारतीय कला की धार्मिकता के ही कारण उसमें प्रतीकात्मकता अधिक आई। मन्दिरों के शिखरों पर अम्लक (आंवला) और घट अधिक बने अम्लक ज्ञान का प्रतीक है। घट पूर्णता का प्रतीक वा अमृत घट का द्योतक है। शिखर भी पर्वत शिखर और भावों की उच्चता के द्योतक होते थे।

मूर्तिकला का उद्भव—रायकृष्णदास ने मूर्ति बनाने में आरम्भ काल से ही मनुष्य के दो उद्देश्य माने हैं। 'एक तो किसी स्मृति को व अतीत को जीवित बनाए रखना, दूसरे अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना।'[1] 'भारत की सबसे प्राचीन मूर्तियाँ सिंध कांठे के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष में मिली हैं।'[2]

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की कला—भारतीय कला के सबसे प्राचीन चिन्ह सिन्ध के लरकाने जिले के मोहनजोदड़ो (मुर्दों का देश) तथा मोन्टगोमरी जिले में रावी नदी से ६ मील दूर हड़प्पा की खुदाई में मिले हैं। इस खुदाई का श्रेय सर्वश्री राखालदास बनर्जी, सर जॉन मार्शल तथा दयाराम साहनी को है। इन चिन्हों को विद्वान लोग पूर्व वैदिक सभ्यता के चिन्ह बताते हैं। किन्तु यह धारणा तभी ठीक हो सकती है जब हम वेदों को ई० पूर्व से २७०० वर्ष बाद का ही मानें। यदि वेद ईसा से ३००० या ४००० वर्ष भी पूर्व के हों तो इनको पूर्व वैदिक कहना भी गलत सिद्ध होगा। इस प्रकार ये जो द्रविडियन कहे जाते हैं इसके आधार में कुछ पूर्वाग्रह काम कर रहे हैं। एक तो यह कि शिव-पूजा आर्यों ने द्रविड़ों से सीखी और यह कि द्रविड़ लोग मूर्ति-पूजक थे और आर्य पूजक नहीं थे। शिव की उपासना किसी न किसी रूप में आर्यों में वर्तमान थी। यह भी विवादास्पद है कि आर्य लोग मूर्तिपूजक नहीं थे। जो लोग मोहनजोदड़ो को पूर्व आर्य सभ्यता या द्रविड़ सभ्यता का बतलाते हैं उनके पास ये उक्तियाँ और हैं। एक तो यह कि यहाँ वृषभ की मूर्तियाँ मिलती हैं और आर्य लोग गौ के उपासक थे। दूसरी बात यह है कि आर्य लोग घोड़े रखते थे। ये दोनों ही उक्तियाँ ऐसी हैं जिनकी दृढ़ता में लोग संदेह करने लगे हैं। वृषभ का उल्लेख वेदों में है। दूसरी बात यह है कि पीछे की

---

१. भारतीय मूर्तिकला, द्वि० सं०, पृ० ४।
२. वही, पृ० ६।

खुदाइयों में घोड़े के भी अंकन मिले हैं। जो आधार-शिलायें दृढ़ न हों उन पर कोई महल नहीं बनाया जा सकता। वहाँ की मिट्टी की मुहरों आदि के अभिलेख अभी पढ़े नहीं गये हैं। हमको इस सम्बन्ध में अपने हृदय-कपाट खुले रहने चाहिए। ऐसे मामलों में भावुकता और पूर्वाग्रहों को छोड़कर वैज्ञानिक दृष्टि से काम लेना श्रेयस्कर होगा। भारतीय दृष्टिकोण यह है कि द्रविड़ आदि सब बिगड़े हुए आर्य हैं। हमारे यहाँ यह भी माना गया है कि दानव लोग भवन-निर्माण-कला में निपुण थे। युधिष्ठिर का राजभवन मयदानव का ही बनवाया हुआ था। कुछ लोग यह भी कहते हैं आर्य सभ्यता वनों की है, नगरों की नहीं। ब्रह्मचारी और संन्यासी वन में रहते थे। गृहस्थ नगरों में ही रहते थे।

सिन्धुघाटी की जैन मुहरें

जैनकला भारत की प्राचीनतम कला है, जिसके प्रमाण ५००० वर्ष पूर्व की सिन्धु सभ्यता में मिले हैं। मुहरों पर जो मूर्तियाँ अंकित हैं उनसे विदित है कि जो देवता विराजमान हैं उनका आसन योगशास्त्र में बताये हुए आसन के अनुकूल हैं और उनमें ऋषभदेव की त्याग की मुद्रा है। तीर्थङ्कर वृषभदेव को बहुत महत्व दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ जैनधर्म का बोलबाला था।

अस्तु, जो कुछ भी हो मोहनजोदड़ो की सभ्यता एक विकसित सभ्यता थी। वहाँ के नगर आजकल के नगरों की बहुत अंशों में बराबरी करते हैं। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों से प्रतीत होता है कि यह नगर काफी बड़ा था। रहने के मकान छोटे भी होते थे और बड़े भी। ये ईंटों के बने होते थे। इनकी जमीन खरंजा अथवा गच (वज्रलेप) की बनी हुई होती थी। नालियाँ और स्नानागार भी थे। रहने के मकानों के अतिरिक्त कुछ बड़े भवन भी थे। इनमें बड़े खम्भों के हॉल थे। एक भवन मिला है जो उत्तर से दक्षिण १६८ फुट है और पश्चिम से पूर्व १३६ फुट है। इसमें दोनों और बहुत से चतुष्कोण कमरे और दालान हैं। वैयक्तिक स्नानागारों के अतिरिक्त कुछ बड़े स्नानागार भी थे। नालियों की इतनी सुन्दर व्यवस्था उस समय के किसी अन्य देश में नहीं मिलती, नगर में सफाई का पूर्ण प्रबन्ध था। कूड़ा-करकट जमा करने के लिए अलग निर्दिष्ट स्थान बने हुए थे। उस समय के गेहूँ भी मिले हैं। सोने के कुछ जेवर भी प्राप्त हुए हैं। उनकी सफाई देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। लोहे से वे लोग शायद परिचित नहीं थे। यहाँ शिवपूजा के द्योतक शिवलिंग और नादिये मिलते हैं।

सैन्धव-सभ्यता की वास्तु-कला का विशद वर्णन करने के बाद **डा० परमेश्वरी लाल गुप्त** ने अपना यह अभिमत प्रकट किया है "सैन्धव-सभ्यता की वास्तु-कला प्रत्येक अंग में पूर्ण एवं विकसित थी। वैसी विकसित वास्तु-व्यवस्था का परिचय हमें इस युग के बाद बहुत दिनों तक नहीं मिलता। चौथी पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक तो किसी भी प्रकार के नागरिक अथवा अन्य प्रकार के वस्तु का पता ही नहीं लगता। उसके पश्चात् भी नागरिक वस्तु का पता उतने विस्तृत रूप में नहीं लगता

जितना कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों को देखकर सैन्धव-सभ्यता का होता है।"[1]

मूर्ति कला—सिन्धु-सभ्यता की मिट्टी, पत्थर और धातु से बनी हुई मूर्तियाँ मिली हैं। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक अत्यन्त सजीव जैसी मूर्ति मिली है। उसका शरीर वस्त्रहीन है किन्तु बहुत से आभूषण उत्कीर्ण है। सिर के केशों का प्रसाधन भी मनोहर है। इस युग की अन्य मूर्तियाँ भी उत्कृष्ट कला की परिचायक हैं।

हड़प्पा के कलाकार प्रस्तर शिल्पकला में निपुण थे तथा प्रतिमा निर्माण से विज्ञ थे। हड़प्पा से प्रस्तर मूर्तियों के धड़ मिले हैं।

मोहनजोदड़ो से भी वृद्ध पुरुष (साधु) की चुने-प्रस्तर की मूर्ति उपलब्ध हुई है जो सिन्धुघाटी की कला की गम्भीरता का पुष्ट करती है।

सिन्धु घाटी की मूर्तिकला की प्रशंसा करते हुए **सर जॉन मार्शल** ने लिखा है "सिन्धु घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर अपनी एक विशिष्ट छाप है। इस काल में हम अन्य देशों में कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहाँ की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या अन्य पशुओं की मूर्तियों से साम्य रखती हों, या उन उत्कीर्ण मुहरों से, विशेष रूप से जिन पर छोटी सींगों के कूबड़वाले बैलों की नक्काशी है और जो निर्माण कौशल तथा सुडौलपन की दृष्टि से अद्वितीय हैं; न यही सम्भव है कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी प्रतिमाओं की तुलना रचना की सुघराई की दृष्टि से किन्हीं अन्य मूर्तियों से कर सकें। सिवाय इसके कि जब यूनानी सभ्यता की प्रौढ़काल की मूर्तियाँ देखें।"[2]

मिट्टी के बर्तन—सिन्धु घाटी से प्राप्त मिट्टी के बर्तन अद्वितीय है। उनकी बनावट में विशेषता नहीं है वरन् उनके पकाने की विधि ही अनोखी है। ये काले एवं लाल पात्र नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके ऊपरी भाग में कई प्रकार के चित्र भी हैं। लाल सतह पर काले रंग से शतरंज के वर्ग, कंघा, सूर्य का चिन्ह या ज्यामिति के आकार आदि चित्रित किये गये हैं। ये सभी आकृतियाँ हाथों से तैयार हुई हैं, अतः उनमें भद्दापन, स्थूलता तथा मोटापन स्वाभाविक है।

नृत्य एवं संगीतकला—सिन्धु सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त वाद्य यन्त्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिन्धु निवासी संगीतकला में भी बढ़े-चढ़े थे। नर्तकी की मूर्ति, मुहरों पर अंकित नृत्य की मुद्राओं से उनका नृत्य कला में प्रवीण होना सिद्ध ही है।

चित्रकला—सिन्धु घाटी के ध्वंसों में चित्रकला का स्वतन्त्र रूप तो नहीं मिलता किन्तु मुहरों, मिट्टी के बर्तनों, ताबीजों, आभूषणों आदि से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु निवासी इस कला से अवश्य ही परिचित रहे होंगे।

---

१. भारतीय वास्तु-कला, प्र० सं०, पृ० १८।
2. Mohenjodaro and Indus Civilization.

बौद्ध स्तूप—बुद्ध ने अपने जीवनकाल में धर्म प्रचारार्थ जिन-जिन स्थानों का भ्रमण किया, उनके सम्पर्क से उन स्थानों को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। इनमें से कतिपय स्थानों पर उनकी भस्मी (रक्षावशेष) स्थापनकर उस पर स्तूपों का निर्माण किया गया। "बौद्ध ग्रन्थों में इन्हें चैत्य नाम से पुकारा गया है। साधारणतया ये स्तूप कहलाते हैं जोकि उसका वास्तु पर्यायवाची है। प्रायः लोगों की ऐसी धारणा है कि चिताभूमि पर बनाये जाने के कारण इस वस्तु को 'चैत्य' कहते हैं। पर ऐसे प्रयोग मिलते हैं 'चैत्य प्रासादमुत्तम्' जिससे ज्ञात होता है कि 'चैत्य' किसी भी वास्तु को कह सकते हैं जो चिनाई (सं० √चि=चुनाई) करके बनाये जाते हों। किन्तु बौद्ध साहित्य में रूढ़ि अर्थ में यह स्तूप (उभरी हुई वस्तु) और स्तूप भवन और संस्कृत साहित्य में पूजास्थल के अर्थ में (वाल्मीकि ५।१५।१६) व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार इस शब्द का प्रयोग कई अर्थ में हुआ है।"[1]

श्री गुप्त का अनुमान है कि स्तूप वैदिक परम्परा में हैं। "वैदिक-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आर्यों में अस्थि-संग्रह करके एक बर्तन में रखकर भूमि में समाधि देने की प्रथा थी।"[2] ऋग्वेदानुसार यह समाधि या छत्री संन्यासी या राजा के लिए बनाई जाती थी और उसका रूप प्रारम्भिक स्तूपों जैसा था।

स्तूप उल्टे कटोरे जैसा अर्ध गोलाकार ठोस होता था जिसके आधार के चारों ओर प्रदक्षिणा के लिए घेरा रहता था। स्तूप के शिखर पर अस्थि-पात्र रखने हेतु स्थान रहता था तथा उसके ऊपर राजछत्र स्थापित किया जाता था। कभी-कभी अस्थिपात्र स्तूप के गर्भ में भी रहता था। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का कथन है कि "ऐसी अवस्था में ऊपर स्तूप की वेदिका की भाँति एक दूसरी वेदिका बनी रहती थी। स्तूप के बाह्य भाग पर पलस्तर किया रहता था और उस पर समाधिस्थ व्यक्ति का यशोगान अंकित होता था। ये स्तूप ईंटों अथवा पत्थर के ठोस ढाँचे हुआ करते थे। बुद्ध के अस्थि युक्त स्तूपों में केवल कपिलवस्तु वाले भागवाला स्तूप अपने मूल आकार से पिपरवा (जि० बस्ती नैपाल की सीमा पर) में मिला है।"[3]

मौर्य युग से पूर्व का पिपरवा स्तूप

पिपरवा—यह स्थान वर्तमान बस्ती जिले के बासी परगने में है। यहाँ मौर्य काल से पूर्व का (लगभग ई० पू० ५वीं शती) एक स्तूप है जिसका व्यास ११६ फुट, ऊँचाई २१ फुट है। इस स्तूप में १६ इंच लम्बी और १० इंच चौड़ी ईंटों का प्रयोग किया गया है। स्तूप में एक गोलाकार पात्र उपलब्ध हुआ है जिस पर ब्राह्मी लिपि में एक लेख है जिससे पता चलता है कि भगवान बुद्ध के भस्मावशेषों पर यह स्मारक शाक्यवंशी सुकिति भाइयों, उनकी बहनों, बच्चों और स्त्रियों ने प्रतिष्ठापित किया।

---

१. भारतीय वास्तु कला, डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त, पृ० ३९, ४०।
२. वही, पृ० ४१।
३. वही, पृष्ठ ४२।

मौर्य युग—भारत में राष्ट्रीयता का उदय
(३२२ ई० पू०–१८८ ई० पू०)

भारत के इतिहास में मौर्य-युग राष्ट्रीय-भावना के पुनर्जागरण का युग है। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत ने दासता का जुआ अपने सिर से उतार फेंका और उसके क्षत्रपों का बध कर दिया। इस स्वातंत्र्य संग्राम का नेता चन्द्रगुप्त था।[1] चन्द्रगुप्त के बाद सम्राट अशोक ने मौर्य-साम्राज्य का विस्तार किया।

आर्थिक स्थिति—कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्य सम्राटों ने देश को राजनीतिक एकता प्रदान करके शान्ति और व्यवस्था स्थापित की तथा जनता की आर्थिक समृद्धि के लिये विशेष प्रयत्न किये। यही कारण है कि मौर्य-युग में देश की विशेष आर्थिक उन्नति हुई, जनता समृद्ध हुई। इस युग में भारत एक समृद्ध एवं सम्पन्न देश था।

सामाजिक जीवन—मौर्य युग में वैदिक परम्परा की चातुर्वर्णाश्रम व्यवस्था चलती रही। समाज में स्त्रियों का यथोचित मान-सम्मान था। पत्नियों के साथ दुर्व्यवहार दण्डनीय अपराध था। दास प्रथा की कठोरता समाप्त हो रही थी। मेगस्थनीज के अनुसार—"उच्चकोटि की सरलता भारतीय चरित्र की विशेषता थी, किसी भी भारतीय पर कभी झूठ बोलने का आरोप नहीं लगाया गया।"

धार्मिक विचार—मौर्य युग में बौद्ध धर्म का सर्वाधिक विकास हुआ किन्तु वैदिक धर्म भी प्रभावशील बना हुआ था। इसके अतिरिक्त आजीविक तथा निर्ग्रन्थ मतों की भी प्रगति हुई। जैन साहित्य से पता चलता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय मौर्य-युग में अनेक गण एवं शाखाओं में बँट गया। बौद्ध धर्म के प्रसार में अशोक के महान् प्रयत्न भारतीय कला की प्रगति में सहायक बने। स्तम्भ, स्तूप, बिहार आदि का निर्माण हुआ।

भाषा तथा साहित्य—मौर्य युग की प्रधान भाषाएँ दो हैं—संस्कृत और प्राकृत। इसके अतिरिक्त पालि का भी विकास हुआ। इस युग में ब्राह्मी और खरोष्ठी नामक दो लिपियाँ प्रचलित थीं। साहित्य के क्षेत्र में चाणक्य का अर्थशास्त्र, कात्यायन का अष्टाध्यायी पर वार्तिक एवं वात्स्यायन का कामसूत्र, भास के नाटक आदि मौर्य युग की उपलब्धि हैं। धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में सभी धार्मिक विचार-धाराओं के अनुसार साहित्य की रचना हुई। वैदिक-धर्म, जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के साहित्य का प्रचुर विकास हुआ। वैदिक-धर्म के ब्रह्मसूत्र, धर्मसूत्र और वेदाङ्ग ग्रन्थों का, बौद्ध धर्म के त्रिपिटिकों तथा आचार्य भद्रबाहु के भाष्य का प्रणयन इसी युग में हुआ।

---

1. सुप्रसिद्ध इतिहासकार जस्टिन।

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥ —भर्तृहरि

२ मौर्य-काल की कला
(ई० पू० ३२२–१८८)

अशोक और बौद्ध स्मारक—भारतीय कला का इतिहास वस्तुतः मौर्ययुग से ही प्रारम्भ होता है। मोहनजोदड़ो के पश्चात् भारतीय कला के जो अवशिष्ट चिह्न मिलते हैं वे मौर्य युग के हैं। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के स्वीकार करने के पश्चात् धर्म के प्रचार और शासन को दृढ़ और सुव्यवस्थित बनाने के लिए बहुत-से स्मारक बनवाये थे। वे स्मारक चार प्रकार के थे—स्तूप, स्तम्भ, गुफाएँ और निवास स्थान सम्बन्धी भवन और राजप्रासाद।

स्तूप—महात्मा बुद्ध की भस्मादि पर या उनसे सम्बन्धित स्थानों पर बनाये हुए उलटे कटोरे के आकार के ठोस गुम्मद हुआ करते थे। मौर्य स्तूपों की यह विशेषता थी कि इनमें रोक के लिए वे चारों ओर एक बाढ़ लगा देते थे जिसको संस्कृत में वेदिका या वेष्ठनी कहते हैं। स्तूपों के ऊपर सम्मान और महत्ता का सूचक छत्र भी लगा देते थे। दरवाजे की चारों दिशाओं में चार द्वार या तोरण रहते थे।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अवशिष्ट अस्थियों के आठ भाग किये गये जिनको मगध के शासक अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य आदि भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों ने बाँट लिया और सबने अपने-अपने अस्थि भाग पर समाधि का निर्माण कराया। बौद्ध ग्रन्थों में इन्हें चैत्य नाम से पुकारा गया है। साधारणतया ये स्तूप कहलाते हैं। अशोक ने इन स्तूपों में संरक्षित शव-भस्म, अस्थि, केश अथवा दन्त को निकालकर उन्हें ८४००० स्तूपों में रखवाया था, कथाओं में ऐसी प्रसिद्धि है।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने लिखा है कि "यद्यपि भगवान् बुद्ध के शव-स्मारक के रूप में ही स्तूप अधिक प्रसिद्ध हैं, तथापि उनका विकास वैदिककाल से अनुमान किया जाता है। वैदिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आर्यों में अस्थि संग्रह करके एक बर्तन में रख भूमि में समाधि देने की प्रथा थी। उस समाधि का रूप ऋग्वेद में आरम्भकालीन स्तूप से मिलता-जुलता इङ्गित है। उसका प्रास्तरिक लयण-रूप मल्लापुरम् में मिला है। स्तूप की रूपरेखा एकतुदा (गुम्बद) अथवा उल्टे कटोरे सरीखा है जो रूप में अर्धगोलाकार होता है। उसके आधार के चारों ओर घेरा होता है जो वेदिका (रेलिंग) कहा जाता है। वेदिका वैदिक कृत्यों में यज्ञ-भूमि को

कहते हैं। वेदिका के ऊपर सूचि होते हैं। यह भी वैदिक कृत्य-सूचक है। सूचिका का अर्थ 'कुश का डण्ठल' होता है। स्तूप के आधार पर एक ऊँचा कोठा होता है जो यात्रियों की परिक्रमा का मार्ग है। इसे 'मेधि' कहते हैं। 'मेधि' शब्द भी यज्ञ से विकसित है। वैदिक कृत्यों में पितृमेध का उल्लेख है। प्रदक्षिणा भी आर्यों की वेदिका की प्रदक्षिणा का अनुकरण है। जिस प्रकार आर्य लोग वेदिका की प्रदक्षिणा करते समय अपना दाहिना हाथ वेदिका की ओर रखते थे, ठीक उसी तरह बौद्ध-यात्री विधान-चक्र की परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्तूप वैदिक परि-पाटी का अनुकरण मात्र है।

स्तूप के शिखर पर अस्थि रखने के लिए स्थान होता है। उसके ऊपर राज-छत्र लगा रहता था। भगवान् बुद्ध का अन्तिम संस्कार आर्य जातियों ने संघ के प्रधान के नाते शासक रूप में किया था। इसी प्रकार का सम्मान उनके उत्तराधि-कारियों तथा बौद्ध महाविहारों के उन भिक्षुओं का भी किया गया जिनके सम्मुख शासक अपना मस्तक नवाते थे और सिंहासन देते थे। अस्तु, स्तूपों के ऊपर का राज-छत्र धार्मिक चिन्ह न होकर उन आध्यात्मिक शिक्षकों के सामाजिक पद का द्योतक था, जिनकी अस्थि स्तूप में सुरक्षित रही।

कभी-कभी अस्थि (फूल) रक्षा की दृष्टि से बहुत गहरे, स्तूप के गर्भ में रखी जाती थी। ऐसी अवस्था में ऊपर स्तूप की वेदिका की भाँति एक दूसरी वेदिका बनी रहती थी। स्तूप के बाह्य भाग पर पलस्तर किया रहता था और उस पर समा-धिस्थ व्यक्ति का यशोगान अङ्कित होता था। ये स्तूप ईंटों अथवा पत्थर के ठोस ढाँचे हुआ करते थे।

बुद्ध के अस्थि-युक्त स्तूपों में केवल कपिलवस्तु वाले भाग वाला स्तूप अपने मूल आकार में पिपरहवा (जि० बस्ती-नेपाल की सीमा पर) में मिला है। उसमें ईंटों का प्रयोग किया गया था। इसके अतिरिक्त अशोककालीन स्तूप ही मिलते हैं।

अशोक के स्तूप

सांची के स्तूप—अशोकाकालीन ८४००० स्तूपों में से अधिकांश ध्वस्त हो चुके हैं। उस युग के बहुत थोड़े स्तूप मिलते हैं। अशोककालीन स्तूप पश्चिमोत्तर भारत में अफगानिस्तान तक फैले हुए थे। अफगानिस्तान में उनके खण्डहर मिले हैं। इस काल के अवशिष्ट स्तूपों का प्रतिनिधि सांची के स्तूप समूह है इस समूह में दो छोटे और एक बड़ा स्तूप है। बड़े स्तूप को अशोक अथवा उसके किसी प्रति-निधि ने तीसरी शताब्दी ई० पू० ईंटों का बनवाया था। उसके तले का व्यास १२० फुट और ऊँचाई ५४ फुट है। इस ऊँचाई के अतिरिक्त शिखर पर छोटी सी हर्मिका है। उसके ऊपर छत्र का दण्ड है जो भारतीय राजस्व का द्योतक है और उस धर्म का प्रतीक है जिसे धर्मराज अशोक ने प्रचारित किया था। तूदे (अण्ड) के चारों ओर दो दक्षिण मार्ग बने हैं। एक तो ऊँचाई पर है, जिस पर जाने के लिए दक्षिण

ओर से दो सीढ़ियाँ हैं। दूसरा भूमि की सतह के बराबर है। दोनों ही वेदिका (रेलिंग) से घिरे हैं।
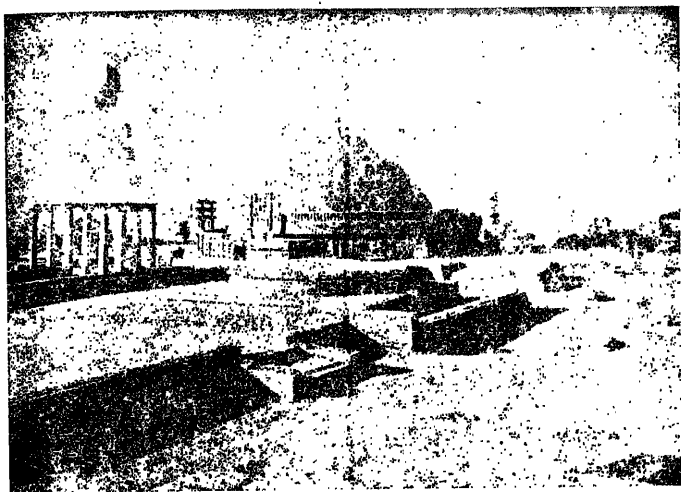
सांची का स्तूप और तोरण

स्तूप-निर्माण के एक शताब्दी पश्चात्, लोगों ने उसे पत्थर मढ़ दिया और उसकी वेदिका आदि भी पत्थर की ही बनायी गयी। वेदिका के स्तम्भ आदि पर निर्माणकर्ताओं के अनेक नाम अंकित हैं, जिनसे अनुमान होता है कि आरम्भ में सारी वेदिका काष्ठ की थी और पत्थर के रूप में उसका परिवर्तन श्रद्धालु जनों ने यशलाभ के लिए धीरे-धीरे कराया और यही कारण है कि पत्थरों की खुदायी में काष्ठ का प्रति अंकन स्पष्ट जान पड़ता है।

दोनों प्रदक्षिणाओं की वेदिकाएँ चारों दिशाओं में खुली हैं और प्रत्येक प्रवेश द्वार पर विशालकाय तोरण है। सम्भवत: ये तोरण भी पहले काष्ठ के थे और पत्थर के तोरण पहली शताब्दी ई० पू० अर्थात् मूल स्तूप-निर्माण के तीन शताब्दी पश्चात् बनाये गये। वेदिका की भाँति ही इसे भी भिन्न-भिन्न भक्तों ने निर्माण कराया। दक्षिण के तोरण का एक भाग आन्ध्रवंश के राजा श्री शातकर्णि ने और दूसरा विदिशा (वर्तमान बेसनगर) के हस्ति-दन्तकारों ने बनवाया है।

उक्त तोरण में चौपहल खम्भे हैं जो १४-१४ फुट ऊँचे हैं। उन पर तेहरी बड़ेरियाँ हैं जो बीच में तनिक कमानीदार हैं। बड़ेरियों के ऊपर सिंह, हाथी, धर्म

चक्र, यक्ष और त्रिरत्न (बुद्ध, सङ्घ, धर्म) आदि बने हैं। समूचे तोरण की ऊँचाई ३४ फुट है। इसी से इसकी भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। तोरणों पर चारों ओर बुद्ध का जीवन और पूर्व-जीवन बड़ी सजीवता से उत्कीर्ण हैं। बड़ेरियों में इधर-उधर हाथी, मोर, सिंह, बैल, ऊँट, हिरण आदि बड़ी सफाई और सजीवता से बने हैं। स्तम्भ के निचले अंश में अगल-बगल आदमकद द्वारपाल यक्ष बने हुए हैं। जहाँ स्तम्भ पूरा होता है, वहाँ ऊपर की बड़ेरियों का बोझ झेलने के लिए चौमुखे हाथी या बौने आदि बने हैं। इनके बाहरी और सहारा देने के लिए वृक्ष पर रहने वाली यक्षणियाँ (वृक्षिकाएँ) बनी हैं। ये तोरण उस युग की संस्कृति एवं जीवन के विश्व-कोष हैं।

वृक्षिका सांची

दो छोटे स्तूपों में एक तो बड़े स्तूप के निकट ही उत्तर-पूर्व की ओर है; उसमें एक छोटा तोरणयुक्त द्वार है जो बड़े स्तूप के तोरणों की भाँति ही अलंकृत है। दूसरा स्तूप बड़े स्तूप के अनुरूप ही पहाड़ी के निम्न भाग में है किन्तु वह तोरण-विहीन है। उसके नीचे के भाग पर अत्यधिक मूर्तियाँ अलंकृत हैं।

सारनाथ का स्तूप—वर्तमान वाराणसी से लगभग छः मील पर प्राचीन ऋषिपत्तन या 'मृगदाव' है, इसे आजकल सारनाथ कहते हैं। यह बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र है क्योंकि यहीं महात्मा बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया। यह सुप्रसिद्ध कलाकेन्द्र भी है। यहाँ मौर्यकाल से लेकर ईसवी बारहवीं शती तक के कलावशेष बड़ी संख्या में प्राप्त हैं। यहाँ बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियाँ, जातक कथाओं से चित्रित शिलापट्ट तथा अशोक का सिंहस्तम्भ आदि प्राप्त हुए हैं। शुंग काल के कुछ वेदिका स्तम्भ मिले हैं जो मांगलिक चिन्हों एवं अलंकरणों से युक्त हैं। कुषाण एवं गुप्तकाल की कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो बौद्ध एवं हिन्दू दोनों प्रकार की हैं। यहाँ अशोककालीन एवं गुप्तकालीन कुछ स्तूप एवं विहार भी मिले हैं।

---

१. भारतीय वास्तुकला, प्र० सं०, पृ० ४३-४४।

"सारनाथ में अशोक के धर्मराजिका स्तूप के केवल कुछ भाग अवशिष्ट हैं। यह ६० फुट व्यास का, ईंटों का बना हुआ गोलाकार स्तूप था। इसके दक्षिण में एक ही पत्थर को काटकर बनाई गई वेदिका मिली है जिस पर मौर्यकालीन ओप (पालिश) तथा ब्राह्मी लेख है। धर्मराजिका स्तूप का पुनः निर्माण लगभग बारहवीं शती तक होता रहा।"[1]

स्तम्भ—अशोक काल के सबसे बढ़िया स्मारक उनके बनवाये स्तम्भ हैं। यह सब चुनार के लाल पत्थर के बने होते हैं। इनके दो अंग होते हैं। एक प्रधान लाट और उसका शीर्ष (Capital)। यह स्तम्भ एकाश्मीय अर्थात् एक पत्थर के होते थे और उन पर ऐसी सुन्दर ओप या पॉलिश होती थी कि आज तक भी उनको देखकर हमें दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। इन शीर्षों पर हमें भारतीय मूर्ति-कला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इन पर शेर, हाथी, घोड़े या बैल की मूर्ति बनी होती थी। ये स्तम्भ ३२ से ४० फुट ऊँचे होते थे और उसी के अनुपात में इनकी गोलाई होती थी। चारों दिशाओं में मुँह किये उकड़ूँ बैठे शेर वाला वर्तमान राज्य-चिन्ह भी इन्हीं स्तम्भ शीर्षों में से एक है। यह स्तम्भ भगवान् बुद्ध के धर्म-चक्र प्रवर्तन के स्थान सारनाथ में सन् १६०५ में पाया था। चारों शेरों के नीचे चार पहिए हैं जो धर्मचक्र प्रवर्तन के प्रतीक हैं।

शीर्ष के उपविभाग—अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भ के दो भाग लाट और शीर्ष हैं। शीर्ष के तीन उपविभाग ये हैं—अधोमुख कमल, चौकी तथा शीर्षस्थ पशु आकृति।

डा० वासुदेव उपाध्याय के शब्दों में "अधोमुख कमल का वास्तविक स्वरूप पूर्ण घट-सा है जो वैदिक युग से ही भारत में प्रचलित था। यही विचार मौर्य युग के पश्चात् भी समाज में व्याप्त रहा। उसकी पंखुड़ियाँ सरलता से गिनी जा सकती हैं। कमल मनुष्य के पूर्ण ज्ञान का प्रतीक है और विश्व की विशुद्ध तथा सुन्दर वस्तुओं का द्योतक माना जा सकता है। चौकी पर चार चक्र चार दिशाओं में व्याप्त बौद्ध-मत के प्रतीक मात्र हैं। चक्रवर्ती राजा बुद्ध का चक्र चतुर्दिक मार्ग से पृथ्वी की सीमा तक पहुँच जाता है। अशोक महान् सम्राट एवं चक्रवर्ती महाराजा था। उस घटना को व्यक्त करने में कलाकारों ने चार सिंह वाले शीर्ष तथा चौकी पर स्थित चार जानवरों के माध्यम से सफलता प्राप्त की है। सबसे ऊपर बड़े चक्र की धर्मचक्र, भावचक्र या सुदर्शन चक्र से समता कर सकते हैं। वह भगवान् विष्णु का आयुध अथवा काल का चक्रस्वरूप भारतीय कला में विद्यमान है।

अधोमुख कमल के ऊपर चौकी को दो रीति से—चौकोर या गोलाकार तैयार किया गया था। वैशाली के पास कोल्हुआ के स्तम्भ की चौकी समकोण चतुर्भुज के आकार की है। चम्पारन के रमपुरवा, लौरियानन्दन तथा सारनाथ स्तम्भ

---

१. श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी के '**काल का इतिहास**' लेख से उद्धृत।

की चौकियाँ गोलाकार हैं। रमपुरवा चौकी पर बहुत सचाई के साथ पत्तियों का खाका खुदा है। इसका उद्देश्य अलंकरण मात्र था परन्तु लौरिया स्तम्भ की चौकी पर हंस की पक्ति उत्कीर्ण है। सम्भव है इसका लक्ष्य बुद्ध के शिष्य वर्ग को प्रकारान्तर से दिखलाना था। वास्तविक प्रयोजन की सचाई बतलाई नहीं जा सकती तथापि चौकियों पर खुदाई की सार्थकता अवश्य थी। इसमें तनिक सन्देह नहीं है कि सारनाथ स्तम्भ की चौकी अत्यन्त कलात्मक रूप से तैयार की गई थी, उस पर चार चक्र तथा चार जानवर (हस्ति, अश्व, वृषभ तथा सिंह) क्रम से (एक के बाद दूसरे) खुदे हुए हैं। अश्व की गतिशीलता, सांढ़ का पौरुष, मृग की चंचलता तथा हस्ति का मांसल शरीर स्वाभाविक तथा ओजपूर्ण है। चक्र से धर्म चक्र का बोध होता है। सिंह को शाक्यवंशी बुद्ध (शाक्यसिंह) के अभिप्राय में स्तम्भ पर स्थान दिया गया है। लौरियानन्दन के सिंह तथा रमपुरवा का वृषभ सजीव प्रतीत होते हैं। उनके अवलोकन से ज्ञात हो जाता है कि कलाकारों ने मांस पेशियों में शक्ति आरोपित कर पशुओं में चैतन्यता पैदा कर दी है।"

सारनाथ का चतुर्मुखसिंह स्तम्भ—डॉ० विन्सेंट स्मिथ ने सारनाथ के चतुर्मुखसिंह स्तम्भ के शीर्ष के सम्बन्ध में लिखा है—"संसार के किसी भी देश में प्राचीन भास्कर-कला के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण अथवा कला के ऐसे सुन्दर नमूने जिनमें सजीव कृतियों का और आदर्शवाद का सफलतापूर्वक समन्वय हुआ हो, और जिनमें प्रत्येक बात का पृथक्-पृथक् सुविस्तृत प्रदर्शन हुआ हो, पाना दुष्कर है।" सारनाथ का अशोकस्तम्भ का विशाल सिंहशीर्ष किसी समय एक ऊँचे और प्रभाव-शाली स्तम्भ का शीर्ष था जिस पर सम्राट अशोक ने विभिन्न धर्मों के आपसी मतभेद की निन्दा करने वाला अभिलेख खुदवाया था। डॉ० राधाकमल मुखर्जी के शब्दों में[१] "एक दूसरे से पीठ सटाये बैठे चार शानदार सिंह शाक्यसिंह बुद्ध की चतुर्दिशाओं और आध्यात्मिक शक्ति के प्रतीक हैं। पश्चिमी एशिया और वैदिक भारत में सिंह का प्रतीक राजसत्ता के साथ सम्बन्धित है। इस प्रकार प्राचीन ब्राह्मण और बौद्ध प्रतीकवाद एक दूसरे से मिल गये हैं और नये धर्म के लिए उनकी व्याख्या पुनः प्रस्तुत की गई है। पालि साहित्य में अक्सर बुद्ध की सिंह और उनके प्रवचन की सिंह गर्जना से तुलना की जाती है। सिंहों के नीचे एक चौकोर पट्टी है जिस पर चार पशु—हाथी, घोड़ा, बैल और सिंह खुदे हुए हैं। प्रारम्भिक बौद्ध कृतियों और कला में हाथी बुद्ध के स्वप्न और विचार का प्रतीक है, बैल उनके जन्म का प्रतीक है (तथागत का जन्म वृषभ राशि में हुआ था), घोड़ा (कण्ठक, जिस पर चढ़कर तथागत ने गृह-परित्याग किया था) बुद्ध के महान् त्याग का प्रतीक है और सिंह उनकी सार्वभौम सत्ता का। इस प्रकार चौकोर पट्टी का आकर्षक और प्राणवान चित्र तथागत के जीवन की प्रमुख घटनाओं को व्यक्त करता है। बोधिसत्व के जीवन और

१. भारत की संस्कृति और कला, १९५९, पृ० ९३।

भाग्य में उलट-फेर को व्यक्त करता है जो सार्वभौम हैं, अनश्वर हैं और आध्यात्मिक हैं। बैठे हुए सिंह, जो कभी एक पत्थर के चक्र को सहारा देते थे, सिंहनाद के प्रतीक हैं—सिंहनाद जो धम्म, चक्क, पवत्तन, सुत्त को संसार की चारों दिशाओं में फैला देगा। चौकोर पट्टी एक घण्टे के आकार के लटके हुए कमल के फूल पर, जिसकी पंखुरियाँ उलटी हैं, टिकी हैं, यह है चिरनवीन और सदैव विस्तृत होते जाने वाले ब्रह्माण्ड का प्रतीक और बुद्ध के दृढ़ हीरक आसन अथवा बोधिसत्व के करुणापूर्ण हृदय का बौद्ध प्रतीक। कुल मिलाकर यह धम्मचक्क के लिए बहुत सुन्दर आसन था। धम्मचक्क आक्रान्ताओं द्वारा अपने स्थान से हटाकर नष्ट कर दिया गया। रथ का पहिया अथवा चक्क जो सम्पूर्ण संसार को सागर की सीमा तक नाप सकता है, विश्व-साम्राज्य का प्राचीन वैदिक प्रतीक है। अंगुत्तरनिकाय, तिकनिपात में चक्करत्न और बुद्ध की समानता को दिखलाया गया है।" सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्मानुयायी चीनी यात्री ह्वेनसांग ने सारनाथ स्तम्भ का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यह प्रस्तर स्तम्भ लगभग सत्तर फुट ऊँचा है। पत्थर जेड की तरह चमकदार है। यह प्रकाश के समान चमकता और झिलमिलाता है और सभी व्यक्ति, जो पूर्ण श्रद्धा के साथ इसके सामने प्रार्थना करते हैं, समय-समय पर अपनी प्रार्थनाओं के अनुसार अच्छे या बुरे चिह्नों वाली आकृतियाँ देखते हैं। इसी स्थान पर बुद्धत्व प्राप्त हो जाने के बाद तथागत ने धम्म-चक्क प्रवर्त्तन आरम्भ किया था।"

डा० वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है "चारों सिंह की पीठ पर स्थित चक्र (धर्म चक्र) भगवान् बुद्ध का एक प्रतीक था जिसे धर्मकाय भी कह सकते हैं। सिंहासन पर प्राय: चक्रवर्ती सम्राट बैठा करता है और उसी विचार से प्रेरित होकर बुद्ध-प्रतिमा भी तैयार की गई थी। यदि दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सारनाथ स्तम्भ द्वारा भारतीय आध्यात्मविद्या तथा विश्वविद्या के विचार (Metaphysics and Cosmology) का समारम्भ पाते हैं। इसमें विश्व की अलौकिकता का प्रतिबिम्ब पाते हैं। चक्रवर्ती राजा ही सार्वभौम सत्ता रखता था। इसकी शक्ति व्यापिनी थी। भगवान् बुद्ध ने भी जिस धर्मचक्र का संचालन किया वह विश्वव्यापी हो गया और उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्नशील हुआ। स्तम्भ-शीर्षस्थ चक्र उसी विश्व या सूर्य के मार्ग का द्योतक है। उसी अलौकिक वस्तु (धम्म) की प्राप्ति के सभी इच्छुक थे।"

लौरियानन्दनगढ़ सिंहस्तम्भ—चम्पारन जिले के लौरियानन्दनगढ़ में अशोक का एक स्तम्भ है जिसके शीर्ष पर सिंह की मूर्ति है। स्तम्भ गोल और बिना जोड़ का एक ही पत्थर का बना है। इसकी ऊँचाई ५० फुट और वजन ५० टन के लगभग है। विन्सेंट स्मिथ के अनुसार यह स्तम्भ अशोक स्तम्भों में अत्यन्त उत्कृष्ट है। स्मिथ ने अशोककालीन शिल्प एवं इंजीनियरिंग की बड़ी सराहना की है। उनका कथन है कि इन स्तम्भों के निर्माण, स्थानान्तरण एवं स्थापना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के शिल्पी बहुत कुशल थे। एक ही भीमकाय पाषाण को

समग्र स्तम्भ के रूप में काटना-तराशना तथा उस पर चमकीली पालिश करना अद्भुत कला-चातुर्य का द्योतक है। इस स्तम्भ की चौकी और उसके सिरे के उभारदार उड़ते हँसों की छटा दर्शनीय है।

कपित्थ या संकिसा का हाथीस्तम्भ—यह स्थान वर्तमान फर्रुखाबाद जिले में परवना स्टेशन से लगभग ७ मील दक्षिण-पश्चिम काली नदी के किनारे है। इसका प्राचीन नाम संकाशय था। चीनी यात्री ह्वेनसांग से इसका कपित्थ नाम से उल्लेख किया है। यहाँ अशोक का एक स्तम्भ था जिसके शीर्ष पर हाथी की मूर्ति थी जिसे ह्वेनसांग ने भूल से सिंहमूर्ति समझा। इस शीर्ष पर सारनाथ शीर्ष जैसी ओपदार पालिश है। शीर्ष के समीप शुंगकालीन पुरुष-मूर्ति है। यहाँ मृण्मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं जो शुंगकाल से लेकर गुप्तकाल तक की हैं। मृण्मूर्तियों में स्त्री-पुरुषों के सिर, धड़, दम्पत्ति प्रतिमाएँ एवं लक्ष्मी अभिषेक प्रमुख हैं। मिट्टी की कुछ अभिलिखित प्रतिमायें भी मिली हैं।

गुफाएँ—अशोक तथा उसके वंशजों ने भिक्षुओं के निवास के लिए बहुत से गुहागृह निर्मित कराये थे। ऐसी कुछ गुफाएँ गया से सोलह मील उत्तर में बराबर नामक पहाड़ी पर बनाई गई।

सुदामा तथा कर्ण चौपार गुफा—अशोक ने **सुदामा** नामक गुफा अपने राज्यारोहण के बारहवें वर्ष आजीवक मतानुयायी भिक्षुओं के लिए कठोर तेलिया पत्थर से बनवाई थी। इसके दो भाग थे, एक बाह्य भाग आयताकार बत्तीस फुट नौ इंच लम्बा तथा उन्नीस फुट छः इंच चौड़ा और भीतरी वृत्ताकार भाग १९′ ११″ × १९′ वृत्ताकार भाग के ऊपर एक अर्धवृत्ताकार गुम्बद बना है। अशोक ने दूसरी **कर्ण चौपार** नाम की गुफा अपने राज्यारोहण के उन्नीसवें वर्ष में निर्मित कराई। यह चतुष्कोणिक बृहत्कक्ष से युक्त है जिसकी लम्बाई ३३ फुट व चौड़ाई १४ फुट है। इसकी दीवारों पर ४ फुट ८ इंच की मेहराबदार छत है। इस छत की ऊँचाई ६ फुट ७ इंच है। यह कक्ष कठोर तेलिया नामक पत्थर को खोदकर बनाया गया है जिस पर शीशे जैसी चमकदार (ओपपूर्ण) पालिश की हुई है।

बराबर पहाड़ी की गुफाएँ—अशोक के पौत्र दशरथ ने गया से सोलह मील दूर बराबर की पहाड़ियों पर श्रमणों के निवास के लिए कुछ गुफाएँ बनवाईं। पिछली गुफाओं में यह विशेषता आ गई कि इनमें मूर्तियों और चित्रों को अधिक प्राधान्य मिलने लगा।

लोमश ऋषि की गुफा—यह गुफा मौर्य-काल में सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रत्ति द्वारा निर्मित हुई। अशोकालीन स्तूप-भवन योजना के अन्तर्गत बहुत सी गुफाओं का निर्माण हुआ। अशोक ने अपने समय में ईंट और पत्थर के स्तूप बनवाये साथ ही उसने संघों के लिए स्थायी सभा-भवन भी बनवाना प्रारम्भ किया। बहुत समय तक तो संघों के लिए स्तूप-भवन लकड़ी और फूस के बनते थे, बाद में ये ईंट और पत्थर के बनने लगे। बिहार राज्य के गया जिले में लोमश ऋषि की गुफा मिली

है। इसके अतिरिक्त गया जिले में मौर्य-काल की चार अन्य गुफाएँ भी मिली हैं जो कड़े तेलिया पत्थरों को काटकर बनायी गई हैं और इनकी दीवारों पर काँच जैसी चिकनी पालिश (ओप) की गई है।

लोमश ऋषि की गुफा अधूरी ही निर्मित हुई थी किन्तु इसमें उपासना गृह बन चुका था। यह उपासना गृह अण्डाकार है। इसके प्रवेश द्वार के मेहराब पर 'गजपंक्ति' की पच्चीकारी अब भी मौजूद है। ऐसी पच्चीकारी प्राचीन काल में काठ पर की जाती थी।

एलोरा को विश्वकर्मा गुफा—एलोरा की विश्वकर्मा गुफा का चैत्य बौद्ध युग के अन्तिम समय की कलाकृति है। इसके कमरे की लम्बाई चौड़ाई ८५×४३ फीट है और छत के पत्थरों में बेलें तथा नक्काशियाँ लकड़ी की नक्काशियों की नकल पर उत्कीर्ण हैं। इसका अग्रभाग किसी सामान्य दुमञ्जिले घर की भाँति है। इसकी बारहदरी में पत्थर की नक्काशी उत्तम है।

राजप्रासाद—मैगस्थनीज, एरियन, स्ट्राबो, फाह्यान आदि प्राचीन यात्री-लेखकों ने मौर्यकालीन पाटलिपुत्र-नगर एवं राजप्रासाद का जो वर्णन प्रस्तुत किया, उससे पता चलता है कि पाटलिपुत्र नगर का निर्माण मूलतः चन्द्रगुप्त मौर्य ने कराया था। उसने एक विशाल राजप्रासाद भी बनवाया जिसे बाद में सम्राट बिन्दुसार और अशोक ने बहुत कुछ परिवर्तन करके अत्यन्त कलात्मक बनाया। पटना के समीप पुरातत्व सम्बन्धी उत्खनन में लकड़ी के विशाल भवनों के खण्डहर मिले हैं। इसमें खम्भों पर सधे एक बड़े कक्ष (हॉल) के खण्डहरों से पता चलता है कि कमरा लकड़ी के एक चौड़े चबूतरे पर खड़ा हुआ था और ऊपरी लकड़ी की छत पत्थर के ८० खम्भों पर सधी थी। एक खम्भा ठीक हालत में मिला है जो अशोक-निर्मित चुनार के भूरे पत्थर का चिकना तथा पॉलिशदार है। इससे अनुमान लगाया गया है कि इस विशाल कक्ष का निर्माण अशोक ने कराया होगा। पाँचवी शती में चीनी यात्री फाहियान ने पाटलिपुत्र में अशोक के भवन देखे थे। उनकी सुन्दरता एवं निर्माण-कौशल के ही कारण उसने कहा था कि वे मनुष्य के बनाये हुए नहीं हैं, संभवतः उनका निर्माण देवों ने किया होगा। अशोक ने अनेक बौद्ध-विहारों का भी निर्माण कराया।

मूर्तिकला—मौर्यकाल की मूर्तिकला का परिचय हमें कौटिलीय अर्थशास्त्र से मिलता है। उसमें बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ होने का वर्णन है किन्तु दुर्भाग्य से मौर्यकाल की असंख्य मूर्तियाँ काल के गर्भ में समा गईं। जो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दे रहे हैं।

परखम की यक्ष मूर्ति—परखम (मथुरा जिला) में प्राप्त मौर्यकाल की सर्वाधिक प्रसिद्ध यक्ष मूर्ति सात फीट ऊँची, भूरे बलुए पत्थर की बनी है। ऊपर बहुत ही सुन्दर वज्रलेप है। यह मूर्ति मथुरा के म्यूजियम में सुरक्षित है। इस मूर्ति के पहिरावे से मौर्यकालीन वेश-भूषा का परिचय मिलता है। इस काल की एक मूर्ति बेसनगर

से प्राप्त किसी चामरग्राहिणी स्त्री की है जो ६ फीट ७ इंच ऊँची है। परखम की मूर्ति पर लेख भी उत्कीर्ण है।

परखम की यक्ष मूर्ति प्रस्तर कला की उभरी मूर्ति बनाने के नियम के अन्तर्गत है, यद्यपि कलाकारों में इसके विपरीत प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही थी। सिर तथा धड़ की रचना ऐसी विभक्त तथा तिरछी है कि उसके दोनों भाग एक से दिखाई पड़ते हैं लेकिन उसका चौड़ा पिछला हिस्सा जो थोड़े से ढालू किनारे से जुड़ा है, सिद्ध करता है कि दोनों तरफ का भाग एक साथ नहीं बनाया गया था। एक तरफ के भाग का निर्माण करने के बाद दूसरी तरफ का बनाया गया। यह संगतराशी साधारण कोटि की है। इसमें सामने का शरीरावयव पृष्ठभाग और पार्श्वभाग को दबा लेता है। गर्दन भद्दी होती है और पेट की गोलाई तथा पैरों की बेडौल बनावट भद्दी मालूम पड़ती है। इस प्रकार परखम की मूर्ति कलात्मक नहीं है। इनके अतिरिक्त जैन तीर्थङ्करों की सजीव जैसी प्रतिमाएँ अशोक के पौत्र सम्प्रति के राज्यकाल की पटना के समीप लोहानीपुर से प्राप्त हुई हैं।

बेसनगर की स्त्रीमूर्ति—बेसनगर की चामरग्राहिणी स्त्री की मूर्ति भारतीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है। इसके मुखमण्डल पर स्त्री सुलभ स्निग्धता की झलक एवं अंग-प्रत्यंग में सौष्ठव है। **दीदारगंज** से प्राप्त यक्षिणी भी उसी श्रेणी में रखी जा सकती है। पैर का कड़ा, हाथ की चूड़ियाँ, वस्त्र तथा चमकता शरीर (वज्रलेप सहित) उसे मौर्यकालीन आकृति घोषित करते हैं।

मौर्यकालीन सिक्के—हमें चाणक्य के अर्थशास्त्र से मौर्यकालीन सिक्कों के सम्बन्ध में कुछ बातें मालूम होती हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य ने मुद्रा नियन्त्रण पर विशेष ध्यान दिया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में स्वर्ण, रजत एवं ताम्र निर्मित सिक्कों का स्पष्ट उल्लेख है। स्वर्ण की मुद्रा सुवर्ण या निष्क, चाँदी की कार्षापण या धरण और ताम्र की 'मषक' तथा 'कार्षापण' कहलाती थी। रजत मुद्रा अधिक चलती थी जिसका वजन ५८ ग्रेन से कुछ अधिक था। ताँबे के 'कार्षापण' का वजन १४६ ग्रेन से अधिक था।

उस काल में बेक्ट्रिया के राजाओं के अत्यन्त सुन्दर सिक्के पाश्चात्य देशों में चल रहे थे किन्तु अशोक ने अपने पूर्व प्रचलित भारतीय ढङ्ग के सिक्के जारी रखे। ये सिक्के प्रायः चिन्ह मुद्रित होते थे और अल्हड़ ढङ्ग से ढाले जाते थे। दोनों ओर सिक्के ढालने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। इनमें एक ओर राजा की मूर्ति एवं उपाधियाँ रहती थीं और दूसरी ओर कोई अन्य आकृति। किन्तु अभी तक सुन्दर चमकीले सिक्कों का निर्माण प्रारम्भ नहीं हुआ था। कुषाण काल के कनिष्क के सिक्के यूनानी प्रभाव प्रकट करते हैं। उनमें यूनानी, भारतीय और ईरानी देवताओं का विलक्षण समन्वय मिलता है। आगे चलकर गुप्तकाल में पाश्चात्य नमूनों पर बहुत सुन्दर सिक्कों का मुद्रण हुआ किन्तु वे भी बेक्ट्रियन नरेशों के सुन्दर सिक्कों की तुलना में हीन थे।

मौर्यकला पर एक दृष्टि—मौर्ययुगीन कला में वैविध्य का अभाव था क्योंकि वह प्रायः एक व्यक्ति स्वयं सम्राट अशोक की अभिरुचि एवं धार्मिक तथा नैतिक आदर्शों के लिए प्रयुक्त हुई। उससे सम्राट के जीवन और आदर्शों की गरिमा और वैभव तो अभिव्यक्त होता है किन्तु उसमें जन-जीवन का वैविध्य एवं सामान्य सामाजिक व्यवहार का अभाव है।

डा० नीहाररंजन के अनुसार मौर्यकला ने भारतीय कला के विकास में कोई स्थायी योग नहीं दिया। उन्होंने लिखा है—"वह (मौर्य कला) पौधघर में उगाए हुए पौधे के सदृश थी, उसका पोषण ऐसे दरबार की इच्छा द्वारा, देख-रेख तथा संरक्षण में हुआ था जिस पर विदेशी संस्कृति और आदर्शों का भारी प्रभाव था। कालान्तर में (पौधघर के) शीशे की दीवारें गिरकर चकनाचूर हो गईं और पौधा मुरझा गया। मौर्य दरबार की कला भारतीय कला के विकास में उल्लेखनीय और स्थायी योग नहीं दे सकी, सिवाय इसके कि अप्रत्यक्ष रूप से उसने उसे (भारतीय कला को) अधिक स्थायी माध्यम (पत्थर) प्रदान कर दिया।"[1] डेढ़ सौ वर्ष के मौर्य शासन में वास्तु-कला और भास्कर-कला का पर्याप्त विकास हुआ।

---

1. *The age of Nandas and Mauryas*, pp. 387-88.

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टेपरावरे॥ (मुण्डक० २।२।८)

'कार्यकारण रूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की अविद्या-ग्रन्थि खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।'

3

शुंगकाल की कला
(१८८ ई० पू० से ७५ ई० पू०)

शुङ्गवंश और कला—पुष्यमित्र शुङ्ग ने अन्तिम मौर्य नरेश ब्रहद्रथ का वध करके मौर्य राज्य पर अधिकार जमा लिया और मगध में एक नवीन राजवंश की नींव डाली जिसे शुङ्गवंश कहते हैं। इस वंश ने लगभग ११२ वर्ष राज्य किया।

शुङ्ग वंश के राजाओं ने हिन्दू धर्म का प्रचार किया था, किन्तु अविरोध भाव से और धर्मों का भी पोषण किया था। इन्होंने यज्ञों को पुनर्जीवन प्रदान किया था। शुङ्गकाल की कला मौर्यकला की एक प्रकार से पूरक है। इस काल में साँची, भारहुत और बुद्ध गया की कला विकसित हुई। इस नई कला में भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित मूर्तियों को प्रधानता मिली। अशोककालीन अलंकरणों में जहाँ पशु-पक्षियों और चक्र आदि धार्मिक चिन्हों की प्रधानता रहती थी वहाँ शुङ्गकाल में मूर्तियों द्वारा भगवान के जीवन वृत्त का चित्रण हुआ।

कला में मौलिक परिवर्तन—मौर्य काल के पश्चात् भारतीय कला में मौलिक परिवर्तन हुआ। यद्यपि अशोक ने स्वदेशी कला को सुसंस्कृत कर साम्राज्य के गौरव को बढ़ाया तथापि उसके विचारों को शुंग काल में समादर न मिल सका। अतएव शुंग-कला मौर्य-कला की निषेधार्थक रूप मानी गयी है। अशोक ने 'न च समाजो-कर्तव्यो' की घोषणा की थी। उसका ध्येय था कि धार्मिक सम्मेलन हो। सांसारिक विषयों को लेकर (मनोरंजन आदि) समाज की रचना न की जाय। यही कारण था कि समाज के विचार मौर्यकालीन कला में स्थान न पा सके थे। परन्तु शुंगकाल में सामाजिकता ने कला को पूर्णतः प्रभावित किया। मनोरंजन, संगीत आदि आयोजित किये गये। ऐसा अनुकरण सारे भारत में होने लगा जिसका प्रतिबिम्ब कला में दिखलाई पड़ता है।

शुंग-कला का विकास उसके उदाहरणों से आंका जा सकता है। उसकी पंक्तियों की लय या ताल (गति) में जीवन का प्रवाह परिलक्षित होता है। तत्कालीन प्रस्तर तथा मृण्मयी मूर्तियों में सौन्दर्य, वस्त्राभूषण एवं रत्नों की सजावट, केश-विन्यास, चाल, मुद्रा की गंभीरता तथा ऊँची कल्पना वर्तमान है। उन नमूनों के अवलोकन से मध्य वर्ग के समाज का अध्ययन हो जाता है। शुंग-कला का मुख्य उद्देश्य मध्यदेशीय लोगों के सामूहिक विचार तथा सामाजिक भावना को व्यक्त

करना था। यह लोगों के मानसिक संकल्प से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। व्यक्तित्व से रहित यानी सामूहिक कल्पना का प्रतिनिधित्व शुंग-कला करती है तथा जनसमुदाय की परम्परा की अभिव्यक्ति भी उसके द्वारा हो जाती है। इन सब कारणों से यह कहना युक्तिसंगत होगा कि दस्तकारी से ऊँचे श्रेणी की कला का स्थान तथा पद शुंगकालीन कला को मिल सका।[1]

भारहुत—मध्यभारत के नागोद राज्य में है। वहाँ का स्तूप तो नष्ट हो गया है, किन्तु उसके चारों ओर की बाढ़ (वेष्ठनियों) के कुछ अंश और तोरण वर्तमान हैं। वे सब कलकत्ते के अजायबघर में सुरक्षित हैं। भारहुत के वेदिका स्तम्भों पर बनी हुई यक्षणियों की गणना भारतीय शिल्प के सर्वोत्तम उदाहरणों में होती है। उनमें धार्मिक चित्रों के साधारण जीवन से सम्बन्धित आनन्द-प्रमोदमय चित्र भी हैं। जातक कथाओं के कतिपय अंकन भी आमोद-प्रमोद के साधन बने हैं। साँची की वेष्ठनियों और तोरणों का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।

बुद्ध गया के मन्दिर की बाढ़ के अलंकरण में कमलों तथा पशु-पक्षियों के चित्र भारहुत से अधिक गहरे, जीवन्त और सुन्दर हैं। इस वेष्टनी पर भी जगह-जगह दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। गया में स्तूप नहीं है।

शुंगकला के केन्द्र श्रावस्ती, भीटा, कोशाम्बी, मथुरा, बोध गया, पाटलिपुत्र, भारहुत, साँची आदि थे। बुद्ध गया का प्राचीन मन्दिर आज एकदम परिवर्तित रूप में उपलब्ध है। इसका प्राचीन नाम वज्रासन गन्धकुटी प्रासाद है। वर्तमान में इसे महाबोधि मन्दिर कहते हैं। इसका वर्तमान रूप सन् १८८१ का है। इससे पूर्व भी दो बार सन् ११०५ और १२९८ में इसका जीर्णोद्धार हुआ। आज यह नौ खण्डों का मीनार जैसा मन्दिर है। ह्वेनसांग ने सातवीं शती में मूल मन्दिर को देखा था। उसने इस मंदिर का विवरण देते हुए जो ऊँचाई और चौड़ाई बताई थी, वह आज भी उतनी ही है। वज्रासन के गर्भतल में प्राप्त वस्तुओं में हुविष्क की मुद्रा और वज्रासन पर कुषाणकालीन लिपि के लेख से यह अनुमान है कि इसका निर्माण ई० की दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुआ होगा, किन्तु इससे पूर्व शुङ्गकाल का एक मन्दिर वहाँ था जिसका नाम बोधिद्रुम मन्दिर था और उसके चित्र द्वितीय शती ई० पू० से दूसरी शताब्दी ईसवी तक के उत्कीर्ण प्रस्तरों पर विद्यमान हैं। भारहुत में उत्कीर्ण चित्र इसका उदाहरण है। इस चित्र पर 'भगवतो शक मुनिनो बोधि' लिखा हुआ है। कनिंगहम के उत्खनन से भी यह बात सिद्ध होती है। मूल बोधिद्रुम मन्दिर के पालिशदार चार स्तम्भों सहित प्रस्तर-फलक प्राप्त हुए हैं।

शुङ्गकाल की मूर्तिकला में अप्सरा एवं गन्धर्व मिथुन की कल्पना—श्री जायसवाल ने यह मत प्रकट किया है कि बौद्धों और जैनों के स्तूप आदि पर नक्काशी में अप्सराओं आदि की कल्पना ब्राह्मण-सम्प्रदाय के वास्तु से ही ली गई थीं और

---

1. डा० वासुदेव उपाध्याय ; **प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान**, पृ० ३५।

उन्हीं के अनुकरण पर केवल वास्तु की शोभा और अलंकरण के हेतु बनाई जाती थी अन्यथा उनके धर्म साहित्य में इनका स्थान नहीं था।[1] ब्राह्मण सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि मंदिरों के द्वार अथवा तोरणों पर गंधर्व-मिथुन की मूर्तियाँ होनी चाहिए और मन्दिर पर अप्सराओं, सिद्धों और यक्षों आदि की मूर्तियाँ नकाशी हुई होनी चाहिए।[2] बुद्ध गया की बाड़ पर, मथुरा के जैन स्तूपों तथा नागार्जुन कोंडा स्तूपों तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक शुङ्ग-सातवाहनकालीन भवनों एवं प्रस्तर फलकों पर अनेक प्रेमी गन्धर्वों के साथ भाँति-भांति की प्रेमपूर्ण क्रीड़ाएँ करती हुई अप्सराओं की मूर्तियाँ मिलती हैं।

सांची के तोरण द्वार—सांची के सुप्रसिद्ध स्तूप के तोरण द्वारों का कलात्मक महत्त्व है। इनका निर्माण कई शताब्दियों में हुआ है अतः इन तोरण द्वारों की मूर्ति शैली में भिन्नता है।

तोरण द्वारों में सर्वप्रथम शुंगकाल में दक्षिण द्वार बनवाया गया, इसके बाद उत्तर, पूर्व और पश्चिम तोरण द्वार का निर्माण हुआ। सभी तोरण द्वार एक ही डिजायन एवं रचना विधि के हैं। प्रत्येक द्वार दो चौकोर खम्भों से बना है। प्रत्येक पर दो शीर्ष प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। शीर्ष प्रतिमाएँ खड़े हुए बोनों की अथवा हाथी, शेर आदि पशुओं की हैं। उत्तर स्तम्भों को रेलिंग द्वारा मिलाया गया है, उन रेलिंगों पर स्त्री-पुरुष, घुड़सवार, शेर आदि की आकृतियाँ हैं। इन पर जातक कथाएँ तथा विविध वृक्ष, पशु, पक्षी, शाक्य आदि मुनियों की आकृति तथा अन्य अलंकरण हैं। इन पर कहीं-कहीं अर्थदानदाताओं के नाम भी अंकित हैं। पूर्व तोरण द्वार के दक्षिण स्तम्भ पर देवलोक का चित्र है। दक्षिण तोरणद्वार कलात्मकता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। इस पर युद्ध के सजीव एवं स्वाभाविक चित्र बने हैं। पश्चिम और उत्तर द्वार पर साधारण परम्परायुक्त चित्र हैं। विभिन्न कालों में निर्मित होने के कारण ही इन तोरण द्वारों पर उत्कीर्ण आकृति एवं दृश्यों आदि में भिन्नता है।

सांची का दक्षिण तोरण द्वार और उसकी कला—शातकर्णि नाम के आंध्र-राजा ने सांची स्तूप के दक्षिण के विशालकाय तोरण का एक भाग बनवाया, दूसरा भाग विदिशा के हस्ति-दस्तकारों ने बनवाया। इस तोरण में १४-१४ फुट ऊँचे चौपहल खम्भ हैं जिन पर तेहरी कमानीदार सिंह, हाथी, धर्मचक्र, यक्ष और त्रिरत्न-उत्कीर्ण बडेरियाँ हैं। तोरण की कुल ऊँचाई ३४ फुट है। स्तम्भ के निचले हिस्से में अगल-बगल पूर्णाकृति द्वारपाल यक्ष बने हैं। इन तोरणों की आकृतियों आदि से तत्युगीन जीवन का परिचय मिलता है।

---

१. अंधकारयुगीन भारत, १९३८, पृ० ९४-९६।

२. मत्स्यपुराण, २५७।१३-१४।

सांची और भारहुत के अतिरिक्त मौर्य-शुंगकालीन शिल्प के उदाहरण उड़ीसा की उदयगिरि और खण्डगिरि पहाड़ियों की कुछ गुफाओं में मिलते हैं जिनमें हाथी गुफा, रानी गुफा, गिरीश गुफा और अलकापुरी नाम की गुफाएं प्रसिद्ध हैं। इनका समय १५० ई० पूर्व से ५० ईसवी तक है। रानी गुफा में जिसका जैन धर्म से सम्बन्ध है, तीर्थंकर पार्श्वनाथ का एक जुलूस है। उदयगिरि की जय-विजय गुफा में ६ फुट की एक स्त्री-मूर्ति है जिसके खड़े होने का ढंग बड़ा आकर्षक है।
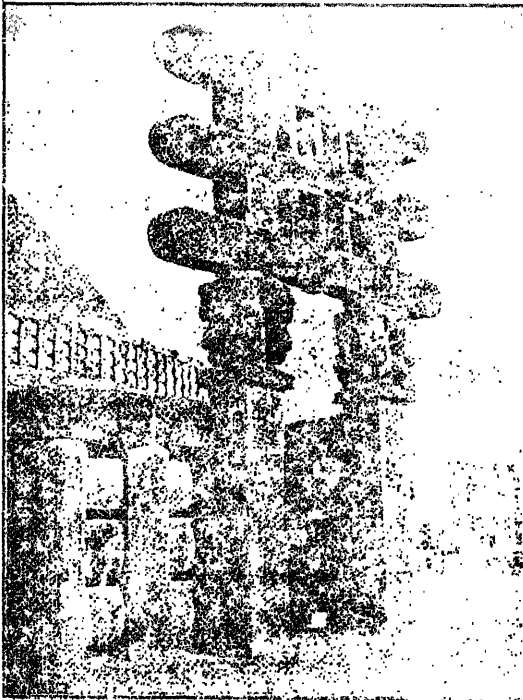
सांची का तोरण

मृण्मूर्तियाँ (टेराकोटाज)—शुंगकाल की पकाई हुई मिट्टी की असंख्य मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें शुंगकाल की मूर्तिकला का चिपटा डौल खूब उभरा है। रायकृष्णदास

ने कौशांबी से प्राप्त एवं भारत कला भवन काशी में संगृहीत एक मृण्मूर्ति को शुंग-काल की मृण्मूर्तिकला का अनोखा उदाहरण माना है। इसमें एक टिकरे पर चलने को उद्यत हथिनी है जिसे एक स्त्री चला रही है तथा उसके पीछे एक युवक सुरमंडल नामक बाजा लिये बैठा है। उसके बाद एक आदमी पीछे मुँह किये एक थैली से गोल और चौकोर सिक्के बिखेर रहा है जिन्हें पीछे लगे दो आदमी बटोर रहे हैं। रायकृष्णदास ने इस मृण्मूर्ति के ऐतिहासिक कथानक की विस्तार से चर्चा की है।[1]

त्रिमूर्ति—ब्रह्मा-विष्णु-महेश त्रिमूर्ति की पूजा शुङ्गकाल में हिन्दू-धर्म का केन्द्र-बिन्दु बनी। अब वैदिक यज्ञ वेदी का स्थान मन्दिरों ने ले लिया और मूर्तिपूजन प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार मन्दिर-वास्तु का विकास हुआ। डॉ० रामजी उपाध्याय का निश्चित मत है कि ऋग्वेद काल में भी मूर्तियों का निर्माण होता था। ऋग्वेद में ही इन्द्र को बेचने का प्रसंग आता है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग इन्द्र की प्रतिमायें बनाते थे। अथर्ववेद में भी मिट्टी की मूर्तियों की अभिचार सूक्तों में चर्चा है। शतपथ ब्राह्मण में प्रतिरूप को ही शिल्प कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी अनुकृति को शिल्प माना गया है एवं हाथी की मूर्ति का उल्लेख है। सूत्र-काल में मूर्तियों की पूजा होती थी। बोधायन ने लिखा है कि शिशु के निष्क्रमण-संस्कार के अवसर पर पिता घर से बाहर जाकर मूर्ति पूजा करे। उस समय मूर्तियों को मन्दिर में स्थापित किया जाता था। महाभारत और रामायण काल की मूर्तियों का उल्लेख इन ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत के भीष्मपर्व में देव-मूर्तियों के काँपने, हँसने और रक्तवमन करने का प्रसंग आता है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय लोग देवताओं की मूर्तियों से परिचित थे।[2]

स्तूप भवन—स्तूप भवन के दो रूप मिलते हैं। (१) लयण (२) चैत्य। लयणों को चैत्य का आरम्भिक रूप कह सकते हैं। चैत्य या स्तूप भवन ईंट-पत्थरों से चुनकर बनाये जाते थे किन्तु इनके छाजन काष्ठ निर्मित होते थे। चैत्यों में स्तूप, उनकी प्रदक्षिणा के अतिरिक्त गर्भगृह होता था जहाँ संघाराम का कार्य बिना किसी बाधा के चलता रहता था और ऊपर उपासक स्तूप की पूजा आदि करते रहते थे। पहाड़ की चट्टानें काटकर चैत्य या विहार बनाने की परम्परा मौर्यकाल से प्रारम्भ हुई। शुङ्गकाल में भी यह परम्परा चलती रही। इन गुफाओं को आज भी मराठी में लेणी और उड़िया में गुम्फा कहते हैं। गुफाओं में उत्कीर्ण अभिलेखों में उन्हें लेण या लयन या सेलघर (शैलगृह) कहा गया है। इस काल के महाराष्ट्र के प्रसिद्ध बौद्ध विहार (लेण या लयन) ये हैं—भाजा, कोंडारा, पितलखेरा, अजन्ता (अजिंठा), बेड़सा, नासिक, जुन्नर तथा कार्ली। अजन्ता की केवल संख्या ९ और १० की लेण

---

१. भारतीय मूर्तिकला, द्वि० सं०, पृ० ६५-६६ तथा 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका, जनवरी १९३८, पृ० १७-२७।

२. भारत की प्राचीन संस्कृति, प्र० सं०, पृ० १९३।

शुङ्गकाल की हैं, शेष परवर्ती युग की हैं। कार्ली की गुफाएँ (लयन) शुङ्गकाल के अन्तिम समय ६५ ई० पू० की हैं। भाजा की लेण में भित्ति पर चिपटे उभार में सूर्य और इन्द्र की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

भाजा लयण विहार—सह्याद्रि (पश्चिमी तट) के पर्वतों में पूना के निकट भाजा में सर्वाधिक प्राचीन लयण (बौद्ध विहार) मिला है। इसका निर्माण ईसा शताब्दी पूर्व अनुमान किया जाता है। डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त ने इस लयण का विवरण देते हुए लिखा है—"यद्यपि इसका रूपक बहुत कुछ अव्यवस्थित है फिर भी वह उसी ढंग का है जिस ढंग के अन्य लयण विहार हैं। उसमें सामने एक बरामदा है। बरामदे में सभामण्डप में जाने के लिए दो दरवाजे और एक छब्दार खिड़की है। सभामण्डप के दोनों ओर दो कमरे हैं। बरामदे की छत हस्ति-पृष्ठ के रूप में काटकर बनायी गयी है। दोनों पार्श्वों के सिरे और भीतर की चौरस दीवार हर्मिका (कारनोस) से युक्त गोल है। स्तम्भों पर बारी-बारी से मूर्ति के सभी रूपक बने हैं। पश्चिमी सिरे पर तीन कोठरियाँ हैं जो चौकोर एवं गोल स्तम्भों द्वारा, बरामदे से अलग की गयी हैं, जिनमें नीचे की ओर मूर्तिकारी की हुई है। स्तम्भों पर कमलयुक्त शिरा है जिसके ऊपर किम्पुरुष के नारी रूप की आकृति है। कटि से ऊपर का अङ्ग नारी और निम्नांग गौ का है। बरामदे के पतले स्तम्भ टूट गये हैं। इस लयण के उत्कीर्ण चित्र दर्शनीय है।

उड़ीसा के लयण विहार—पूर्वी भारत, विशेषतः उड़ीसा में कई सौ बौद्ध और जैन लयण विहार ज्ञात हुए हैं जिनमें खण्डगिरि और उदयगिरि के विहार समूह अधिक प्रसिद्ध हैं। यह दोनों समूह जैन-धर्म से सम्बद्ध हैं। इन दोनों समूहों में ३५ से अधिक लयण हैं जिनमें आकार एवं अलंकरण की दृष्टि से खण्डगिरि का अनन्त गुम्फा और उदयगिरि के रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा और जय-विजय नामक लयण अधिक प्रसिद्ध हैं।[1]

उदयगिरि समूह में हाथी गुम्फा और मणिकापुरी, जिसे कुछ लेखकों ने वैकुण्ठ अथवा पातालपुरी के नाम से व्यक्त किया है, दो अन्य लयण हैं जो खारवेल के (१६१ ई० पू०) लेखों के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन सारे समूहों में हाथीगुम्फा सबसे प्राचीन है और प्राकृतिक गुफा को काट कर बनाया गया है। मणिकापुरी लयण दो मंजिला है। नीचे की मंजिल में एक बरामदा और भीतर कमरे हैं और ऊपर की मंजिल भी उसी ढंग की है किन्तु उसके कमरे छोटे हैं और बरामदों के अगल-बगल कमरा नहीं है। इसी मंजिल में खारवेल का सुप्रसिद्ध अभिलेख है। इन लयणों में अंकित मूर्तियाँ साधारण और कुछ-कुछ भाजा और भारहुत की प्रतिरूपक हैं। इन लयणों के पश्चात् (लगभग २५० ई० पू०) अनन्त गुम्फा है जो एक मंजिला और मणिकापुरी के लयण से मिलता-जुलता है। इस लयण के द्वारों पर अलंकृत तोरण हैं

---

१. **भारतीय वास्तु कला, पृ० ६६-६७।**

जिन पर नासिक एवं पश्चिमी भारत के अन्य लयणों की तरह त्रिमुण्ड नाग दम्पत्ति अंकित हैं। रानीगुम्फा ५० ई० पू० का अनुमान किया जाता है। यह दो मंजिला है, हर मंजिल में बरामदा है। बरामदे के अगल-बगल अनियमित आकार के कमरे हैं। इनके दरवाजों के ऊपर जैन-धर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। यह चित्रांकन इतना सुन्दर है कि ऐसा भान होता है कि मानों पत्थर की न होकर काठ पर की नक्काशी है। गणेशगुम्फा भी इसी प्रकार के अलंकरण हैं। जय-विजय सबसे पीछे बना लयण है।

गणेशगुम्फा और राजरानी गुम्फा में एक अद्भुत कथा उत्कीर्ण है। एक मनुष्य एक वृक्ष के नीचे शयन कर रहा है और एक स्त्री, जोकि प्रत्यक्ष उसकी पत्नी है, अपने प्रेमी का स्वागत करती है। शयन करता आदमी उठकर संघर्ष रत होता है और विजयी स्त्री को अपनी गोद में ले भागता है।

बेदसोर की गुफाएं अत्यन्त उन्नत अवस्था में हैं। उनके खम्भे अधिक सीधे हैं यद्यपि वे भीतर की ओर कुछ झुके हुए हैं। उसके द्वार पर बौद्ध जंगलों का सा काम हो रहा है।

नासिक की गुफा के खम्भे इतने सीधे हैं कि उनका झुकाव बहुत कठिनाई से ज्ञात होता है।

भुज की गुफा के खम्भे भीतर की ओर बहुत झुके हुए हैं जैसे काष्ठ के खम्भ किसी इमारत में चाँड देने के लिए प्रयुक्त होते हैं।। गुफाओं की धरनें काष्ठ निर्मित हैं।

कार्ली का चैत्य हॉल लम्बाई चौड़ाई में १२४'३" लम्बा, और २५'७" चौड़ा और ४५'६" फुट ऊँचा है। यह विशाल कक्ष चैत्यों में सर्वाधिक बड़ा एवं कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। इसका स्तूप ऊँचा नलाकार है, उसमें दो वेदिका पथ हैं। उसका काष्ठ का छत्र अभी तक सुरक्षित है। चैत्य के कक्ष और गैलरी के बीच में एक ही श्रेणी में ३० खम्भे खड़े हैं जो गुम्बज की गोलाई के चित्र-रहित और अष्ट-कोणीय आकृति के हैं। शेष १५ खम्भे विशाल कक्ष (हॉल) के दोनों ओर सतह में मोटे सिरे पर घण्टाकृति वाले तथा चोटी पर घुटने टेके हुए हाथी, घोड़े व शेरों की आकृति वाले हैं जिनके बगल में आरोही खड़ा है। इन चित्रों के ऊपर ४५ फुट का गुम्बज है जो अर्ध गोलाकार छत पर बनाया गया है। बड़े घेरे के अन्त में गुम्बज समाप्त होता है वहाँ गुम्बज की अर्ध-गोलाकृति है। नीचे एक स्तूप है जिस पर एक लकड़ी की छतरी है। कक्ष के मुख्य द्वार के सम्मुख एक बरसाती १५ फुट × ५८ फुट की है। उसकी चौड़ाई भी ऊँचाई के बराबर है तथा दो पंक्तियाँ अष्टकोणाकृति खम्भों की हैं जिनके बीच में एक पत्थर की शिखा है जिसमें लकड़ी की खुदी हुई चद्दरें हैं।

गुहामन्दिर—शुङ्ग-युगीन गुहामन्दिरों का डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार का विवरण यहाँ उद्धृत है। इस युग के बहुत से गुहामन्दिर उड़ीसा और महाराष्ट्र में

विद्यमान हैं। पहाड़ को काटकर उसके अन्दर से विशाल विहार या चैत्य खोदे गये हैं। ऊपर से देखने पर ये पहाड़ ही प्रतीत होते हैं पर द्वार से अन्दर जाने पर विशाल भवन दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें पहाड़ को काट-काटकर बाकायदा सुन्दर भवनों के रूप में बनाया गया है। उड़ीसा के ये गुहामन्दिर जैनों के हैं। इनमें हाथीगुम्फा सबसे प्रसिद्ध है, वहीं कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख पाया गया है। हाथीगुम्फा के अतिरिक्त मंचापुरी गुम्फा, रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, जय-विजय गुम्फा, अलकापुरी गुम्फा आदि और भी कितने ही गुहामन्दिर उड़ीसा में पाये गये हैं। मंचापुरी गुम्फा में खारवेल की रानी का तथा राजा वक्रदेवश्री का लेख पाया गया है। यह सम्भवतः खारवेल का कोई वंशज था। रामगढ़ में सीताबेंगा नामक स्थान पर गुहामन्दिर उपलब्ध हुआ है, जिसका किसी धर्म-विशेष से सम्बन्ध नहीं था। वह एक प्रेक्षागार था और यही कारण है, कि उसकी दीवार पर किसी रसिक कवि का एक छंद खुदा हुआ है। सीताबेंगा के पड़ोस में ही जोगीमारा का गुहामन्दिर है, जो प्राचीन काल में वरुण देवता का मन्दिर था।[1]

अमरावती कला केन्द्र : सातवाहन कला—शुङ्गकाल में ही दक्षिण में सातवाहन वंश था। सातवाहनों के शासन-काल में देश में संस्कृति और कला की धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। बौद्ध धर्म ने इस युग की वास्तु-कला को प्रगति प्रदान की। दक्षिण में जितने भी शैलगृह और गुहा मन्दिर मिले हैं उन सबका निर्माण इस युग में हुआ। इस प्रकार कृष्णा और गोदावरी के मध्य का प्रदेश महत्वपूर्ण कलाकेन्द्र बन गया और यहाँ सातवाहन या अमरावती-कला का विकास हुआ। महाराष्ट्र की वेडसा, नासिक, कार्ले, जुन्नर, कोंडाने आदि की गुफाएँ सातवाहन युग की हैं। नासिक के गुफा मन्दिर के अभिलेख के अनुसार उसका निर्माण सातवाहन राजा कण्ह के समय उसके महामात्र ने कराया। इसका समय तीसरी शती ई० पू० है। नासिक का गुहा मन्दिर ई० पू० तीसरी शती और वेडसा तथा कार्ले के गुफा मन्दिर ईसवी सन् से पूर्व बन चुके थे। सातवाहन राजाओं को गुफा मन्दिर-निर्माण में बहुत अभिरुचि थी। नासिक, कारले (कार्ली) भाजा के गुफा विहार एवं चैत्य के सुन्दर भवनों का निर्माण अमरावती शैली में हुआ। कार्ली गुफा में उसके निर्माता आन्ध्र राजाओं और रानियों की मूर्तियाँ बनी हैं।

अमरावती का स्तूप—जिस काल में उत्तरी भारत में शुङ्ग शासक थे, उसी समय दक्षिण भारत में आन्ध्रों (सातवाहनों) का आधिपत्य था। उनका केन्द्र गुन्तूर जिला था। कृष्णा नदी के किनारे पर स्थित अमरावती सातवाहन कला का महान् केन्द्र था। अमरावती का स्तूप इस कला का प्रतिनिधि था, जिसके अवशेष अब प्राप्त हुए हैं। इस स्तूप का निर्माण दूसरी शताब्दी में हुआ था। इसके चारों ओर

---

१. डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार : **भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास**, १९६०, पृ० ३०६

सातवाहनों ने २००—२५० ई० पू० के बीच बाड़ बनवायी और ईंटों के बने स्तूप के अधोभाग को, जिसका व्यास १०८ फुट था, शिलाफलकों की दोहरी पंक्ति से ढंकवाया था। यह सारा कार्य संगमरमर द्वारा पूर्ण किया गया, जिन पर बड़े रियाज के साथ असंख्य आश्चर्यजनक मूर्तियाँ और अलंकरण बने हुए हैं। शिलाफलकों में से कुछ पर स्तूप का ही अलंकृत दृश्य है, कुछ पर बुद्ध-पूजा तथा उनके जीवन के दृश्य अंकित हैं। इसकी १३—१४ फुट ऊँची और ६०० फुट घेरे वाली एकहरी बाड़ काष्ठ की वेदिका की प्रतिकृति है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर सीधे स्तम्भ हैं, जिसमें बेड़े डण्डे जुड़ाये हैं; ऊपर दाब नीचे बन्द दिया हुआ है। इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के कमल और अलङ्करण अंकित हैं। इनके बीच की जगहों में उभारदार नक्काशियाँ हैं। दाबों और बन्दों पर लहरदार भारी गजरे बने हैं, जिन्हें पुरुष तथा बौने एवं तरह-तरह के पशु झेले हुए हैं। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का अनुमान है कि कोई १७,००० वर्गफुट पर इस प्रकार की मूर्तियाँ और अलंकरण बने हुए हैं। जिस समय यह स्तूप अक्षुण्ण अवस्था में रहा होगा, उस समय वह भारतीय मूर्ति शिल्प का अपने ढंग का सबसे भव्य, अनोखा एवं दर्शनीय उदाहरण रहा होगा।

बुद्ध प्रतिमा का अभाव—शुङ्गकाल की बौद्धकला में बुद्ध की प्रतिमा का अभाव है। केवल चरण-चिन्ह, चक्र, रिक्त सिंहासन, पीपल का वृक्ष आदि प्रतीकों द्वारा बुद्ध की उपस्थिति प्रदर्शित की गई है।

शुङ्गकला भारत की राष्ट्रीय कला का प्रारम्भिक रूप—डॉ० नीहाररंजन के मतानुसार भारहुत, बोध गया और साँची की स्थापत्य कला में पश्चिमी एशिया के कुछ रूपों तथा कला-चेष्टाओं का प्रयोग देश की निजी कला परम्परा के साथ समन्वित करके किया है, अतः उनसे भारत की राष्ट्रीय कला का सूत्रपात माना जा सकता है जिसका पूर्ण विकास भारतीय कला के स्वर्णयुग, गुप्तयुग में हुआ।

शुंगवंश में पुष्यमित्र और अग्निमित्र का नाम उल्लेखनीय है। ये हिन्दू राजा थे, पुष्यमित्र के समय में काबुल और पंजाब के यवन राजा मिनेन्द्र ने, उनके और नागसेन के वार्तालाप के आधार पर प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्न (मिलिन्द पन्हो) बनाया। साकेत और चित्तौड़ के आस-पास के प्रान्त पर आक्रमण किया था, किन्तु पुष्यमित्र ने उसे लौटा दिया था। कहने का अभिप्राय यह है कि चन्द्रगुप्त के समय में आये हुए सिकन्दर और पीछे से आये हुए सेल्यूकस आदि का एवं पीछे मिलिंद आदि का यूनानी प्रभाव यहाँ वर्तमान था। यद्यपि यह बहुत थोड़ा था, तथापि नितान्त नगण्य न था। इसी काल में शकों के भी आक्रमण हुए।

बेसनगर गरुड़ध्वज—शुंगकाल में यूनान का राजदूत होलिओदोर शुंग दरबार में आया था। उसने भगवान् वासुदेव के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए शुंग राजधानी विदिशा (बेसनगर) में एक गरुड़ध्वज की स्थापना की।

४

कुषाण काल की कला
(लगभग ई० १ से २०० तक)

कुशन और कनिष्क

कुशन लोग मध्य एशिया की यूची जाति से सम्बन्धित हैं।[1] कुषाणकाल का प्रधान उन्नायक कनिष्क[2] था। यह सन् ७८ ईसवी में राजगद्दी पर बैठा था। पुष्पपुर या पेशावर इसकी राजधानी थी। यह बौद्ध था और प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष इसके ही काल में हुआ। किन्तु कनिष्क ने हिन्दू धर्म का भी पोषण किया। कुषाणों के अधिकार में मथुरा कला का केन्द्र बन गया और उत्तर-पश्चिम में गांधार कला चेती। इस प्रकार उसके समय में कला के चार केन्द्र हो गये। गांधार, मथुरा, सारनाथ व अमरावती।

कुषाणकालीन स्तूप—सम्राट अशोक की भाँति कनिष्क ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान किया। कनिष्क के समय में अनेक बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। उत्तर-पश्चिम भारत में कनिष्ककालीन अनेक स्तूपों का पता चला है। जलालाबाद (नगरहार) अफगानिस्तान का **खोस्ता स्तूप** इसी काल का है। इसका आधार बहुत विशाल है। तूदे का निम्न भाग मूर्तियों और ताखों से अलंकृत है। तक्षशिला में भी इस काल के ५०-६० स्तूपों के अवशेष का पता चलता है। रावलपिण्डी के समीप माणिक्यवाला में १५ स्तूपों का महत्वपूर्ण समूह ज्ञात हुआ है। मोहनजोदड़ो, मीरपुर खास, सैदपुर आदि में भी इस काल के कुछ स्तूप मिले हैं। कनिष्ककाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध स्तूप पेशावर का था जिसकी चर्चा चीनी यात्रियों ने की है। यह अब पूर्णतया ध्वस्त हो चुका है। उसका आधार पाँच सीढ़ियों पर बना था और १५० फीट था। स्तूप १३ मंजिल और ४०० फीट ऊँचा था। उसके ऊपर एक दण्ड था जिसकी ऊँचाई ८८ फीट थी और उसमें १३ से २५ तक ताँबे के

---

१. यूची जाति का आदि निवास स्थान उत्तर-पश्चिमी चीन का कान-सू प्रान्त था। चीनी साहित्य में उनका गौर वर्ण तथा नीली आँखों वाला कहकर उल्लेख किया गया है। १७४-१६५ ई० पू० के मध्य तुर्की घुमक्कड़ों की हियुंग-नू नाम की जाति ने यूचियों को परास्त किया और उन्हें उनके निवास स्थान से खदेड़ दिया। इसके बाद ये ता हिया (बैक्ट्रिया) में बस गये।

२. यह पराक्रमी सैनिक तथा महान विजेता था।

छत्र लगे थे। इस प्रकार स्तूप की कुल ऊँचाई ६२८ फीट थी। इस स्तूप का आधार २८६ फीट था। यह स्मारक भारत का सर्वाधिक विशाल स्मारक था। इसके समकालीन माणिक्यवाला स्तूप का व्यास १६० फीट से कम है। इस स्तूप के गर्भगृह में कनिष्क का प्रसिद्ध रजत-मंजूषा मिला है।

गांधार-शैली—ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में आविर्भूत मूर्तिकला की गांधार शैली की स्थापना का सम्पूर्ण श्रेय ग्रीक कलाकारों को है।

गांधार शैली पर रोमन (ग्रीक) कला का विशेष प्रभाव पड़ा। यद्यपि इस को ग्रीक-बुद्ध-कला कहा जाता है किन्तु ग्रीक की राजधानी बैक्ट्रिया और उत्तर एवं पश्चिमीय भारत का विभाग इस कला के प्रादुर्भाव के पूर्व नष्ट हो चुका था, इसलिए इसका विकास ग्रीक नरेशों के कला-प्रेम के कारण हुआ।

इस शैली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) इसमें मानव शरीर में वास्तविकता का अंकन करने की प्रवृत्ति थी तथा अंग-प्रत्यंगों, मांसपेशियों, मूछों आदि का सूक्ष्मता से अंकन करने की ओर अधिक रुझान था।

(२) दूसरी प्रमुख विशेषता इसकी अनुपम नक्कासी है। इसमें जटिल प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान है।

(३) इसमें वस्त्रों का प्रदर्शन करते समय वस्त्रों की सलवटें बड़ी सूक्ष्मता से अंकित की गई हैं। साथ ही झीने वस्त्र, शरीर से सटे अंग-प्रत्यंग को झलकाने वाले वस्त्र अधिक अंकित किये गये हैं।

(४) दिव्य-दीप्ति एवं आध्यात्मिकता के स्थान पर अंग सौष्ठव की सूक्ष्मता और भौतिक सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। अतः बुद्ध की प्रतिमायें ग्रीक देवता अपोलो की भाँति ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने वाली बन गईं। बोधिसत्व ग्रीक राजाओं की भाँति मालूम पड़ते हैं।

(५) इस कला के प्रमुख केन्द्र जलालाबाद, हद्द, बमियाँ, स्वात की घाटी और पेशावर जिला रहे।

गांधार शैली पर निर्मित वास्तु कला के नमूने काल के गर्भ में समा गये। वास्तुकला के क्षेत्र में ग्रीक प्रभाव न्यून था। केवल तक्षशिला में उत्खनन से प्राप्त कुछ भवनों पर ग्रीक वास्तुकला का प्रभाव लक्षित होता है। मूर्तिकला के क्षेत्र में ग्रीक प्रभाव कुछ अधिक अवश्य है, किन्तु यह प्रभाव अल्पकालिक ही रहा। गान्धार की बुद्ध प्रतिमाओं पर ग्रीक तक्षण कला की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। इस शैली को 'इण्डो-ग्रीक' या गांधार शैली कहते हैं। इस कला के विषय भारतीय हैं, शैली ग्रीक है। भगवान बुद्ध की जो प्रतिमाएँ इस शैली में मिलती हैं उन पर ग्रीक तक्षण कला का प्रभाव स्पष्ट है। ये मूर्तियाँ यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। उनकी मुद्रा तो बौद्ध है किन्तु मुखमण्डल पर भाव एवं साज-सज्जा ग्रीक

है। बोधिसत्व ग्रीक राजाओं की तरह भड़कीले वस्त्र एवं रत्नाभूषणों से अलंकृत हैं। उनके मुख पर आध्यात्मिकता के स्थान पर राजसी गौरव प्रदर्शित है। महाभिनिष्क्रमण से पूर्व उनको मूर्तियों में विदेशी वेशभूषा और रत्नों से विभूषित प्रदर्शित किया है। इस प्रकार मूर्तियों की मुद्राएँ (धर्मचक्र मुद्रा, ध्यान मुद्रा, अभय तथा वरद मुद्रा) भारतीय होने पर भी शिल्पविध अधिकांशतः ग्रीक है। किन्तु इस शिल्पविध को प्रो० ए० कुमारस्वामी ने 'निगूढ़ मिथ्यात्व' का आभास देने वाला कहा है "क्योंकि बोधिसत्वों की सन्तुष्ट अभिव्यक्ति और कुछ-कुछ आडम्बरपूर्ण वेशभूषा तथा बुद्ध मूर्तियों की स्त्रैण तथा निर्जीव मुद्रायें बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर पाती।" डॉ० नीहाररंजन रे के शब्दों में 'वे किसी सिद्ध हस्त कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों से तैयार की गई हों", ऐसी प्रतीत होती हैं।

गान्धार और मथुरा कुषाण काल की कलात्मक प्रगति के प्रमुख केन्द्र थे।

मथुरा शैली—मथुरा की कुषाणकालीन कला विशेष महत्व रखती है। साँची, भारहुत आदि स्थानों में बुद्ध कला तो है किन्तु वहाँ बुद्ध भगवान की मूर्ति का कोई नमूना नहीं मिला। मथुरा भागवत धर्म और भक्ति का केन्द्र था। इस कारण वहाँ के कलाकार उपासना योग्य श्रेष्ठ मूर्तियों की कल्पना कर सके। इस एक बात से बौद्ध-कला के विकास में बहुत बड़ी क्रांति हुई और हमेशा के लिए रुख पलट गया। विशालकाय तोरण और वेदिकाओं का स्थान बुद्ध और बोधिसत्व की अनेकानेक मूर्तियों ने लिया। **सारनाथ** और **कुशीनगर** में भी मथुरा से ही ले जाकर मूर्तियाँ पधराई गई थीं। बुद्ध प्रतिमाओं के अतिरिक्त और भी अनेक नाग-नागी, यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ मथुरा में पाई गई हैं।[1] कुषाण काल की मथुरा की कला की यही विशेषता है कि वहाँ मानव को प्रकृति की सुन्दर पृष्ठ-भूमि में दिखाया गया है। इस सम्बन्ध में हम श्री कृष्णदत्त बाजपेयी जी की 'मथुरा-परिचय' नाम की छोटी पुस्तक से एक उद्धरण दे रहे हैं—

"जिस प्रकार भारतीय साहित्य में संसार को पूर्ण रूप से समझने तथा जीवन के वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के लिए प्रकृति को एक अनिवार्य अंग माना गया है, उसी प्रकार भारतीय कलाविदों ने अपने क्षेत्र में इस तत्व को प्रकट किया है। मथुरा की कला में वेदिका-स्तम्भों आदि पर हमें इसका जीता-जागता चित्रण मिलता है—कहीं वनों में स्त्री-पुरुषों द्वारा पुष्प संचय किया जा रहा है, कहीं निर्झरों और जला-

---

१. डा० नलिनाक्ष दत्त एवं श्री कृष्णदत्त वाजपेयी के शब्दों में मथुरा-कला में यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख-समृद्धि तथा विलास की प्रतिनिधि हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। यक्षों की प्रतिमाएँ मथुरा-कला में अधिक मिली हैं। भगवान बुद्ध के समय मथुरा में यक्ष-पूजा का बड़ा जोर था।"
[उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० २८३.]

शयों में स्नान तथा क्रीड़ा के दृश्य हैं। कहीं सुन्दरियों के द्वारा मंजरी पुष्प या फल दिखा कर शुकादि पक्षियों के लुभाने का चित्रण है।"

जातक कथाएँ एवं लोक-जीवन से सम्बद्ध कला—मथुरा में कुछ वेदिका स्तम्भ मिले हैं। इन स्तम्भों पर भगवान बुद्ध तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न जातक कथाओं के दृश्य उत्कीर्ण हैं। भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्धित कथाएँ 'जातक' कहलाती हैं। इनमें से कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य चित्रित हैं। कुछ पर अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि उत्कीर्ण हैं। कुछ स्तम्भों पर मनोरंजक दृश्य हैं। ये दृश्य लोक-जीवन से सम्बद्ध हैं, यथा, उद्यान में फूल चुनती युवती, कन्दुक-क्रीड़ा में संलग्न युवती, अशोक वृक्ष को ताड़ित करती हुई, निर्झर में स्नान करती हुई, स्नानोपरान्त शरीर ढकती हुई, वीणा और वंशी बजाती एवं नृत्य करती हुई स्त्रियाँ आदि बहुत से मानव जगत के सौन्दर्यपूर्ण दृश्य हैं। कहीं वेणी प्रसाधन का दृश्य है तो कहीं संगीतोत्सव का और कहीं मधुपान का।

ये वेदिका स्तम्भ प्राचीन बौद्ध एवं जैन स्तूप एवं विहारों के पत्थरों के अलंकृत बाड़ों से प्राप्त हुए हैं। पुरातत्ववेत्ताओं ने मथुरा से प्राप्त वेदिका स्तम्भों में से कुछ को ई० पूर्व दूसरी शती का माना है। प्रथम शताब्दी ईसवी की मथुरा (कंकाली टीला) में प्राप्त जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ पूर्णतया भारतीय हैं। वे दिगम्बर सम्प्रदाय की हैं। इन मूर्तियों की हथेलियों, तलवों और वक्षस्थल के मध्य मङ्गल चिह्न बने हैं। उनमें केश दाहिनी ओर मुड़े हुए छोटे-छोटे और घुँघराले हैं।

उनकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(१) श्रीवत्स (२) आजानबाहु (३) यक्ष तथा यक्षिणी की आकृतियाँ (४) यक्ष तथा यक्षिणी के सिर पर तीर्थङ्कर की मूर्ति (५) उर्णा तथा उष्णीष का अभाव (६) ध्यान मुद्रा की प्रधानता (७) तीर्थङ्कर के हाथ, पैर अथवा वक्षस्थल पर जैन प्रतीक (८) मथुरा की कपर्दिन मूर्तियों के सदृश तीर्थङ्कर की प्रतिमा (९) क्षीणकटि (१०) चौड़े वर्गाकार कन्धे (११) आसन (बैठे) रूप में तीर्थङ्कर सिंहासन पर विराजमान (१२) प्रतिमा की चौकी पर चक्र (धर्मचक्र) अंकित (१३) दोनों भाग में भक्त (१४) दोनों कोने पर सिंह की आकृतियाँ।

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त कुषाणकालीन कला सामग्री का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए लिखा है "एक प्रतिमा सरस्वती की है। उन्हें ऊँचे आसन पर आसीन दिखाया गया है। उनका दायाँ हाथ अभयमुद्रा में है तथा बाएँ हाथ में वे पोथी लिए हैं। सरस्वती के अतिरिक्त देवी आर्यवती नैगमेश, अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि देवियों की प्रतिमाएँ भी मिली हैं। कुषाण तथा गुप्तकाल में निर्मित विविध तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की हैं। तीर्थङ्करों को पद्मासन या खड्गासन में अंकित किया गया है। शास्त्रीय विधानों के अनुसार उनके विविध लांछनों आदि का कुशलता के साथ चित्रण मिलता है। गुप्तकालीन तीर्थङ्कर मूर्तियों में शारीरिक सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिकता का भाव अंकित है, जो कहीं-कहीं अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

जैन-स्तूप के चारों ओर कलात्मक तोरण द्वारों के सहित वेदिका का निर्माण किया जाता था। कंकाली टीला की खुदाई से शक-कुषाणकालीन वेदिका के बहु-संख्यक अवशेष मिले हैं। इनमें अनेक आकर्षक मुद्राओं में खड़ी हुई स्त्रियों की प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हें स्नान या प्रसाधन करते हुए, वीणा-बांसुरी आदि बजाते या नृत्य करते हुए प्रदर्शित किया गया है। इन मूर्तियों को देखकर तत्कालीन लोक के सरस जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है। सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य तथा आनन्द के प्रति समाज की सहज आस्था थी। मानव जीवन प्रकृति के उल्लासमय वातावरण में अपने को कृतार्थ मानता था। कला का जो उदात्त रूप इन कृतियों के माध्यम से हमें उपलब्ध है वह इस बात का परिचायक है कि ऐहिक तथा पारलौकिक तत्वों का सामंजस्य मानव जीवन के उन्नयन के लिए आवश्यक माना जाता था।"

बुद्ध प्रतिमा का विकास

बौद्ध मूर्तिकला का प्रारम्भ मौर्य सम्राट अशोक के समय से मिलता है। अशोक ने इसके प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया किन्तु भगवान बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण शुंग काल में ही प्रारम्भ हुआ। "अशोक के समय से लेकर ईसा पूर्व प्रथम शती के अन्त तक भगवान बुद्ध की मूर्ति पूजा नहीं मिलती। बुद्ध तथा धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्त करने के लिए कुछ सांकेतिक चिह्नों की कल्पना कर ली गई थी। ये चिह्न धर्मचक्र, बोधि वृक्ष, स्तूप, उष्णीष, भिक्षापात्र आदि थे। सारनाथ में बुद्ध द्वारा धर्म का जो प्रथम उपदेश दिया गया था उसे एक चक्र द्वारा व्यक्त किया जाता था। यह नया धर्म 'धम्मचक्कपव्वत्तनसुत्त' की संज्ञा द्वारा अभिहित हुआ। परवर्ती कला में इसकी अभिव्यक्ति इस रूप में मिलती है कि भगवान बुद्ध बाएँ हाथ की उँगलियों के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियाँ इस प्रकार रखते हैं मानों वे चक्र घुमा रहे हों। बोध गया में जिस पीपल के पेड़ के नीचे उन्हें बुद्धत्व या सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई उसकी संज्ञा 'बोधि वृक्ष' प्रसिद्ध हुई। इस वृक्ष का चित्रण भी प्रारम्भिक कला में मिलता है। प्रायः वृक्ष को एक बाड़े के अन्दर दिखाया जाता है, जिसे 'वेदिका' कहते हैं। तीसरा मुख्य चिह्न स्तूप था। "बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष स्तूपों के नीचे रखे जाते थे। अतः स्तूप भी पूजा का एक प्रमुख चिन्ह हो गया। इसी प्रकार बुद्ध की उष्णीष (पगड़ी), भिक्षापात्र आदि का पूजन भी सांकेतिक चिन्हों के अन्तर्गत था।"[1]

बुद्ध मूर्ति की पूजा के प्रचलन के पूर्व बौद्ध मतानुयायी उन स्तूपों की ही पूजा करते थे जिनमें बुद्ध एवं उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष होते थे। इन पूजित स्तूपों को चैत्य कहते हैं। अशोक काल में कुछ चैत्य पहाड़ काटकर बनाये

---

१. डा० नलिनाक्षदत्त तथा श्रीकृष्ण वाजपेयी : **उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास** (१९५६), पृ० २७६-२७७।

गये, कुछ ईंटों के बने थे। भारतीय चैत्य कक्ष का रूप ईसाइयों के गिरिजाघर से कुछ मिलता-जुलता है।

डा० नलिनाक्ष और प्रो० श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी का मत है कि हीनयानी (थेरवादी) बौद्ध प्रतीकों या स्मारकों की पूजा में ही विश्वास करते थे जबकि महायानी मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण के पक्ष में थे। अशोक-काल में हीनयान का अधिक जोर था। सांची भारहुत और बोध गया की प्रारम्भिक कला कृतियों में उपरोक्त चिन्हों का ही पूजन मिलता है। शुंगकाल में भक्तिधारा के प्राबल्य एवं हिन्दू देवताओं तथा जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियों के निर्माण का बौद्धों पर भी प्रभाव पड़ा तथा कुषाण शासक कनिष्क ने भी बुद्ध प्रतिमाओं के निर्माण को प्रोत्साहन दिया।

श्री रायकृष्णदास ने बुद्ध प्रतिमा के विकास की चर्चा करते हुए अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है—"शुंगकाल तक बुद्ध-प्रतिमा न मिलने का कारण यह है कि सभी युग-पुरुषों की भाँति बुद्ध भी नहीं चाहते थे कि उनकी प्रतिकृति बनाई जाय। अतएव उन्होंने अपने शिष्यों को केवल बेल-बूटे चित्रित करने की आज्ञा दी थी। किन्तु उस आज्ञा का पालन केवल इस हद तक किया गया कि सब कुछ बनाकर उनकी आकृति मात्र छोड़ दी गई। परन्तु जनता का इससे संतोष कहाँ होने वाला था। उसके लिए बुद्ध सब कुछ थे, उनकी शिक्षा गौण थी। संसार के प्रत्येक धर्म में एक ऐसा युग आता है जब जनता में इस मनोवृत्ति का विकास होता है। जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं उस समय ब्राह्मण एवं जैन सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा पहले से चली आ रही थी। एक ओर तो यह मूर्तिपूजा का वातावरण, दूसरी ओर उक्त सम्प्रदायों के पूज्य कृष्ण, ऋषभ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि भी बुद्ध के समान महापुरुष थे। जब उनकी प्रतिमाएँ—आराध्यदेव के रूप में—पुज रही थीं तो बौद्ध जनता इसे कब तक सहन करती कि उसी के महापुरुष की प्रतिमा न हो"। कुषाण काल की बुद्ध या बोधिसत्व प्रतिमाएँ खड़े रूप में या पद्मासन पर बैठी हुई मिलती हैं किन्तु गुप्तकालीन मूर्तियाँ केवल खड़े रूप में मिलती हैं।

बुद्ध तथा बोधिसत्व—प्रो० श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाओं के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "ज्ञान-या संबोधि प्राप्त होने के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्व' थी। उसके बाद वे 'बुद्ध' प्रसिद्ध हुए। इन दोनों रूपों का चित्रण मथुरा कला में मिलता है। दोनों में अन्तर यह है कि बोधिसत्व को मुकुट आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राजवेश में दिखाया जाता है और बुद्ध को इन अलंकारों से रहित, केवल वस्त्र (चीवर) धारण किये हुए। बुद्ध के सिर पर बालों का जटा-जूट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व का सूचक है।"[1]

---

१. **युग युगों में उत्तर प्रदेश**, पृ० १३।

भारत में सर्वप्रथम बुद्ध मूर्ति के निर्माण का स्थान निर्धारित करने में विद्वानों के दो वर्ग हैं। फूशे, विन्सेंट स्मिथ तथा जॉन मार्शल का मत है कि गांधार शैली, जो पूर्णतया ग्रीककला की उपज है, बुद्ध-मूर्ति की जन्मदात्री है। इनके विरुद्ध डा० कुमार स्वामी, हेवेल, जायसवाल आदि का मत है कि बुद्ध-मूर्ति का सर्वप्रथम निर्माण मथुरा कला में प्रारम्भ हुआ और पद्मासन में बैठी योगी रूप में बुद्ध की मूर्ति, जिसका निर्माण गन्धार शैली में हुआ है, भारतीय कल्पना है। कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तिकला पर शुंगकालीन भारहुत और सांची की मूर्तिकला का व्यापक प्रभाव है। पद्मासन स्थित बुद्ध एवं बोधिसत्व की प्रतिमाएँ स्पष्ट ही भारतीय परम्परा में हैं। मथुरा और गान्धार शैली में आदान-प्रदान सम्भव है किन्तु मथुरा शैली को गान्धार शैली की परम्परा में विकसित मानना उचित नहीं है।

बुद्ध प्रतिमाओं की विभिन्न मुद्राएँ—भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ प्रायः कई मुद्राओं में देखी जाती हैं। उनमें (१) अभय मुद्रा, जिसमें दाहिना हाथ ऊपर रहता है, (२) ध्यान मुद्रा, जिसमें गोद में खुली हथेली के ऊपर खुली हथेली रहती है, (३) भूमि स्पर्श मुद्रा जिसमें दायें हाथ से भगवान् बुद्ध पृथ्वी को छूते दिखाई पड़ते हैं (४) व्याख्यान मुद्रा, जिसमें दोनों हाथ छाती के पास आ जाते हैं, (५) वरद मुद्रा, जिसमें दाहिनी हथेली नीचे की ओर आगे को रहती है, मुख्य हैं। भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिम सीमा पर पेशावर से लेकर अफगानिस्तान का प्रदेश गान्धार एवं कपिशा के नाम से प्रसिद्ध था। गान्धार की राजधानी पेशावर या पुष्पपुर थी। सम्राट कनिष्क ने अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में आगिशन नामक ग्रीक शिल्पी से अनुपम कलापूर्ण काष्ठ स्तम्भ बनवाया था। उसने कनिष्कपुर (कानिसपोर) में एक भव्य नया नगर बसाया था। उसने अनेक बौद्ध-विहारों का भी निर्माण किया। वह बहुत धर्मात्मा था। बाहर से आने वाले शक राजाओं के समय में गान्धार का महत्व स्वभावतया बढ़ गया था। इसी प्रदेश में सिकन्दर के बाद में यूनानियों का भी राज्य

पद्मासन लगाये हुए भूमि स्पर्श मुद्रा में भगवान बुद्ध की मूर्ति

रहा था जिसके कारण बहुत से यूनानी यहाँ बस गये थे जो भारतीय धर्म और कला से प्रभावित होते हुए भी (बहुत से यूनानियों ने हिन्दू धर्म को तथा नामों को अपनाया था, वेसनगर के लेख से ज्ञात होता है कि यवन राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्म स्वीकार किया था) अपने देश के धर्म और कला से प्रेम बनाये हुए थे। यहीं पर एक कला का जन्म हुआ जिसको गान्धार कला कहते हैं। उसमें यूनानी आकृति की शुद्धता और भारतीय भाव व्यंजना का मिश्रण था, किन्तु फिर भी उनमें बहिर्मुखता का आधिक्य है। इसलिए यह मथुरा कला से भिन्न है। इसमें योग की अन्तर्मुखी ध्यान की भावना का अभाव है।

अमरावती शैली—कुषाण युग में भी सुदूर कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच आन्ध्र देश में बौद्ध कला की बहुत उन्नति हुई। इनमें अमरावती स्तम्भ के संगमर्मर के शिलाखण्ड प्राप्त हुए हैं। यहाँ बुद्ध भगवान् की ६ फीट की ऊँची खड़ी मूर्तियाँ अपनी शान्ति और गम्भीरता में अद्वितीय हैं। अमरावती का स्तूप और उसकी वेष्ठनियाँ संगमरमर की हैं।

अमरावती शैली की अपनी एक मौलिक विशेषता है। यद्यपि इस शैली की मूर्तियां बौद्ध धर्म से सम्बद्ध हैं, जिसमें शान्ति और गंभीरता को अधिक महत्व दिया जाता है तथापि वे जीवन की तीव्र गति, गम्भीर प्राणशक्ति और ओजपूर्ण क्रिया-कलाप को व्यक्त करती हैं। कुछ मूर्तियों का उद्दाम भावावेश उन्माद की सीमा तक पहुँचता हुआ प्रतीत होता है। एक दृश्य में देवताओं की मंडली बुद्ध के कमण्डलु को स्वर्ग ले जाती हुई हर्षोन्माद से मस्त है।

अमरावती शैली की समीक्षा करते हुए रायकृष्णदास ने लिखा है "अमरावती की कला भक्तिभाव से भरी हुई है, जहाँ बुद्ध के चरण-चिन्ह के सामने उपासिकाएं नत हो रही हैं, वह देखते ही बनता है। कहीं-कहीं हास्यरस के दृश्य भी हैं और आलंकारिकता तो सर्वत्र विद्यमान है। तरहदारी की दृष्टि से यहाँ की कला अपने सभी अंग-प्रत्यंग में बड़ी ही आकर्षक है। यहाँ कुछ बुद्ध मूर्तियाँ भी हैं जो बहुत ही गंभीर और उदासीन तथा विराग-भावपूर्ण हैं। ये खड़ी मूर्तियाँ छः छः फीट से भी अधिक ऊँची हैं। इसी काल की सिंहल की बुद्ध मूर्तियाँ इनसे बहुत मिलती-जुलती हैं।" इस प्रकार अमरावती की कला में शक्ति, स्फूर्ति और भावों का मार्मिक चित्रण है तो परवर्ती गुप्तकालीन कला में गम्भीरता, संयम और दृढ़ता विशेष रूप से परिलक्षित होती है।

वास्तुकला एवं मूर्तिकला का केन्द्र : मथुरा की कला—मथुरा ई० पूर्व कई सौ वर्ष पहले से ही स्थापत्य और मूर्तिकला का केन्द्र बन चुका था। मथुरा जैन, बौद्ध तथा भागवत् धर्म का केन्द्र रहा है। कंकाली टीले से ई० पूर्व के जैन वास्तु एवं मूर्तिकला का स्पष्ट परिचय मिलता है। बौद्ध वास्तुकला के चिह्न काल के प्रवाह में नष्ट हो गये। जब चौथी शती में चीनी यात्री फाह्यान मथुरा आया तब उसने यमुना

नदी के दोनों किनारों पर बीस बौद्ध बिहारों तथा छः बड़े बौद्ध स्तूपों को देखा। मथुरा से प्राप्त शिलालेखों से अब तक अनेक बौद्ध विहारों का पता चला है, यथा हुविष्क विहार, चेतीय विहार, मिहिर विहार, खण्ड विहार आदि। इन विहारों में से एक भी इस समय नहीं बचा। इनका सर्वाधिक निर्माण कुषाणकाल में हुआ, ऐसा अभिलेखों से ज्ञात हुआ। सम्राट अशोक, कनिष्क तथा अन्य शक-कुषाण शासकों द्वारा मथुरा नगर तथा उसके आस-पास कितने ही स्तूपों तथा विहारों का निर्माण किया गया। इनके निर्माण में ईंटों और पत्थरों का प्रयोग होता था। इनका स्वरूप साँची, सारनाथ आदि स्थानों के बौद्ध विहारों जैसा रहा होगा।

हिन्दू-मन्दिर—मन्दिर का निर्माण स्तूप और चैत्यों से भिन्न रूप में हुआ। ये देवताओं के निवास-स्थान माने जाते हैं और 'देवालय' कहलाते हैं। इनकी रचना शैली स्तूप से पृथक् थी। शिखर शैली होना मन्दिर का निजस्व है जो सुमेरु, त्रिकूट, कैलाश आदि पर्वतों से लिया हुआ प्रतीत होता है।

महाक्षत्रप शोडास का मन्दिर—मथुरा में जन तथा बौद्धों के चैत्य एवं स्तूपों का निर्माण विहारों के बनने से पहले प्रारम्भ हुआ। यहाँ हिन्दुओं के सबसे प्राचीन मन्दिर का निर्माण महाक्षत्रप शोडास द्वारा कराया गया। एक सिरदल पर उत्कीर्ण शिला-लेख से ज्ञात हुआ है कि वासुदेव-कृष्ण का चतुःशाला मन्दिर, तोरण तथा वेदिका का निर्माण वसु नामक व्यक्ति के द्वारा महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल में सम्पन्न हुआ। यह मन्दिर कृष्ण जन्म स्थान पर बनाया गया। अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की अनेक कुषाणकालीन मूर्तियाँ ब्रज में मिली हैं। संभव है उनमें से कुछ के मन्दिरों का निर्माण इस समय या इसके कुछ पहले प्रारम्भ हो गया हो।

गुप्तकाल—गुप्तकाल में मथुरा में हिन्दू मन्दिरों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। श्रीकृष्ण जन्म-स्थान पर परम भागवत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल में एक भव्य मन्दिर की रचना की गयी। चीनी यात्री ह्वेन-सांग ने अपने समय में मथुरा के अनेक हिन्दू मन्दिरों के अस्तित्व का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते थे। दुर्भाग्य से मथुरा में प्राचीन स्थापत्य का कोई ऐसा समूचा उदाहरण आज नहीं बचा, जिससे हम धार्मिक इमारतों, प्रासादों, साधारण मकानों आदि की निर्माण-शैली की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर सकते। ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने मथुरा के हिन्दू मन्दिरों का विनाश किया। उस समय मथुरा और उसके आस-पास अनेक बड़े मन्दिर थे।

मथुरा की मूर्ति-कला—ईसवी पूर्व दूसरी शती से लेकर प्रायः बारहवीं शती के अन्त तक मथुरा में हिन्दू देवताओं की प्रतिमाएँ बनाई जाती रहीं। गुप्तवंशी शासक भागवत धर्म के अनुयायी थे। इस धर्म ने सहिष्णुता और समन्वय की जो भावना फैलाई उसका प्रभाव तत्कालीन शिल्पकला पर भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है। भगवत् धर्म सम्बन्धी मूर्तियों के साथ-साथ शैव मूर्तियाँ भी मथुरा के अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। कंकाली टीले से जैन धर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ कुषाण काल के आरम्भ

से लेकर गुप्त काल के अन्त तक मिलती हैं। हिन्दू मूर्ति कला की दृष्टि से मथुरा का स्थान बहुत ऊँचा है। यहीं सर्वप्रथम अनेक देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। मथुरा में बनी हिन्दू मूर्तियों में ब्रह्मा, शिव, कृष्ण-बलराम, स्वामि कार्तिक, गणेश, इन्द्र, अग्नि, नवग्रह, सूर्य, कामदेव, हनुमान, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, महिषमर्दिनी, सिंहवाहिनी दुर्गा, सप्तमातृका, गंगा-यमुना की अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त मातृ देवी की मौर्य तथा शुङ्गकालीन मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः हाथ की बनी हुई हैं, साँचे द्वारा निर्मित नहीं। लक्ष्मी, सिंहवाहिनी, महिष-मर्दिनी, वसुधारा आदि देवियों की मिट्टी की मूर्तियाँ भी मिली हैं।

मथुरा की हिन्दू मूर्तियों में भी बौद्ध मूर्तियों की तरह ही छायामण्डल तथा अभयमुद्रा दिखाये गये हैं। मथुरा से भगवान् कृष्ण की मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं। उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सबसे प्राचीन मूर्ति ईसवी दूसरी शताब्दी की है। इस शिलापट्ट पर नवजात शिशु कृष्ण को एक सूप में रखकर वसुदेव गोकुल जाने के लिए यमुना पार करते हुए दिखाये गये हैं। यमुना नदी का बोध धारीदार लकीरों तथा जल-जन्तुओं के द्वारा बड़ी सुन्दरता के साथ कराया गया है। ईसवी ६०० के लगभग की गोवर्द्धनधारी कृष्ण की मूर्ति मिली है। एक गुप्तकालीन मूर्ति कालियदमन प्रसंग से सम्बन्धित है।

कुषाणकालीन शिव की मूर्ति मथुरा से मिली है। कुषाण तथा गुप्तकाल के कई सुन्दर शिवलिंग यहाँ प्राप्त हुए हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वह है जिसमें खड़े हुए चतुर्भुजी शिव को दिखाया है। गुप्तकालीन एकमुखी लिंग तथा पंचमुखी शिवलिंग के अच्छे उदाहरण हैं। गुप्तकाल की अर्धनारीश्वर की मूर्तियाँ भी मिली हैं। कई मूर्तियाँ हरिहर की प्राप्त हुई हैं।

विष्णु की कुषाणकालीन कई मूर्तियाँ ऐसी मिली हैं जैसी भारत में अन्यत्र प्राप्त नहीं होतीं। इनमें चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति की निर्माण शैली प्रारम्भिक कुषाण-कालीन बोधिसत्व प्रतिमाओं से बहुत मिलती है। विष्णु का एक हाथ अभयमुद्रा में है और दूसरे में वे अमृतघट लिये हैं। शेष दो हाथों में गदा तथा चक्र हैं। परवर्ती मूर्तियों में शंख और पद्म भी मिलते हैं। विष्णु की कुषाणकालीन दो अष्टभुजी मूर्तियाँ भी मथुरा-कला में मिली हैं, जो मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं।

गुप्तकाल की विष्णु की मूर्ति में चतुर्भुजी विष्णु को ध्यान मुद्रा में दिखाया गया है। उनके सिर पर अलंकृत किरीट मुकुट है। वे कुण्डल, मुक्ताहार, भुजबन्ध तथा वैजयन्ती भी धारण किये हैं। उनके लहरदार कपड़े बड़े रोचक ढंग से प्रदर्शित किये गये हैं। यह मूर्ति गुप्तकालीन कला का उत्कृष्ट उदाहरण है, मूर्ति के ऊपर एक छत्र है, जो पूर्ण विकसित कमलों तथा पत्र-रचना से अलंकृत है। नृसिंह-वराह-विष्णु की मूर्ति महाविष्णु की मूर्ति कहलाती है। इसमें बीच में भगवान् विष्णु का मुख है तथा अगल-बगल नृसिंह तथा वराह अवतारों के मुख हैं। मथुरा कला में मिट्टी की भी कई सुन्दर विष्णु-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

बलराम जी की शुंगकालीन मूर्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक मिली हैं, इनमें वे हल और मूसल धारण किये हुए दिखाये गये हैं। गुप्तकालीन बलराम हल, मूसल और वारुणीपात्र लिये हुए अंकित हैं।

स्वामी कार्तिकेय की ८६ ई० की मूर्ति मिली है। उनकी एक गुप्तकालीन मृण्मूर्ति भी मिली है। मथुरा कला में कुषाण तथा गुप्तकालीन इन्द्र मूर्तियाँ भी मिली हैं। इनमें इन्द्र वज्र तथा मुकुट धारण किये हुए है। अभय मुद्रा वाली इन्द्र की मूर्ति में उसका वाहन ऐरावत भी है। मथुरा से कुषाणकालीन अग्नि देवता की मूर्ति भी मिली है। इसमें उनके सिर के ऊपर से ज्वालाएँ निकल रही हैं। कंकाली टीला से अग्नि की एक गुप्तकालीन मूर्ति मिली है, जो लखनऊ संग्रहालय में है। मथुरा कला में सूर्य देवता को शकराजाओं की वेशभूषा में दिखाया है। एक अन्य मूर्ति में उन्हें दो घोड़ों के रथ पर एक हाथ में कटार तथा दूसरे में कमल का गुच्छा लिए हुए दिखाया है।[1]

देवताओं के साथ ही या अलग उनकी शक्तिरूपा देवियों की प्रतिमाओं का भी निर्माण मथुरा की मूर्तिकला में पाया जाता है। लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, दुर्गा आदि की अनेक कलात्मक मूर्तियाँ मिली हैं।

बौद्ध मूर्तियाँ—कुषाणकाल के पूर्व भगवान बुद्ध के चिन्हों की पूजा होती थी, बुद्ध की मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। कुषाणकाल के पूर्व सांची, भारहुत, बोधगया, सारनाथ आदि स्थानों से प्राप्त कलाकृतियों पर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, भिक्षापात्र का ही पूजन दिखाया गया है। बौद्ध धर्मानुयायियों ने जैन तथा हिन्दू मूर्तियों के अनुकरण पर बौद्ध मूर्तियों का निर्माण किया। कुषाणकाल में मथुरा के शिल्पियों द्वारा भगवान बुद्ध की मूर्ति का निर्माण हुआ। इधर गांधार प्रदेश में भी बौद्ध मूर्तियाँ बड़ी संख्या में बनायी जाने लगीं। मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की प्रारम्भिक प्रतिमाएँ प्रायः विशालकाय मिली हैं, जैसी कि यक्ष मूर्तियाँ मिलती हैं। कला के विकास के साथ ही मूर्तियाँ अधिक सुन्दर बनने लगती हैं। मथुरा में गुप्तकाल में निर्मित बुद्ध की कुछ प्रतिमाओं में बाह्य सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिक गांभीर्य का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

बुद्ध तथा बोधिसत्व मूर्तियाँ—ज्ञान या सम्बोधि प्राप्त होने के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्व' थी और उसके बाद 'बुद्ध'। इन दोनों की मूर्तियों में अन्तर यह है कि 'बोधिसत्व' को मुकुट आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राजवेश में दिखाया जाता है, पर बुद्ध को इनसे रहित केवल चीवर (वस्त्र) धारण किये हुए। बुद्ध के सिर पर बालों का जटाजूट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व या ज्ञान सम्पन्न होने का सूचक है। दोनों प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा में या तो खड़ी मिलती

---

१. डा० श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा, पृ० ३०।

हैं या पद्मासन में बैठी हुई। पद्मासन में बैठी हुई मूर्तियाँ प्रायः कुषाणकाल में मिलती हैं, गुप्तकाल की मूर्तियाँ अधिकांश खड़ी मिलती हैं।

मुद्राएँ—बोधिसत्व तथा बुद्ध प्रतिमाएँ हाथों के द्वारा अनेक भावों को व्यक्त करती पायी जाती हैं। उन भाव विशेषों को 'मुद्रा' कहते हैं। मथुरा-कला में निम्नलिखित चार मुद्राएँ मिलती हैं—

(१) **ध्यान मुद्रा**—इसमें बोधिसत्व या बुद्ध पद्मासन में बैठे हुए तथा बायें हाथ के ऊपर दायाँ हाथ रखे हुए दिखाये जाते हैं।

(२) **अभय मुद्रा**—इसमें वे दायें हाथ को उठाकर उसे कंधे की ओर मोड़ कर श्रोताओं या दर्शकों को अभय प्रदान करते हुए दिखाये जाते हैं।

(३) **भूमिस्पर्श मुद्रा**—इसमें ध्यानावस्थित बुद्ध दायें हाथ से भूमि को छूते हुए प्रदर्शित किये जाते हैं। जब बोध गया में उनके तप को नष्ट करने का प्रयत्न कामदेव द्वारा किया गया, तब उन्होंने इस बात की साक्षी देने के लिए उनके मन में कोई भी काम विकार नहीं, पृथिवी का स्पर्श कर उसका आह्वान किया था, जिसे उक्त मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

(४) **धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा**—इसमें भगवान् बायें हाथ की उंगलियों के ऊपर दायें हाथ की उंगलियों को इस प्रकार रखते हैं, मानों वे चक्र घुमा रहे हों। यह दृश्य सारनाथ में उनके द्वारा धर्म के सर्वप्रथम उपदेश को सूचित करता है। यहीं से उन्होंने संसार में एक नये धर्म का प्रवर्तन किया।

इनके अतिरिक्त एक 'वरद मुद्रा' भी है, जो मथुरा कला में नहीं मिलती। यह मुद्रा सारनाथ कला में मिलती है। इसमें भगवान् का दायाँ हाथ हथेली को इस प्रकार सामने किये नीचे लटकता है, मानो वे वरदान दे रहे हों।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ—मथुरा कला में बुद्ध के पूर्वजन्मों की घटनायें भी अनेक शिलापट्टों पर चित्रित मिलती हैं, जिन्हें 'जातक' कहते हैं। बुद्ध के वर्तमान जीवन की मुख्य घटनायें—जन्म, ज्ञान-प्राप्ति, धर्म-चक्र प्रवर्तन, स्वर्गावतरण, परि-निर्वाण आदि भी मथुरा कला में अंकित मिलती हैं।

वेदिका स्तम्भों की प्रतिमाएँ—स्तूपों की वेदिकाओं के स्तम्भों पर विविध मनोरंजक चित्रण मिलते हैं, यथा मुक्ता ग्रथित केश-पाश, कर्ण-कुण्डल, मौलिक एका-वली, गुच्छक हार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि धारण किये हुए स्त्रियों को विविध आकर्षक मुद्राओं में दिखाया गया है। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कंदुक क्रीड़ा में लग्न है, कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है, या निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरान्त तन ढक रही है। किसी के हाथ में वीणा और किसी के वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे हंस उन पानी की बूंदों को मोती समझकर अपनी चोंच खोले खड़ा है।

किसी स्तम्भ पर वेणी प्रसाधन का दृश्य है, किसी पर संगीतोत्सव का और किसी पर मधुपान का। इस प्रकार लोक-जीवन के कितने ही दृश्य इन स्तम्भों पर चित्रित हैं। कुछ पर जातक कथायें और कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य तथा कुछ पर अनेक प्रकार के पशुपक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण किये गये हैं। इन वेदिका स्तम्भों को शृंगार और सौन्दर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिन पर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव जगत् की सौन्दर्य राशि उपस्थित कर दी है।

यक्ष, किन्नर और गन्धर्व आदि—मथुराकला में यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुवर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख, समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। यक्षों की प्रतिमायें मथुरा कला में सबसे अधिक मिली हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'परखम' नामक गाँव से प्राप्त तृतीय शताब्दी ई० पू० की विशालकाय यक्ष मूर्ति है। ऐसी एक दूसरी बड़ी मूर्ति मथुरा के बड़ौदा गाँव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ काटकर बनाई गई हैं, जिससे उनका दर्शन चारों ओर से हो सके। कुषाण काल में ऐसी ही मूर्तियों के समान विशालकाय बोधिसत्व प्रतिमाएँ निर्मित की गयीं। मथुरा में यक्षाधिपति धन के देवता की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू इन तीनों धर्मों में इनका पूजन मिलता है। वे जीवन के आनन्दमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिली हैं। ये सुरापान करते हुए चित्रित किये गये हैं। यक्ष-पत्नी हारीती की मूर्ति ई० तीसरी शती की है। यह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गयी है और मथुरा कला में उसका चित्रण प्रायः बच्चों को गोद में लिये हुए मिलता है। मथुरा कला में यक्षियों का चित्रण बहुत मिलता है। इनके अतिरिक्त पूज्य प्रतिमाओं के साथ या विविध अलंकरणों के रूप में किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण, विद्याधर आदि भी मिलते हैं।

नाग—यक्षों की भाँति नाग मूर्तियाँ भी मथुरा कला में बहुत बनी हैं। बलराम शेषनाग के अवतार हैं। विष्णु की शय्या भी अनन्त नागों की बनायी गयी है। जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न नाग हैं। नागों की मूर्तियाँ पुरुषाकार तथा सर्पाकार दोनों रूपों में मिलती हैं। कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुन्दर नाग मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। नाग की सबसे विशाल मूर्ति पौने आठ फुट ऊँची है। यह मथुरा के छड़गाँव से प्राप्त हुई थी। इसमें नाग की कुण्डलियाँ बड़े ओजपूर्ण तथा ऐंडदार ढंग से दिखायी गयी हैं। बलदेव में दाऊजी की प्रसिद्ध विशालकाय मूर्ति भी कुषाणकाल की उल्लेखनीय कृतियों में हैं।

शक-कुषाण राजाओं की प्रतिमाएँ—मथुरा में मांट नामक स्थान में कुषाण राजाओं के देवकुल से इनकी प्रतिमाएँ मिली हैं। इनमें विम, कनिष्क तथा चष्टन की मूर्तियाँ प्रमुख हैं। मथुरा में एक शक महिषी की गांधार कला की मूर्ति भी मिली है।

प्राणदण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस वा मध्यम साहस का अर्थ दण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युता करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार व सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में न कोई अधिवासी जीवहिंसा करता है न कुछ पीता है और न लहसुन प्याज खाता है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते तथा मांस बेचते हैं।" यही कारण है कि फाहियान ने देश के विभिन्न भागों में यात्राएँ की थीं लेकिन कहीं भी किसी डाकू या चोर के दर्शन उसने नहीं किये।

राजा जनहित के कार्यों में दिन-प्रतिदिन व्यस्त रहता था। निर्धन व्यक्तियों को अन्न प्रदान करता, जनता की सेवार्थ निःशुल्क औषधालय खुलवाता था।

गुप्तयुग की आर्थिक समृद्धि—फाह्यान के वर्णन से पता चलता है कि गुप्त-युग में जन-जीवन धन-धान्य से पूर्ण था। जन-जीवन का नैतिक स्तर अत्यन्त ऊँचा था। चोर डाकुओं का अभाव था, अपराधों की संख्या कम हो गई थी। सम्भवतः कालिदास ने गुप्त-शासकों की सुख शान्ति एवं श्रेष्ठ व्यवस्था को देखकर लिखा था—

यास्मिन महीं शासित वर्णिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्र सयवंशुकानि, कोलम्बयेवाहरणाय हस्तम्॥

स्वदेश, स्वभाषा एवं स्वधर्म की प्रतिष्ठापना—"गुप्त सम्राटों ने आर्य संस्कृति का संरक्षण एवं पोषण किया। उन्हें आर्य जाति की श्रेष्ठता का अभिमान था। उन्होंने स्वदेश, स्वभाषा एवं स्वधर्म का उत्थान करने का भरसक प्रयत्न किया। स्वदेश अर्थात् भारतवर्ष को विदेशी तत्वों से मुक्त किया; स्वभाषा अर्थात् संस्कृत को पुनः प्रतिष्ठित किया तथा स्वधर्म अर्थात् वैदिक धर्म को, ब्राह्मण धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया और अश्वमेध यज्ञ किया। इस प्रकार वे आर्य संस्कृति के महान् प्रतिष्ठापक एवं उद्धारक सिद्ध हुए।

कलाएँ—गुप्तकाल भारतीय कला का स्वर्णयुग है। इसमें कला अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची है। इस काल में कुषाणकाल की शारीरिकता को छोड़कर कला आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हुई और अलंकरणों को कम कर भावाभिव्यक्ति के सौन्दर्य की ओर उठी। गुप्तकाल में **मथुरा** और **सारनाथ** जैसे दोनों ही केन्द्रों ने उन्नति की। सारनाथ में भवन भी बने और मूर्तियाँ भी गढ़ी गईं। बुद्ध की मूर्तियों की निर्माणकला की परम्परा और भी आगे बढ़ी। इसमें एक ओर योगियों जैसी ध्यान में अन्तर्लीन ध्यानाकृति पाई जाती है और दूसरी ओर बाह्य सौन्दर्य की भी पराकाष्ठा है।

मूर्तिकला—मथुरा संग्रहालय में ७ फीट २½ इंच लम्बी बुद्ध भगवान् की खड़ी मूर्ति इस समय की कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इस काल की मूर्तियों के पीछे प्रभामण्डल भी दिखाई देता है।

मथुरा शैली—ग्रीक प्रभावापन्न मूर्तिकला की मथुरा शैली कुषाण साम्राज्य के पतन-काल तक वर्तमान रही। इसके बाद गुप्तों ने इसका पुनरुत्थान तथा पूर्णतया भारतीयकरण किया और गुप्त-काल में इस शैली का अच्छा विकास हुआ। गुप्तकाल में मूर्ति निर्माण कला के तीन प्रमुख केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र।

यद्यपि गुप्त सम्राट परम भागवत थे फिर भी वे बौद्ध और जैन धर्म के प्रति सहिष्णु थे। उस युग की अनेक जैन मूर्तियाँ एवं अवशेष उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। मथुरा से सन् ३७६, ४१३, ४३१ ई० की कई लेखाङ्कित जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। जैन परम्परा में यक्ष, यक्षणियों, शासन देवियों आदि का विशेष निर्माण हुआ। इस काल में वैष्णव और शैव मूर्तियाँ भी एक से एक सुन्दर रची गईं। इस काल में पकाई हुई मिट्टी की मूर्तियों की निर्माण कला में और भी उन्नति हुई। गुफा मन्दिर तो इस समय की विशेषताओं में से हैं। वैसे भी मन्दिर बने। झाँसी जिले में देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में शिव-पार्वती की बड़ी सुन्दर मूर्ति है।

प्रभामण्डल युक्त भगवान बुद्ध की मूर्ति
मथुरा म्युजियम से

सारनाथ मूर्ति केन्द्र—गुप्तकाल में सारनाथ की मूर्तिकला की विशिष्टता की समीक्षा करते हुए विद्वद्द्वय ने लिखा है—"इस काल की जो अनेक मूर्तियाँ सारनाथ में मिली हैं उनमें कलाकारों की वही विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं जो मथुरा-कला में हैं। पद्मासन में बैठे हुए धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में भगवान बुद्ध की जो मूर्ति सारनाथ में मिली है (संख्या बी-(बी) १८१), वह भारतीय कला की इनी-गिनी उत्कृष्ट प्रतिमाओं में है। अर्धोन्मीलित-नेत्रयुक्त भगवान बुद्ध की इस मूर्ति को देखकर कलाकार की शतमुख से सराहना करनी पड़ती है। मूर्ति के पीछे कलापूर्ण प्रभामंडल है। चौकी पर वे भिक्षु बने हैं जिन्हें सारनाथ में बुद्ध ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था। दाहिनी ओर शिशु सहित एक स्त्री की भी मूर्ति है। सम्भवतः उसी स्त्री

के द्वारा यह मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी। चौकी के बीच में धर्मचक्र की पूजा है। गुप्तकाल की अन्य अनेक मूर्तियाँ सारनाथ में मिली हैं, जिनमें बुद्ध को विभिन्न मुद्राओं में दिखाया गया है।"[1]

अहिच्छत्रा की आदमकद मृण्मूर्तियाँ—अहिच्छत्रानगर के अवशेष वर्तमान बरेली जिले में रामनगर नामक गाँव के समीप टीलों के रूप में बिखरे पड़े हैं। वैदिक साहित्य में इस नगर का प्राचीन नाम परिचक्रा मिलता है। यह क्षेत्र प्राचीनकाल में उत्तर पंचाल महाजनपद की राजधानी था। इस स्थान पर एक विशाल मन्दिर है जिसके चारों ओर जल की खाई है। अन्दर की ओर चहारदीवारी है, उसकी प्रत्येक भुजा के मध्य में द्वार-द्वार तक खाई के ऊपर से पुल बना है। चारों द्वारों से चौड़ी सड़कें मध्य केन्द्र की ओर गई हैं। यहाँ गुप्तकाल की आदमकद मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। गुप्तकाल की कुछ बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाएँ यहाँ मिली हैं। यहाँ कुषाण-कालीन मथुरा शैली की बुद्ध प्रतिमाएँ भी मिली हैं।

गुप्तकाल में अहिच्छत्रा एक प्रतिष्ठित कला-केन्द्र रहा है। यहाँ बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं। इस काल की अहिच्छत्रा की पाषाण प्रतिमाओं को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ के कलाकार अंग-विन्यास और भावाभिव्यक्ति में अत्यन्त निपुण थे। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू धर्म सम्बन्धी अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ उत्खनन में तथा सतह से मिली हैं। बुद्ध और बोधिसत्व की कुछ प्रतिमाओं के अतिरिक्त बुद्ध के जीवन-दृश्यों से अंकित शिलापट्ट भी मिले हैं। एक शिलापट्ट पर बुद्ध का जन्म, तपस्या, धर्मचक्र प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण बड़े प्रभावोत्पादक ढङ्ग से उकेरे गये हैं। अहिच्छत्रा में प्राप्त जैन तीर्थङ्करों तथा हिन्दू देवी-देवताओं (सूर्य, विष्णु, गणेश तथा महिष-मर्दिनी) की मूर्तियाँ गुप्तकाल की कला की प्रतीक हैं।

कुशीनगर की बुद्ध प्रतिमा तथा मृण्मूर्तियाँ—कुशीनगर वर्तमान देवरिया जिले में कसिया नगर के समीप स्थित बौद्ध तीर्थ है। यहीं भगवान बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। यहाँ खुदाई में गुप्तकाल के कई विहार एवं मन्दिर प्रकाश में आये हैं। यहाँ भगवान बुद्ध की लेटी हुई विशाल प्रतिमा प्राप्त हुई है। कुशीनगर के समीप ही गया के काले पत्थर की बनी मध्यकाल की बुद्ध की साढ़े दस फीट ऊँची प्रतिमा भी मिली है जिसकी चौकी पर ब्राह्मी में एक लेख है। यहाँ गुप्तकाल की कुछ बड़ी मृण्मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। कुशीनगर (कसिया) से मिट्टी की बहुत-सी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें कुछ मुद्राएँ कुशीनगर के दो प्रमुख संघारामों की हैं, कुछ एरण, विष्णुद्वीप आदि विहारों की। इन मुद्राओं पर विभिन्न प्रकार की बुद्ध-आकृतियाँ एवं लेख अंकित हैं।

कौशाम्बी-शिल्प कला की समृद्धि का केन्द्र—मृण्मूर्तियों का भंडार—प्रयाग से ३७ मील पश्चिम-दक्षिण यमुना के उत्तरी तट पर आजकल 'कोसम' नामक ग्रामस्थल

---

१. **उत्तर प्रदेश में बुद्ध धर्म का विकास**—ले० डॉ० नलिनाक्षदत्त तथा प्रो० श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, प्र० सं०, पृ० २८९-९०।

ही भारत की प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी कौशाम्बी का क्षेत्र है। चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा के वंशज कुशाम्बु द्वारा निर्मित होने से यह कौशाम्बी कहलाया। भगवान बुद्ध कई बार कौशम्बी पधारे और निवास किया। यहाँ अशोक ने एक स्तम्भ लेख लगवाया। शुङ्गकाल में कौशाम्बी की बहुत उन्नति हुई। शुङ्गों के बाद मघवंशीय स्थानीय शासकों का राज्य कौशाम्बी में स्थापित हुआ, इसके बाद गुप्तकाल में इस नगरी की विशेष उन्नति हुई। कौशाम्बी में गुप्तकाल की हजारों मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ प्राप्त हुई कलापूर्ण मूर्तियों से कौशाम्बी की गुप्तकालीन शिल्प कला की समृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है।

श्रावस्ती—श्रावस्ती नामक सुप्रसिद्ध प्राचीन नगरी के ध्वंसावशेष वर्तमान गोंडा-बहराइच जिलों की सीमा पर '**सहेत-महेत**' नाम से बड़े विस्तार से बिखरे पड़े हैं। इस नगर का निर्माण 'श्रवस्त' नामक सूर्यवंशी राजा ने कराया तथा महात्मा बुद्ध और जैन तीर्थंकरों के कारण प्राचीनकाल में इस नगरी का विशेष महत्व हो गया। श्रावस्ती में भगवान बुद्ध कई बार आये। यहाँ के समृद्ध सेठ अनाथपिंडक ने जेत नामक राजकुमार से नगर के समीप जेतवन क्रय करके 'जेतवन विहार' का निर्माण और उसमें गन्ध कुटी तथा कोशंबकुटी का निर्माण कराया। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी श्रावस्ती की विस्तार से चर्चा की है। श्रावस्ती में जैन तीर्थंकर संभवनाथ जी तथा चन्द्रप्रभु स्वामी का जन्म हुआ, अतः यहाँ बहुत से जैन मन्दिर प्राचीन काल के मिले। यहाँ पत्थर तथा मिट्टी की गुप्तकाल की कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

गुप्तकाल की मृण्मूर्तियाँ : सिंहावलोकन—गुप्तकाल में हड़प्पा-मोहनजोदड़ो जैसी मिट्टी की प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ। श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी ने गुप्तकाल की मृण्मूर्तियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"गुप्तकाल में राजघाट, अहिच्छत्रा, पवाया, कसिया, भीतरगाँव और सूरतगढ़ (बीकानेर) में मिट्टी की अच्छी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। राजघाट से ऐसी प्रतिमाएँ बड़ी संख्या में मिली हैं। इनमें विविध आकर्षक केश-विन्यासों से सज्जित स्त्री-पुरुषों के सिर उल्लेखनीय हैं। इन मृण्मूर्तियों में सौष्ठव के साथ बहुत निखार है। मूर्तियों को पकाने के बाद लाल, पीले, हरे आदि रंगों से रंगा भी जाता था। ऐसी अनेक रंगी हुई मूर्तियाँ राजघाट से उपलब्ध हुई हैं। अहिच्छत्रा से गुप्तकाल की कुछ दुर्लभ कला-कृतियाँ मिली हैं। इनमें शिव-पार्वती के दो कलापूर्ण मस्तक उल्लेखनीय हैं। पार्वती का केश-प्रसाधन तथा मुख का भाव सराहनीय है। अहिच्छत्रा से विविध पुष्पालंकरणों से मण्डित अन्य कुछ सिर तथा महाभारत तथा पुराणों के कई उपाख्यान भी अलिखित मिले हैं। पवाया (प्राचीन पद्मावती) से भी गुप्तकालीन मनोहर वेश वाले स्त्री-पुरुषों की कई मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक पर यशोदा के साथ कृष्ण-बलराम की बाल-लीला दिखाई गई है। भीतरगाँव के गुप्तकालीन मन्दिर में अनेक कलापूर्ण दिलहे मिले हैं। इनमें से कुछ पर पौराणिक कथाएँ प्रदर्शित हैं। बीकानेर में सूरतगढ़ तथा उसके आस-पास से मिट्टी के कई सुन्दर कलावशेष मिले हैं। इनमें से कई पर कृष्णलीला

के चित्रण हैं । एक पर दानलीला का रोचक दृश्य है । एक अन्य प्रतिमा पर पार्वती के साथ शिव कैलाश पर्वत पर बैठे हुए दिखाये गये हैं । मथुरा से भी गुप्तकाल की कुछ बड़ी मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । एक पर रनिवास का मनोरंजक दृश्य है जिसमें एक सुन्दरी विदूषक[1] के गले में दुपट्टा डालकर खींच रही है । "इन कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि मिट्टी में कला का प्राण फूंकने वाले कलाकार पाषाण पर काम करने वाले अपने सहयोगियों से न्यून नहीं थे ?" डा० अल्टेकर का अभिमत है कि गुप्तकाल की मृण्मयी मूर्तियाँ उस युग की सच्ची कला-प्रवृत्ति से संयुक्त हैं । गुप्तयुग के कलाकारों ने कला के क्षेत्र में जिस उपादान को लिया उसे ही अलंकृत कर दिया ।[2]

इन मृण्मयी मूर्तियों को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) देवी-देवताओं की, (२) स्त्री-पुरुषों की, (३) पशु तथा अन्य वस्तुओं की । देवी-देवताओं की मूर्तियों में हिन्दू देवता विष्णु, कार्तिकेय, सूर्य, दुर्गा, गंगा, यमुना आदि की हैं । अहिच्छत्रा के ईंटों के मन्दिर से गंगा-यमुना की पूरे साइज की मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । कालिदास और बाण ने अपने काव्य में नारी सौन्दर्य के जो मनमोहक आदर्श प्रस्तुत किये उन्हें इन मूर्तिकारों ने साँचे में ढाल दिया, इसीलिए डा० अल्टेकर ने लिखा है—The terracotta figurines from the recent excavations at Rajghat and Ahichhatra present a feast of beauty to the eye, and the best female heads skillfully finished appear like lyrics expressed in clay.

रायकृष्णदास ने गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए लिखा है "उस काल में बड़ी-बड़ी मृण्मूर्तियाँ और पकाई मिट्टी के फलक भी बनते थे जिनका सौन्दर्य और सजीवता पत्थर वा धातुओं की मूर्तियों से भी इक्कीस है । पकाई मिट्टी की मुहरों की बड़ी अच्छी-अच्छी छाप भी गुप्तकाल की एक विशेषता है ।"

धातु का प्रयोग और मूर्तियाँ—गुप्तयुग में धातु के माध्यम से भी कला का विकास हुआ । सुलतानगंज में विशुद्ध ताँबे की भव्य बुद्ध प्रतिमा गुप्तयुग की है । यह प्रतिमा ७½ फीट ऊँची, एक टन से अधिक वजनी है । नालन्दा में भी ह्वेनसांग ने विशाल बुद्ध प्रतिमाएँ देखीं, जो धातु निर्मित थीं । इनके अतिरिक्त अन्य धातु-कला के नमूने अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं । चन्द्रगुप्त के लौह स्तम्भ की चर्चा अलग से की जा चुकी है ।

---

१. श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी के '**कला का इतिहास**' लेख से उद्धृत ।
2. It may be observed that much of the terracotta work of the Gupta period is imbued with the spirit of true art prevailing at the time. It can rightly claimed for the Gupta artist that he adorned whatever he touched.
३. भारतीय मूर्तिकला, द्वि० सं०, पृ० १०३ ।

गुप्तयुगीन मूर्तिकला का वैशिष्ट्य—गुप्तयुगीन मूर्तिकला की सबसे प्रमुख विशेषता उसमें आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति का प्राधान्य है। इसमें गान्धार कला की सी शारीरिक अभिव्यक्ति के स्थान पर आत्मिक तेज एवं भावों की प्रधानता है इसीलिए इन मूर्तियों में आध्यात्मिक सन्तुष्टि और मानसिक सन्तुलन अभिव्यक्त होता है। मूर्तिकार भी शरीर पर आत्मा की विजय के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर चलता है।

स्तम्भ—गुप्तकाल में मौर्यकाल की भाँति स्तम्भों का निर्माण हुआ किन्तु ये स्तम्भ गोल तथा चिकने न होकर कोणदार हैं। कोई स्तम्भ नीचे आधार में चार कोणों का है तो बीच में आठ कोणों का हो गया है। कई स्तम्भ नीचे चार कोणों के और बीच में गोल हैं। किसी-किसी स्तम्भ में ऊपर सिंह एवं गरुड़ की मूर्तियाँ हैं। एरण में भी गुप्त सम्राट बुद्धगुप्त के युग का एक ध्वजस्तम्भ है। कुमारगुप्त के समय का एक ध्वजस्तम्भ भिलसद में है। गाजीपुर के भिटरीगाँव में भगवान विष्णु की प्रतिमा प्रतिष्ठा के उपलक्ष में निर्मित एक प्रस्तर स्तम्भ मिला है।

कहाँव या काहोम का स्तम्भ—यह स्थान वर्तमान देवरिया जिले में सलेमपुर परगना से तीन मील दक्षिण-पश्चिम में है। इसका पुराना नाम ककुभ था। यहाँ गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त के युग का एक स्तम्भ मिला है जिसे भीमसेन का लाट कहते हैं, यह २४ फीट ऊँचा स्तम्भ भूरे पत्थर का बना है जिसके ऊपर चौकोर शीर्ष है, जिस पर जैनियों के ५ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनी हैं। इस स्तम्भ के ब्राह्मी-लिपि के लेखानुसार इसका निर्माण मद्र नामक व्यक्ति ने ४६० ई० में कराया।

मेहरौली लौहस्तम्भ या विष्णुपदगिरि का विष्णुध्वज—दिल्ली नगर के दक्षिण में कुतुबमीनार के निकट मेहरौली नामक स्थल में प्राचीनकाल का एक लौह स्तम्भ (कीली) है, जिसे अब 'दिल्ली की लाट' कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में यह निश्चित है कि यह स्तम्भ प्रारम्भ से ही वहाँ पर नहीं था, बल्कि इसे किसी अन्य स्थान से लाकर उस स्थल पर लगाया गया था। उस स्तम्भ पर संस्कृत भाषा के तीन श्लोकों की एक प्रशस्ति है। उससे ज्ञात होता है कि उसे किसी 'चन्द्र' राजा के देहावसान के पश्चात् 'विष्णुपद गिरि' पर स्थापित किया गया था और उस पर उस स्वर्गीय राजा की गौरव-गाथा अंकित की गई थी। इस प्रकार उस दिग्विजयी राजा की विजय और कीर्ति की स्मृति में स्थापित वह एक जय स्तम्भ था, जिसे 'विष्णु ध्वज' कहा गया है।[1]

सर्व श्री जायसवाल, दण्डेकर, मुखर्जी, मेहता, सरकार, चट्टोपाध्याय आदि विद्वानों के मतानुसार उक्त स्तम्भ में उल्लिखित राजा 'चन्द्र' गुप्तवंश का प्रतापी सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था।[2] उसके देहावसान के पश्चात् गुप्तवंश के किसी

१. **दिल्ली या इन्द्रप्रस्थ**, पृ० ७६।
२. समुद्रगुप्त : **मेहरौली-स्तम्भ-अभिलेख का नरेश**
[ना० प्र० स० काशी की पत्रिका वर्ष ६६, अंक ३, पृ० २७०]

राजा ने उसकी स्थापना की होगी। श्रीराम गोयल का मत है कि उक्त स्तम्भ पर गुप्त वंश के दिग्विजयी सम्राट समुद्रगुप्त की प्रशस्ति लिखी गई है। समुद्रगुप्त भी 'चन्द्र' अथवा 'चन्द्र प्रकाश' के नाम से प्रसिद्ध था।[१] इस मत को मानने पर उक्त स्तम्भ को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा स्थापित किये जाने की सम्भावना हो सकती है।

श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने बहुत पहिले ही लिखा था कि उक्त स्तम्भ को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्थापित किया था।[२] श्रीराम चौधरी का मत है कि चन्द्रगुप्त ने उस स्तम्भ को चौथी शताब्दी में सम्भवतः मथुरा में स्थापित किया था। वहाँ से अनंगपाल तोमर ने उसे मँगवाकर सं० ११०९ में वर्तमान स्थान पर लगाया था।[३]

उपर्युक्त विवरण हमने श्री प्रभुदयाल मीतल के 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृ० ३७८ से लिया है। प्रभुदयाल मीतल ने सम्भावना प्रकट की है कि उक्त विष्णुध्वज श्रीकृष्ण जन्मस्थान में रहा होगा। "सम्भव है, मथुरा के किसी ऊँचे टीले का नाम उस काल में 'विष्णु पदगिरि' रहा हो। श्रीकृष्ण जन्म स्थान अवश्य ही एक ऊँचे टीले पर स्थित है, जो निकटस्थ भूमि से काफी ऊँचाई पर है। श्रीकृष्ण के जन्म-स्थल के महत्व के कारण उस काल में वहाँ के टीले को ही 'विष्णुपद गिरि' कहा जाता हो, तो इसमें कोई असंगति नहीं होगी।"[४]

यह लौहस्तम्भ २२ फीट पृथ्वी के ऊपर तथा डेढ़ फुट पृथ्वी के अन्दर गढ़ा है। इसका व्यास नीचे १६ इंच और ऊपर १ फुट है। इसकी धातु अद्भुत है, इस पर अभी तक जंग का कोई प्रभाव नहीं है।

वास्तुकला—गुप्तकाल में वास्तुकला की विशेष समुन्नति और उसका पूर्ण भारतीयकरण हुआ। इस काल में स्तूप, विहार, मन्दिर और गुफाओं का निर्माण हुआ।

गुप्तकालीन स्तूप—गुप्तकाल में भी बौद्ध स्तूपों का निर्माण होता रहा। जूलिया (तक्षशिला) में चतुर्थ शताब्दी के आसपास का एक बड़ा और कुछ छोटे स्तूप पाये गये हैं। तक्षशिला का भल्लड़-स्तूप भी तीसरी या चौथी शताब्दी का है जो चौकोर आधार पर स्थित असाधारण ऊँचे तूदे का है। परवर्ती काल के जावा और बर्मा के साधारण स्तूपों के समान इसमें सीढ़ियों की एक पंक्ति है। गुप्तकाल के अन्य स्तूप सिन्ध के काठे में मिले हैं, जिसमें मीरपुर खास का स्तूप विशेष महत्व का है। यह भी चौकोर आधार पर स्थित है, किन्तु इसमें नवीनता यह है कि पश्चिम की ओर चौकोर आधार पर तीन छोटे-छोटे उपासना गृह सरीखे कमरे हैं। भारत

१. **समुद्रगुप्त** : मेहरौली स्तम्भ-अभिलेख का नरेश, पृ० २८१।
२. **भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री**, पृ० ५३।
3. History of Ancient India, p. 69, 401.
४. **ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास**, पृ० ३७९।

में यह अपने ढंग का एक ही नमूना है। इस स्तूप का अलंकरण नक्काशीदार ईंटों से हुआ है।

गान्धार क्षेत्र से बाहर दो गुप्तकालीन स्तूपों में एक सारनाथ का धमेख स्तूप छठी शती का गोलाकार मण्डप की तरह एवं नल सरीखा है। इसकी रूपरेखा नलाकार पत्थर के ढोल की तरह है जो बिना किसी चौकोर आधार के भूमि पर स्थित है। यह ईंटों का बना १२८ फीट ऊँचा है। आधार के ऊपर आधी दूर पर ४ ताख हैं, जो सम्भवत: बौद्ध मूर्ति के रखने के उद्देश्य से बने हैं। उसके ठीक नीचे ज्यामित्याकार एवं पुष्पाकार अङ्कित चौड़ी पट्टी है जो अजन्ता के चित्रित छतों के अनुकरण पर है।

दूसरा स्तूप जरासन्ध की बैठक के नाम से प्रसिद्ध राजगृह का स्तूप है, जो ५वीं शती का बना मीनार की तरह काफी ऊँचे आधार पर स्थित है। सारनाथ और राजगृह के स्तूप आज भी विद्यमान हैं। काश्मीर में हुविष्कपुर और हरवन में भी ४थी-५वीं शती के कुछ अवशेष मिले हैं। गुप्तकाल के साथ ही स्तूप निर्माण का अन्त हो गया।[1]

विहार—अजन्ता के लयण भवनों में अधिकांश विहार गुप्तकाल में निर्मित हुए। इन विहारों में सभामण्डप वर्गाकार हैं, अन्दर की ओर कक्ष एवं बरामदा है। प्रवेश द्वार के सामने मूर्ति के लिए मन्दिर बने हैं।

नालन्दा विहार—नालन्दा का सुप्रसिद्ध विहार गुप्तवंशी राजाओं ने निर्मित कराया था। यह बहुत विशाल एवं अलंकृत था। हुएनसांग ने सातवीं शती में नालन्दा की अनुपम कलाकारी का वर्णन करते हुए लिखा है, उसके गगनचुम्बी बहु-लंकृत शिखर और कँगूरे पर्वत-शिखर सरीखे थे जो प्रातःकालीन नीहार में लुप्त हो जाते थे और ऊपर की मञ्जिल के कमरे बादलों में छिप जाते थे। उनकी खिड़कियों से वायु और मेघों के रूप-परिवर्तन स्पष्ट देखे जा सकते थे।

इस विहार में भिक्षुओं के आवास पाँच मञ्जिल ऊँचे थे। विहार के मण्डपों के स्तम्भ मकराकृति से अलंकृत थे। उसकी कड़ियाँ इन्द्रधनुष सी रंग-बिरंगी और चमकदार थीं। स्तम्भ अश्वाकृति थे। छतों में गहरे रंगों के फलक थे जिन पर प्रकाश पड़ने पर एक अनुपम दृश्य उपस्थित हो जाता था।

गुप्तकाल के मन्दिर—गुप्तयुग से पूर्व हमें देवी-देवताओं की मूर्तियाँ तो प्राप्त होती हैं किन्तु मन्दिरों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। गुप्त युग में मन्दिर-वास्तु-कला का उद्भव एवं विकास हुआ तथा मन्दिरों में पूजा करना एक सामान्य धार्मिक नियम बन गया। इस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति में मन्दिरों का महत्व स्थापित हुआ। उनके निर्माण कार्यों में वास्तु-शिल्प एवं चित्रकला का विकास हुआ। जैसे मौर्यकाल

१. डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, भारतीय वास्तुकला, पृ० ४८।

में बौद्ध स्तूपों एवं विहारों की प्रधानता रही वैसे ही गुप्तकाल में भागवत धर्म एवं उनके मन्दिरों का प्रमुख रूप से निर्माण हुआ। गुप्तकाल के उपलब्ध मन्दिरों में विष्णु, शिव और सूर्य देवता के मन्दिर अधिक हैं। इस काल के उपलब्ध मन्दिरों में प्रमुख ये हैं—

(१) **भूमरा का शिवमन्दिर**—मध्यप्रदेश के नागोद इलाके में एक मन्दिर नष्ट हो चुका है। केवल चबूतरा और गर्भगृह अब भी सुरक्षित है। गर्भगृह में एक-मुख शिवलिंग की अत्यन्त कलात्मक मूर्ति है। अन्य अनेक सुन्दर मूर्तियाँ भी यहाँ प्रस्तर खण्डों पर उत्कीर्ण मिलती हैं। इस मन्दिर की विशेषता यह है कि इसके गर्भगृह के ऊपर सपाट छत है किन्तु द्वार अत्यन्त अलंकृत है जिसके पाखों पर गंगा-यमुना के और चौखट के ऊपर पञ्चमुखी महादेव और अप्सरा के चित्र अङ्कित हैं।

(२) **नचना का पार्वती मन्दिर**—इसके गर्भगृह के ऊपर एक दूसरी मंजिल का भी निर्माण किया गया है। गर्भगृह का द्वार अलंकृत है। इसमें उत्कीर्ण चित्रों की शाखा है जिनमें मिथुन मूर्तियों की पंक्तियाँ हैं।

(३) **कानपुर जिले का भिटरगाँव का मन्दिर**—भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी मेहराबें अत्यन्त कलात्मक हैं। इसकी दीवारों पर हिन्दू पौराणिक प्रसंगों के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। उपर्युक्त दोनों मन्दिर प्रस्तर से बने हैं, भिटरगाँव का मन्दिर ईंटों का बना है।

(४) **अयहोल का मन्दिर**—बीजापुर के समीप यह प्राचीन मन्दिर बना हुआ है। यह चतुर्थ शती का है। इसकी छत सपाट है किन्तु १० वीं या ११ वीं शती में इस पर शिखर का निर्माण हुआ है। यह बहुत ही नीचा और सपाट है। इसकी दीवारें प्रस्तर-निर्मित हैं, बीच-बीच में चौकोर स्तम्भ हैं तथा मण्डप के स्तम्भों पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। छत के ऊपर शिलाफलकों का एक छोटा वर्गाकार कक्ष बना है। सामने के मण्डप में सूर्य की मूर्ति है। दीवारों में बने हुए ताखों में मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। शिला फलकों की खिड़कियों में रंग-बिरंगे छेद कटे हैं।

(५) **तिगवाँ (म० प्र०) का** विष्णु मन्दिर—यह सपाट छत वाला है। ऊपर की छत के फलक नालियों द्वारा मिलाये गये हैं। यह साँची-मन्दिर (चौथी शती) के समान आकार-प्रकार वाला है।

(६) **वहुपरबतिया (आसाम)** का ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर बना महत्वपूर्ण मन्दिर जो खण्डहर मात्र है।

(७) **खोह (नागोद जिला) का एकमुखीलिंग (शिव) मन्दिर**—अब इसकी बहुत सी मूर्तियाँ इलाहाबाद पुरातत्व संग्रहालय में हैं।

(८) **देवगढ़ का दशावतार शिखर मन्दिर**—यह ललितपुर जिला झाँसी में है। इसमें विष्णु के दशावतारों की मूर्तियाँ हैं। इसकी बाहरी भित्तियों पर अनेक पौराणिक दृश्य अंकित हैं। भगवान विष्णु की शेषशायी उत्कीर्ण मूर्ति भव्य है।

नाभि कमल पर ब्रह्मा, आकाश में शिव, पार्वती, इन्द्र, कार्तिकेय दर्शन कर रहे हैं। इसी प्रकार गजेन्द्र मोक्ष आदि के दृश्य उत्कीर्ण हैं। दशावतार का ऊँचे चबूतरे पर बना यह मन्दिर गुप्तकाल के अन्तिम समय का है। इस मन्दिर का शिखर अब तक के उपलब्ध मन्दिरों में सर्वाधिक प्राचीन है। इससे पूर्व मन्दिरों पर शिखरों का प्रचलन नहीं था। इस दृष्टि से यह मन्दिर बहुत महत्वपूर्ण है। शिखर शैली के अनेक भेद प्राचीन शिल्पशास्त्र में प्राप्त हैं जिनमें नगर, बेसर और द्रविण प्रमुख हैं।" उत्तर के शिखर मन्दिर को 'नागर' नाम से पुकारते हैं। नागर शिखर-मन्दिर की योजना में आयताकार गर्भ के ऊपर ऊँचा मीनार सा होता है जो गोल, चौकोर अथवा अन्य ज्यामित्याकार आयतन में होता है और त्रिकोण की तरह ऊपर पतला होता चला जाता है। नागर शिखर को शुकनासा शिखर भी कहते हैं। शिखर के ऊपरी छोर पर एक आमलक सरीखा कलश होता है जिसके ऊपर शृङ्ग के रूप में कोई न कोई धार्मिक प्रतीक होता है। इस शैली के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसका प्रचार नाग राजाओं ने किया, जिसके कारण इसका नामकरण 'नागर' किया गया।

दक्षिण के शिखर-मन्दिरों को 'द्रविण' नाम से पुकारते हैं। द्रविण शिखर मन्दिर में वर्गाकार अलंकृत गर्भगृह में देव स्थापित होते हैं उससे ऊपर कई मंजिलों में बँटा शिखर रहता है जिसके ऊपर वर्तुलाकार अथवा अष्टभुजाकार कलश अथवा स्तूपिका का शीर्ष रहता है। कहीं-कहीं वह विशाल होकर स्वयं शिखर के रूप में परिवर्तित हो गया है।[1]

गुफा मन्दिर—गुफा मन्दिरों की बनावट बड़ी विचित्र और आश्चर्यजनक है। पत्थर को काट-काट कर ही गुफाओं में हॉल, कमरे, खम्भे, मूर्तियाँ, बेलबूटे और अलंकरण तैयार किये गये थे। इनके बनाने में कितनी सावधानी और कितना परिश्रम किया गया होगा, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

अजन्ता की गुफाएँ—इन्हीं गुफाओं में चित्रकारी का भी विकास हुआ था। इनकी दीवारों को एक-सा करके रंगबिरंगी चित्रकारी की जाती थी। गुफाओं की चित्रकारी के उदाहरण ईसा पूर्व दूसरी शती के भी मिलते हैं। सरगुजा राज्य में रामगढ़ पहाड़ी पर जोगिमारा गुफा में दीवार पर अंकित कई सुन्दर चित्र हैं। गुप्तकालीन गुफाचित्रों में अजन्ता के चित्र बड़े महत्व के हैं। (अजन्ता हैदराबाद राज्य के खानदेश जिले में है।) इन चित्रों का विषय प्रायः बुद्ध भगवान की जीवन घटनाएँ हैं। इनकी स्वाभाविकता एवं भावव्यंजकता दर्शनीय है। अजन्ता की चित्रकारी गुप्तकाल के बाद भी चलती रही।

अजन्ता चित्रकला की कुछ विशेषताएँ हम रायकृष्णदास के एक लेख से उद्धृत कर रहे हैं।

---

१. डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त : **भारतीय वास्तुकला**, प्र० सं०, पृ० ९१।

"इन चित्रों की तैयारी की खुलाई (रूपरेखा) बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ-साथ वास्तविकता है एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और ईरानी चित्रकारी की सपाटे वाले कोंणदार रेखाएँ नहीं हैं जिनका उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक है—कहीं फीके व बेदम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है। यथोचित हलका साया लगाकर चित्रों के अवयवों में गोलाई, उभार और गहराई (डौल) दिखाई गई है। हाथ-पाँव, आंख और अंग-भंगी की भाषा से अर्थात् भाव बताने की भाषा से, दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से, आँख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व करुणा अथ से इति तक पिरोई हुई है जो भगवान बुद्ध की भावना की मूर्तरूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी-सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं सारे चराचर जगत से यहाँ के कलाकार की पूर्ण सहानुभूति है और उन सबको उन्होंने पूरी सफलतापूर्वक अंकित किया है।

मनुष्यों के रूपों के भेद और उनको अभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है, अर्थात् भिक्षुक, ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुन्दर राजपरिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय बधिक, प्रशांत तपस्वी, साधु वेषधारी धूर्त, कुलांगना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्न-भिन्न मुख, सामुद्रिक और अंग-कद की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। क्रोध, प्रेम, लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा, भय, चिन्ता आदि भाव भी इनमें इसी प्रकार बड़ी खूबी से दर्शाये गये हैं।"

बाघ की गुफाएँ—मध्यभारत राज्य में अमझेरा परगने में बाघ की गुफाओं की भी चित्रकारी अजन्ता से मिलती-जुलती है।

बाघ की गुफाओं की संख्या नौ है। इनमें चौथी गुफा रंगमहल कहलाती है। चौथी और पाँचवी गुफाओं में केवल ६ चित्र बने हैं। बाघ-गुफाओं के चित्र अजन्ता शैली पर बने अत्यन्त सुन्दर चित्र हैं।

गुप्तयुग भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विकास में अभूतपूर्व रहा। इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ के अनुसार इस प्रगति का कारण भारतीयों का विदेशों के सम्पर्क में आकर नवीन प्रेरणा एवं विचार प्राप्त करना है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। गुप्तकाल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टि से समृद्धिकाल था, स्वर्णयुग था अतः साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। प्रेम, श्रद्धा और भक्ति तीन कला के प्रेरणा स्रोत हैं। गुप्त युग में इन तीनों का विकास हुआ,

अतः कला को भी अपूर्व प्रेरणा प्राप्त हुई। इस काल के महान् शासकों का योग भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

गुप्त काल में कला के प्रमुख छः भेदों में सभी की पर्याप्त समृद्धि हुई। ये छः भेद इस प्रकार हैं—

(१) वास्तुकला (२) नक्षत्र कला (३) मृण्मूर्तिकला (४) चित्रकला (५) संगीत और (६) अभिनय।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यास्विद्धनम्।" (ईशावा० १)

इस गतिशील विश्व में जो कुछ भी जड़-चेतन रूप जगत् है वह सबको नियन्त्रण में रखने वाली एक शक्ति, ईश्वर से व्याप्त है। जो कुछ तुम्हें उससे प्राप्त है, उसी का उपभोग करो, किसी दूसरे के धन की, पदार्थों की, लिप्सा न करो।

६ | मृण्मूर्तियाँ (Terracota)

लोककला के कलाकार का सबसे सरल और सस्ता माध्यम गीली मिट्टी है। यह साधन सुलभ, सुगम और सुन्दर है। यही कारण है कि मानवीय सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही गीली मिट्टी कलाकृतियों को प्रस्तुत करने का साधन रही है। विश्व की प्राचीन संस्कृतियों के प्रमुख केन्द्र ये हैं—साइप्रस, क्रीट, इजिप्ट, मेसोपोटामिया, बेबीलॉन, चीन। इन सभी केन्द्रों से मिट्टी के खिलौने पर्याप्त मात्रा में मिले हैं। भारत में भी प्राचीनकाल से ही मृण्मूर्तियों का निर्माण होता रहा है। सिन्धु-घाटी के उत्खनन से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ इस दिशा में भारत की प्राचीनतम उपलब्धि है। इनका समय आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व माना जाता है। ऐतिहासिक काल के कई प्राचीन खिलौने **अतरंजीखेड़ा, नोह, हस्तिनापुर** आदि स्थानों से मिले हैं, जिनका समय ई० पू० ११०० से लेकर ८०० के बीच पुरात्ववेत्ताओं द्वारा अनुमानित है।

ईसवी सन् के आस-पास और परवर्तीकाल के मृण्मूर्ति-केन्द्र ये हैं—तक्षशिला, पटना, तामलुक, उज्जैन, देवनीमोर, बलराजगढ़, शिशुपालगढ़, मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशम्बी, भीरा, भदोही, अगियाबीर, मसोन, राजघाट, भीतरगाँव, सहेत-महेत, संकीसा, कसिया, मूसानगर, घोसी आदि। इन विभिन्न स्थानों से एकत्रित की हुई मृण्मूर्तियाँ इस समय भारत के अनेक संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

मौर्यकाल से पूर्व की मृण्मूर्तियाँ—काले रंग की मिट्टी की कुछ मृण्मूर्तियाँ ई० पू० ४०० के पूर्व की मिली हैं, जो मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में मृण्मूर्ति कक्ष में प्रदर्शित हैं। इन मूर्तियों की विशेषता यह है कि ये बिना किसी साँचे के प्रयोग के केवल हाथ से गढ़ी हुई हैं। इनके अलंकरण भी ऊपर से चिपकाये हैं। कला की दृष्टि से इनका उपर्युक्त समय अनुमानित है। ये मूर्तियाँ जिन्हें आदिमाता, महीमाता, पृथ्वीदेवी आदि नामों से पहिचाना गया है, वस्तुतः शक्ति की उपासना के प्राचीनतम प्रतीक हैं जो किसी समय यमुना नदी से लेकर नील नदी तक या कदाचित उससे भी आगे लोकप्रिय रहे। इनमें से कुछ मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनकी नाक पक्षियों की चोंच से मिलती-जुलती है। महीमाता का यह रूप भी विदेशों में प्रचलित रहा। पीठ पर लहराती हुई माला, विशाल नितम्ब-भाग तथा मोटी सी करधनी इन शक्ति

प्रतिमाओं के प्रमुख लक्षण हैं। इस काल की मृण्मूर्ति कला की उन्नति का दूसरा सोपान साँचे के आंशिक प्रयोग का प्रारम्भ है। इससे मूर्तियों में सुडौल मानव मुख बनने लगे। धीरे-धीरे साँचे की लोकप्रियता के बढ़ने के साथ ही अन्य अंगों, विशेष रूप से केश एवं अलंकारों को साँचे में ढाला जाने लगा। मौर्यकाल के अन्त और शुंगकाल के प्रारम्भ तक यह स्थिति चलती रही। इस काल की मूर्तियों में स्त्री-मूर्तियों के अतिरिक्त पुरुषों की मूर्तियाँ भी बनती थीं जिनमें उस समय भारत में रहने वाले विदेशियों के चेहरों की आकृतियाँ दर्शनीय हैं। मथुरा संग्रहालय के मृण्मूर्ति कक्ष में मूल साँचे और उनसे बनाई नवीन प्रतिकृतियाँ प्रदर्शित हैं। इनमें वसुधारा, खड़ी स्त्री-मूर्ति, खड़ी-पुरुष-मूर्ति के साँचे उल्लेखनीय हैं।

शुंगकालीन मृण्मूर्तियाँ—मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में शुंगकालीन मृण्मूर्तियाँ संकलित हैं। इनमें मातृ-देवियों की विभिन्न प्रकार की प्रतिमायें, साँचों से ढली हुई विविध प्रकार की शुंगकालीन देवी-देवता और स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ, छोटे-बड़े कामदार ठीकरे, पशुपक्षियों की आकृतियाँ आदि भाँति-भाँति की वस्तुएँ हैं। कुछ दीवारों को सजाने वाले ठीकरे हैं, कुछ खिलौने हैं, कुछ अलंकरण की तरह काम में आने वाली वस्तुएँ हैं। जब मृण्मूर्तियों के लिए सांचे का आंशिक प्रयोग होने लगा तब इनमें कुछ विशेषताएँ आ गईं। ऐसी मूर्तियों की विशेषता यह है कि मुख के भाग को सांचे से अलग बनाकर उसे बाद में पहिली पद्धति के अनुसार हाथ से गढ़े हुए शरीर भाग पर बैठाया जाता था। फलतः इन मूर्तियों में सुडौल मानव मुख के दर्शन होते हैं। शनैः शनैः साँचे की लोकप्रियता बढ़ती गई और मुख के साथ-साथ मुख के ऊपर विविध प्रकार से सजाये गये बाल और अलंकारों के लिये भी सांचा ही काम में आया जाने लगा। मौर्यकाल के अन्त तक और शुंगकाल के प्रारम्भ तक यही स्थिति चलती रही। बहुधा इन मूर्तियों पर चमकीली काली पालिश भी पायी जाती है, जो मथुरा के अतिरिक्त अन्य स्थानों से उपलब्ध मृण्मूर्तियों में नहीं पायी जाती। शुंगकाल में तो सांचों में ढली मृण्मूर्तियों की बहुतायत हो गई। इस काल में तो एक प्रकार से समूची मृण्मूर्तियों का निर्माण साँचों से ही होने लगा। सांचों के उपयोग के फलस्वरूप शुंगकाल की बनी हुई मूर्तियाँ सौन्दर्य, आभूषण, प्रमाणबद्धता आदि गुणों में पूर्ववर्तीकाल की अपेक्षा बहुत ही समुन्नत हैं। इस काल में काले रंग की अपेक्षा लाल रंग का प्रयोग अधिक चलता था।

शुंगकालीन मृण्मूर्तियों से पता चलता है कि इस काल में सामाजिक स्थिति में होने वाले परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब समकालीन कलाकृतियों पर पड़ा है। इस समय तक देश ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में बहुमुखी उन्नति कर ली थी। इसी काल से शनैः शनैः मूर्ति-पूजा भी लोकप्रिय होने लगी। फलतः इस काल की मूर्तियों में पर्याप्त विविधता के दर्शन होते हैं। मथुरा संग्रहालय के मृण्मूर्ति कक्ष में प्रदर्शित शुंगकालीन मृण्मूर्तियों में ये विशेषताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं। इनमें कामदेव, बड़े पेट वाले यक्ष के कन्धे पर बैठी हुई वीणा बजाती हुई यक्षी, दो मछलियों को लिये हुए

देवी वसुधारा, हाथियों से नहलाई जाने वाली गजलक्ष्मी आदि देवतागण दर्शनीय हैं। इस काल की अन्य दर्शनीय मूर्तियों में मिट्टी की गाड़ियाँ, माता और शिशु, प्रणयलीला में लीन दम्पत्ति, हाथ में दर्पण लेकर बाल सँवारने वाली रमणी; एक हाथ पर बैठे हुए तोते को फल खिलाने वाली स्त्री, नगरद्वार से हिरन के रथ पर बैठकर जाता हुआ पुरुष, प्रिया को मदिरा पिलाने वाला पुरुष, सुन्दर बँधे हुए जूड़े को सँभालने वाली बाला, जंगली सुअरों का घुड़सवारों द्वारा शिकार आदि विशेष उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं। बौनों और कुबड़ों की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। दम्पत्ति प्रतिमाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनमें केवल स्त्री-पुरुष या शिशु सहित माता दिखायी गई है। मृदंग, ढक्का, वीणा आदि बाजे बजाते हुए लोगों के चित्रण भी मिट्टी की कुछ मूर्तियों पर मिलते हैं। ये मूर्तियाँ अहिच्छत्रा से प्राप्त हुई हैं।

कुषाणकालीन मृण्मूर्तियाँ—शुंगकाल के बाद मृण्मूर्तिकला में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। साँचों के प्रयोग के साथ सम्पूर्ण मूर्ति को हाथों से गढ़ने की प्रवृत्ति पुनः जोर पकड़ने लगी। इस कारण कुषाण युग (ई० सन् की पहली शताब्दी से तृतीय शताब्दी के बीच) में मूर्ति निर्माण की दो धारायें स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती हैं। एक तो सांचे का प्रयोग करती रही और दूसरी केवल हाथ के भरोसे चलती थी। इनमें हाथों से गढ़ी मूर्तियों का प्राधान्य है। ये मूर्तियाँ आकार में बड़ी होने पर भी देखने में बहुत कुछ बेडौल और भौंड़ी होती हैं। इनका रंग ईंटों का रंग होता है और तौल में ये शुंगकालीन मूर्तियों की अपेक्षा भारी होती हैं। इसी काल में मिट्टी की कुछ बड़ी मूर्तियों का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया था। ये मूर्तियाँ बहुधा अन्दर से पोली होती हैं। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों में "महिषमर्दिनी चतुर्भुजी दुर्गा, उकुड़ू बैठे हुए तुंदिल कुबेर, दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठाए हुए शेषावतार बलराम, एक मुख शिवलिंग, कार्तिकेय, मानवाकार नाग, वृक्ष के नीचे खड़ी रमणी, कमल लिये हुए नागदेवी आदि मूर्तियाँ विशेष रूप से देखने योग्य हैं।" इस काल में इधर-उधर भ्रमण करने वाले विदेशियों के चेहरों की भी अच्छी नकलें उतारी गई हैं। इस दृष्टि से दाढ़ी-मूँछधारी कुषाण पुरुष-मूर्ति का मस्तक तथा कई अलंकार पहने हुई स्त्री का मस्तक विशेष उल्लेखनीय है। अनेक तरह के मिट्टी के बर्तनों पर पशु-पक्षियों तथा बेलबूटों का सुन्दर अंकन मिलता है। अहिच्छत्रा इस काल में भी मृण्मूर्ति निर्माण का केन्द्र था।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ—ईसवी सन् की चतुर्थ से षष्ठ शताब्दी तक का काल उत्तर भारत के इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता है। इस गुप्तकाल में देश ने सर्वाङ्गीण उन्नति की। मृण्मूर्ति कला भी इसके लिए अपवाद न रही। सुन्दर केश विन्यास, मुखमंडल की प्रसन्नता, मधुर हास्य, वस्त्रों एवं अलंकारों का बारीकी से अंकन, प्रमाणबद्ध शरीरयष्टि और कभी-कभी रंगों का प्रयोग गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों की विशेषताएँ मानी जाती हैं। इस काल में छोटी मूर्तियों के साथ-साथ मंदिर,

स्तूप या प्रासादों की दीवारों को सजाने के लिए मृद्-फलकों का भी बहुत बड़ी मात्रा में निर्माण होता था। इन मृद्-फलकों पर स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ, देवादिकों की प्रतिमाएँ, कृष्णलीला के दृश्य, पशु-पक्षी तथा फूल-पत्तियाँ बनाई जाती थीं। सभी कृतियाँ सर्वांगपूर्ण होती थीं। मृद्फलकों में मयूर पर बैठे हुए कुमार कार्तिकेय, माला अथवा पूर्ण कुम्भ लेकर उड़ने वाले विद्याधर, वर्तुलाकार गवाक्ष में से झांकने वाला मानव मुख, त्रिनेत्र शिव आदि अपने सौन्दर्य के कारण विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

गुप्तकाल की छोटी मूर्तियों के अनेक नमूने मिले हैं। इनमें विविध प्रकार के केशों की रचना है जिनमें से कुछ को भ्रमरक, अलक आदि नामों से पहिचाना गया है। गुप्तकाल की मूर्तियाँ मथुरा के अतिरिक्त अहिच्छत्रा, सहेत-महेत, भीतरगाँव, राजघाट आदि स्थानों से भी प्राप्त की गई हैं।

अहिच्छत्रा से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ—गुप्तकाल में अहिच्छत्रा भी कला का केन्द्र था। अहिच्छत्रा से गुप्तकालीन मूर्तियाँ सबसे अधिक मिली हैं। पाषाण की जो प्रतिमाएँ इस काल की मिली हैं, उनसे स्पष्ट है कि इस युग में अहिच्छत्रा के कलाकार अंगविन्यास तथा भावाभिव्यक्ति में बहुत निपुण थे। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू धर्म सम्बन्धी अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ खुदाई में तथा सतह से मिली हैं। मिट्टी की मूर्तियों में बुद्ध, विष्णु, सूर्य अग्नि, शिव, पार्वती, गणेश, कार्तिकेय, कुबेर आदि की प्रतिमाएँ मिली हैं। विष्णु की एक चतुर्भुजी मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इसमें उन्हें शंख, चक्र और गदा लिए हुए दिखाया गया है। उनके सिर पर मुकुट तथा भौंहों के मध्य में ऊर्णा है। इस मूर्ति की बनावट मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन विष्णु मूर्ति से मिलती-जुलती है। सूर्य की कई मृण्मूर्तियाँ भी मूर्तिकला की दृष्टि से महत्त्व की हैं। इनमें सूर्य को प्रायः उदीच्य वेश में दिखाया गया है। ये मूर्तियाँ प्रायः गोल आकार की हैं। पार्वती के एक मस्तक का अलंकृत केश विन्यास अत्यन्त कलापूर्ण ढग से दिखाया गया है। शिव की एक मूर्ति के सिर पर जटाजूट भी दर्शनीय है। ये दोनों प्रतिमाएँ इस बात की द्योतक हैं कि अहिच्छत्रा के कलाकार कितने कुशल थे। एक चौकोरे टीकरे पर किन्नर-मिथुन का आलेखन बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से हुआ है। एक अन्य चौकोर टीकरे पर दो रथारूढ़ धनुर्धारी युद्ध करते हुए चित्रित हैं। गुप्तकाल के कुछ मिट्टी के फलक ऐसे मिले हैं जिन पर विविध आमोद-प्रमोद, खेल-तमाशों आदि के चित्रण हैं। एक चौकोर फलक पर दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस करते हुए शिव के गणों का दृश्य है। दूसरे पर गण लोग मोदकों के लिए आपस में झगड़ते हुए दिखाये गये हैं। इसी प्रकार कुश्ती लड़ते हुए, हाथी के साथ युद्ध करते हुए, धनुष-बाण चलाते हुए तथा अनेक प्रकार के बाजे बजाते हुए या नृत्य करते हुए लोगों के मनोरंजक चित्रण भी अहिच्छत्रा की कला में मिलते हैं। इस प्रकार प्राचीन वेश-भूषा, धार्मिक मान्यतायें, आमोद-प्रमोद आदि का सजीव चित्रण अहिच्छत्रा की बहुसंख्यक मृण्मूर्तियों पर मिलता है।

मथुरा केन्द्र—मथुरा भी मृण्मूर्तियों का महत्त्वपूर्ण निर्माण केन्द्र रहा है। मथुरा केन्द्र की मृण्मूर्तियों का सम्बन्ध प्रमुखतया लोक-जीवन से रहा है। यद्यपि मिट्टी की कुछ मूर्तियाँ देवी-देवताओं, विशेषतः हिन्दू धर्म के देवताओं की भी मिली हैं, पर उनकी संख्या थोड़ी है। अधिकांश मिट्टी की मूर्तियाँ नागरिक तथा ग्रामीण लोक-जीवन पर प्रकाश डालती हैं। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे जो मौर्यकाल या उसके पूर्व मातृ-देवियों आदि की मूर्तियों के रूप में हाथ से गढ़कर बनायी जाती थीं और दूसरी साँचों द्वारा निर्मित। साँचों द्वारा निर्मित मिट्टी की मूर्तियाँ ई० पू० २०० से लेकर ६०० ई० तक की बहुत अधिक संख्या में मिलती हैं। इनमें से कुछ तो बालकों के खेलने के हाथी, घोड़े, गाड़ी आदि खिलौने हैं। शेष वे मूर्तियाँ हैं जिनमें जीवन के विविध अंगों का प्रदर्शन है, जैसा हम पाषाण पर पाते हैं। मथुरा संग्रहालय में मथुरा केन्द्र की टीलों तथा यमुना नदी से प्राप्त अनेक मृण्मूर्तियाँ हैं। इनमें एक मूर्ति में राजसी ठाट की स्त्री-पंखा लिये खड़ी है, दूसरी में कोई राजकुमार रथ पर बैठकर जा रहा है, तीसरी पर स्त्री-पुरुष का जोड़ा चित्रित है, चौथी में किन्नर-किन्नरी हवा में उड़ान ले रहे हैं, पाँचवीं में सुन्दर साड़ी में शिशु सहित एक स्त्री है, छठी में शुक क्रीड़ा का चित्रण है, सातवीं में सुन्दर बालों से सज्जित पुरुष सिर है, आदि।

परवर्ती युग की मृण्मूर्तियाँ—गुप्तकाल के बाद मृण्मूर्ति कला में मौलिक सृजन का अभाव होने लगा। केवल पुरानी परिपाटियों का अन्धानुकरण ही रह गया था। अतएव गुप्तोत्तरकाल की कलाकृतियों में नवीन प्रेरणा या जीवन के दर्शन नहीं होते।

भारतीय मृण्मूर्तियों के क्षेत्र में मानवीय प्रतिमाओं के अतिरिक्त पशु, पक्षी, सीटियाँ, गाड़ियाँ, झुनझुने, गोलियाँ, छोटे-छोटे बर्तन, कुछ अलंकार आदि का भी समावेश होता है। इतिहास के लगभग प्रत्येक काल खण्ड में इस प्रकार की वस्तुएँ बराबर बनती रहीं और आज भी बन रही हैं। पशु-पक्षियों की ये प्राचीन आकृतियाँ यथा मौर्यकालीन हाथी, शुंगकालीन गजारोही, बैल, गाड़ी, मेढ़ा, कुषाणकालीन चिड़ियागाड़ी आदि मृण्मूर्तियाँ मथुरा पुरातत्त्व संग्रहालय के मृण्मूर्ति कक्ष में विशिष्ट रूप से प्रदर्शित हैं।

---

७ | हर्षवर्धन-काल की कला

हर्षवर्धन का परिचय

थानेश्वर में प्रभाकरवर्धन छठी शती के अन्त में राज्य करता था। उसका पु राजवर्धन ६०५ ई० में थानेश्वर के सिंहासन पर बैठा। राजवर्धन अधिक काल त ; राज्य न कर सका। उसका भाई हर्षवर्धन ६०६ ई० में गद्दी पर बैठा। इतिहास में हर्षवर्धन और उसकी बहन राज्यश्री का बहुत नाम है। हर्ष के समय में उसकी र जधानी कन्नौज हो गई थी। हर्ष स्वयं भी एक अच्छा कवि था (उसने तीन नाटक f खे थे) और कवियों का आश्रयदाता भी था। वाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी इसी के स ाय में लिखी थी और हर्षचरित भी लिखा था जिसमें उस समय का बहुत कुछ ह न मिलता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग इसी के शासन में आया था। इसी के समय रे चीन से हमारे सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़े। यहाँ से बहुत से संस्कृत ग्रन्थों की प्रति- f पियाँ चीनी भाषा में अनुवादित होने के लिये गईं। तिब्बत को लिपि सिखाने र ाँ के आचार्य गये। नालन्दा विश्वविद्यालय उस समय बड़ी उन्नति पर था। उसने अ तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करली थी। यह नौ मंजिला था। इत्सिंग के समय में इ में तीन सौ कमरे और छः मण्डप थे। इस कारण वह उस समय की वास्तुकला व उन्नति का भी परिचायक था। इसमें देश-विदेश के दस हजार विद्यार्थी पढ़ते थे अ र इनको पढ़ाने के लिए १५०० अध्यापक रहते थे। यहाँ पर चार विषयों की— व ाकरण, हेतु विद्या या तर्क शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र और एक किसी शिल्प की— अ नेवार्य शिक्षा होती थी। इसके कुलपति आचार्य शीलभद्र ने बड़ी ख्याति पाई थी। ह नसांग ने इसके चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की थी।

वास्तुशिल्प की समृद्धि का परिचायक

मानसार—यह वास्तु-शिल्प सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी रचना ईसा ' पाँचवीं से लेकर सातवीं शती के बीच अनुमानित है। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम वास्तु- f ल्प का वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय विवेचन उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ के अनुसार व स्तुशिल्प का आचार्य स्थापित होता था। वह सभी विज्ञानों का ज्ञाता, सावधान, ि चारवान, उदार, सरल एवं ईर्ष्या द्वेष की भावनाओं से रहित होता था। वास्तु- f ल्प के आचार्यों का उल्लेख महाभारत में भी है। युधिष्ठिर के सभा-भवन- f र्माता मय को दानवों का विश्वकर्मा एवं प्रधान शिल्पी निरूपित किया गया है।

मानसार में नगर एवं ग्राम वास्तु-विज्ञान की भी चर्चा है। प्राचीनकाल में नगर एवं ग्राम का निर्माण वैज्ञानिक तरीके से होता था। मानसार के वास्तु-शिल्प और मोहन-जोदड़ो के वास्तु-शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन करने पर दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। मानसार में संभवतः मोहनजोदड़ो की परम्परा का विकसित रूप है। इसमें नगर या ग्राम रचना का प्लान इस दृष्टि से बताया गया है कि उसकी सुरक्षा में भी सुविधा रहे और वायु और सूर्य की किरणों का प्रचुर प्रचार हो। ग्राम रचना की तीन प्रकार की चर्चा है—दण्डक, पद्‌माकर तथा स्वस्तिक। मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र का निर्माण भी वैज्ञानिक ढंग पर हुआ था।

जैसा कि **मानसार** से, जो इसी काल में बना था, विदित होता है, वास्तुकला ने पर्याप्त उन्नति की थी। मानसार के हिसाब से शहर आठ प्रकार के होते हैं—राजधानी, नगर, पुर, नगरी, खेट, खर्वाट, कुब्जुक और पट्टन। शहर के चारों ओर एक परकोटे और खाई का विधान था। राजाओं की श्रेणियों के अनुकूल उनके नौ प्रकार के महल बताये गये हैं।

गुफाएँ—एलीफेंटा एलोरा की गुफाएँ—इस समय की कला में निजाम राज्य में स्थित एलौरा और बम्बई बन्दरगाह के पास की एलीफेंटा गुफायें, जो घारापुरी नाम के टापू में स्थित हैं, बहुत प्रसिद्ध हैं। एलौरा की गुफा में जैन और हिन्दू मूर्तियाँ हैं। यहाँ पर कैलाश नाम का मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है। इस मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण ने (लगभग ७६०–७७५ ई०) कराया था। दोनों ही स्थान शैव पूजा से सम्बन्धित हैं और इनमें शिव-पार्वती के मनोरम दृश्य दिखाये हुए हैं। कैलाश मन्दिर में शिव ताण्डव के बड़े गतिमय मनोरम दृश्य हैं।

कन्हेरी की गुफायें—ये बम्बई के सालसेट टापू पर हैं तथा कार्ली गुफा की अनुकृति पर निर्मित हैं किन्तु उतनी कलापूर्ण नहीं हैं।

---

८ जैन मूर्ति कला

भारत की प्राचीनतम कला—जैन कला के प्राचीनतम नमूने मोहन-जोदड़ो से प्राप्त हुए है। वहाँ से अनेक सील-मुहर प्राप्त हुई हैं। श्री रामप्रसाद चन्दा ने सिन्धु घाटी में उत्खनन से प्राप्त अनेक मुहरों का अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा पुरातत्व संग्रहालय में स्थापित तीर्थङ्कर श्री वृषभदेव की मूर्ति। वृषभ का अर्थ है बैल, जो ऋषभ देव का लक्षण (चिन्ह) है। इसी प्रकार हड़प्पा से प्राप्त नग्न घड़ (Torso) को भी विद्वानों ने दिगम्बर खण्डित मूर्ति स्वीकार किया है। जैन कला के प्रागैतिहासिक काल के कलात्मक नमूने प्राप्त हो चुके हैं। जैन कला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होती है। इस प्रकार जैन-धर्म एवं कला का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है। भारतीय कला के प्राचीनतम नमूने मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुए हैं। स्पष्ट रूप से जैन कला भारत की प्राचीनतम कला सिद्ध होती है। वैदिक युग की कला के अवशेष अभी तक अनुपलब्ध ही हैं।

मौर्य युग में जैन कला—मौर्य युग की एक दिगम्बर प्रतिमा लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त हुई है, जिसके प्रस्तर पर मौर्यकालीन स्तम्भ का लेप ही उसकी प्राचीनता का द्योतक है। यह कलाकृति पटना संग्रहालय में प्रदर्शित है। कला के आधार पर मूर्तिकला के मर्मज्ञ विद्वानों का कथन है कि जैनमत में पूजा के निमित्त प्रतिमाएँ अत्यन्त प्राचीनकाल में निर्मित हुईं, जिसकी समता अन्य धर्मों में नहीं है। जैन धर्म की मूर्तिकला के मूल में यह भाव निहित है कि तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ श्रावकों को सत्कार्य की प्रेरणा देती हैं। तीर्थङ्कर वीतराग एवं इन्द्रियों के विजेता (जिन) हैं, अतएव उनकी प्रतिमाओं से श्रावक लोग शान्ति का अपूर्व संदेश पाते हैं। प्राचीन काल में जैनमत का प्रसार भारत में सर्वत्र था, इसलिए गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मैसूर, आंध्र आदि सभी प्रदेशों में जैन प्रतिमाएँ प्रचुर संख्या में मिली हैं।

जैन सूत्रों में तीर्थङ्कर को अरूप ब्रह्म का साकार रूप मानते हैं। उसे विश्वरूप, जगत्प्रभु, केवलज्ञानी, वीतराग आदि कहकर पुकारते हैं। तीर्थ शब्द

का अर्थ है धर्म। धर्म की व्याख्या करने वाला तीर्थङ्कर कहलाता है। अन्य विद्वानों का मत है कि तीर्थ शब्द गुण या नदी के उस स्थल को कहते हैं जिसे दिखलाने के कारण व्यक्ति तीर्थङ्कर कहलाता है। श्वेताम्बर तीर्थ को संघ के अर्थ में ग्रहण करते हैं, अतः तीर्थङ्कर संघ का स्थापक माना जाता है। तीर्थङ्कर वीतराग एवं इन्द्रिय-जेता जिनेन्द्र भगवान हैं।

बृहत्संहिता में तीर्थङ्कर के जो लक्षण निरूपित हैं, उन्हें कलाकारों ने प्रतिमाओं में अङ्कित किया है—

निराभरण सर्वाङ्ग निर्वस्त्राङ्गा मनोहरम्।
सर्वं वक्षःस्थले हेमवर्ण श्रीवत्सलांक्षनम्॥

प्रायः तीर्थङ्कर प्रतिमा के लक्षण ये माने जाते हैं—

१. लम्बी भुजाएँ
२. वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह
३. प्रशान्त मूर्ति
४. शरीर के सुन्दर अङ्ग
५. नग्न अवस्था
६. वृक्ष के नीचे बैठी प्रतिमा

कुषाणयुगीन जैन मूर्तिकला—भुवनेश्वर के समीप जैन सम्राट खारवेल का एक लेख हाथी गुम्फा पर खोदा गया है—'नन्दराज नीतं च कलिग जिनं संनिवेस।' कलिंग से मगध नरेश जिस जैन पाषाण प्रतिमा को उठा ले गया था, उसे खारवेल ईसापूर्व पहली शती में वापस ले आया। इस अभिलेख से यह सिद्ध हो जाता है कि ईसवी पूर्व सदियों में जैन मूर्तियाँ पूजा के निमित्त तैयार की जाती थीं। पार्श्वनाथ की कांस्यमूर्ति जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है, मौर्ययुगीन मानी जाती है। यह बम्बई संग्रहालय में है।

कुषाणकालीन जैन मूर्तिकला के उदाहरण मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। कंकाली टीले से प्राप्त अधिकतर नग्न प्रतिमाएँ लखनऊ संग्रहालय में हैं। इन नग्न प्रतिमाओं को देखने से पता चलता है कि उस समय तक दिगम्बर जैनियों की प्रधानता थी। कुषाण युग के पश्चात् की तीर्थङ्कर प्रतिमाओं में अधोवस्त्र का समावेश होने से श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अस्तित्व का पता चलता है।

कुषाणकालीन जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं में ऋषभनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर की मूर्तियाँ बैठी तथा अन्य तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं।

कंकाली टीला—मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक मूर्ति की चौकी पर खुदे हुए द्वितीय शती के एक लेख से पता चला है कि उस समय से बहुत पूर्व मथुरा में एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हो चुका था। लेख में उस स्तूप का नाम 'देव निर्मित बौद्ध स्तूप' दिया है। वर्तमान कंकाली टीला की भूमि पर उस समय

लेकर ११०० ईसवी तक जैन इमारतों और मूर्तियों का निर्माण होता रहा। थुरा में कंकाली टीला तथा ब्रज के अन्य कई स्थानों से जैन धर्म सम्बन्धी विशाल ाल्प-सामग्री भी प्राप्त हुई है।

मथुरा में जैन मूर्तियों का निर्माण कुषाण काल के पहले से होने लगा था। स नगर के पश्चिम में कंकाली टीला नामक स्थान जैन धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र ा। मथुरा-कला में जैन-मूर्तियों को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है—

(१) तीर्थङ्कर प्रतिमायें
(२) देवियों की मूर्तियाँ, तथा
(३) आयागपट्ट आदि कृतियाँ

(१) **तीर्थङ्कर प्रतिमायें**—जैन देवता तीर्थङ्कर या जिन कहलाते हैं। ीर्थङ्कर संख्या में २४ हैं। मथुरा-कला में आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर ादि तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ मिली हैं, जो प्रायः पद्मासन में बैठी हैं। कुछ खड़ी हुई ाड्गासन में भी मिली हैं, जिनमें चारों दिशाओं में प्रत्येक ओर एक-एक तीर्थङ्कर ति बनी है। ऐसी प्रतिमाओं को 'सर्वतोभद्रिका' कहते हैं।'

(२) **देवियों की मूर्तियाँ**—जैन देवियों की मूर्तियाँ प्रायः गुप्तकाल और ध्यकाल की हैं। इनमें ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी और नेमिनाथ की यक्षिणी ांबिका की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। कुषाणकालीन एक मूर्ति सरस्वती की है जो ंकाली टीले से प्राप्त हुई है। उन्हें ऊँचे आसन पर आसीन दिखाया है उनका दायाँ ाथ अभय मुद्रा में है तथा बायें हाथ में वे पोथी लिए हैं, सरस्वती के अतिरिक्त ंकाली टीले की भूमि पर निर्मित देवी आर्यवती, नैगमेश, अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि वियों की प्रतिमायें मिली हैं।

(३) **अन्य कलाकृतियाँ**—कंकाली टीले से कुछ कलापूर्ण आयागपट्ट मिले । ये वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उनके ऊपर तीर्थङ्कर, तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न उत्कीर्ण किये जाते थे। आयागपट्टों ; अतिरिक्त अन्य विविध शिलापट्ट तथा वेदिका स्तम्भ भी मिले हैं, जिन पर जैन ार्म सम्बन्धी मूर्तियाँ तथा चिह्न अंकित हैं। इन कलाकृतियों पर देवता, यक्ष-यक्षी, ुष्पितलता-वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ, मंगलघट, कीर्तिमुख आदि बड़े लात्मक ढंग से उत्कीर्ण मिलते हैं। आयागपट्ट जैनकला की प्राचीनतम कृति है। ायागपट्ट की तिथि ईसवी पूर्व में स्थिर की गई है। यह गोलाकार पूजा निमित शिलापट्ट है, जिसके मध्य में ध्यानी मुद्रा में महावीर की छोटी मूर्ति दिखलाई पड़ती है। उसके चारों ओर जैन औपपातिक सूत्र में गिनाये अष्ट मांगलिक चिह्न हैं— स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, दर्पण, तथा मत्स्य युग्म।

कुषाणयुग के अन्य आयागपट्ट पर जो मांगलिक चिह्न खुदे हैं उसमें दर्पण तथा ंद्यावर्त का अभाव है। सम्भवतः कनिष्क काल तक अष्ट मांगलिक की अन्तिम सूची

निश्चित न हो सकी थी, दिगम्बर शाखा में निम्नलिखित अष्ट मांगलिक चिह्न वर्णित हैं—भृङ्गार, कलश, दर्पण, चामर ध्वज, व्यजन, छत्र, सुप्रतिष्ठ।

कुषाण युग में मथुरा में मुख्य रूप से तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ तैयार की गयीं जो कायोत्सर्ग (खड़ी) अथवा आसन (बैठी) अवस्था में अंकित हैं।

अहिच्छत्रा—'विविध तीर्थकल्प नामक जैन ग्रन्थ के अनुसार 'अहिच्छत्रा' नगर का पुराना नाम 'संख्यावती' था और वह कुरूजंगल प्रदेश की राजधानी थी। इस ग्रन्थ के अनुसार एक समय जब तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ संख्यावती नगरी में ठहरे हुए थे, कमठ नामक दानव ने उनके ऊपर वर्षा की झड़ी लगा दी। नागराज धरणीन्द्र को जब इस बात का पता चला तो वह सपत्नीक उस स्थान पर आया और पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के शरीर को चारों ओर से परिवेष्टित कर लिया और फणों द्वारा उनके सिर की रक्षा की। इस प्रकार अहि अर्थात् सर्प का फण बन जाने से उस स्थान का नाम 'संख्यावती' के स्थान पर 'अहिच्छत्र' या 'अहिच्छत्रा' प्रसिद्ध हुआ।[1] इस नगरी का पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर से सम्बन्ध एक अभिलेख द्वारा भी प्रमाणित होता है। यह अभिलेख वहाँ के किले के समीप ही उत्तर की ओर कटारीखेड़ा नामक टीले से प्राप्त एक वैदिक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसमें महाचार्य इन्द्रनंदि के शिष्य महादरि के द्वारा पार्श्वपति (पार्श्वनाथ) के मन्दिर में दान देने का उल्लेख है। इस मन्दिर का निर्माण गुप्त युग में हुआ। कटारीखेड़ा से अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। तीर्थकल्प के अनुसार प्राचीन अहिच्छत्रा के आस-पास घने जंगल थे। अहिच्छत्रा जिस जनपद की राजधानी थी, उसका नाम महाभारत में एक स्थल पर 'अहिच्छत्र विषय' मिलता है—

अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत।
एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता॥

अहिच्छत्रा नगर के अवशेष उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में वर्तमान रामनगर नामक गाँव के समीप टीलों के रूप में बिखरे पड़े हैं। अहिच्छत्रा में जहाँ धरणीन्द्र नागराज ने पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की कमठ दैत्य के उत्पात से रक्षा की, वहीं उनके मन्दिर का निर्माण किया गया। इस मन्दिर के पूर्व में ठंडे और स्वच्छ जल के सात कुण्ड थे, जिनमें अनेक कछुए रहते थे। इस मन्दिर से थोड़ी दूर सिद्ध क्षेत्र में नागराज धरणीन्द्र और उसकी पत्नी पद्मावती द्वारा सेवित पार्श्वनाथ की प्रतिमा और मन्दिर था। यहाँ सिंहारूढ़ा अम्बादेवी तथा नेमिनाथ की भी प्रतिमाएँ थीं। विविध तीर्थकल्प से ज्ञात होता है कि अहिच्छत्रा में जयंती, नागदमनी, सहदेवी, अपराजिता आदि अनेक देवियों और यक्षिणियों की भी मूर्तियाँ थीं। इस प्रकार प्राचीनकाल में अहिच्छत्रा एक बड़े जैन तीर्थ के रूप में विख्यात था।

---

१. **जिनप्रभ सूरि रचित विविध तीर्थकल्प**, पृ० १४, सिंघी जैन ग्रन्थमाला।

गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ—डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने 'प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान' में लिखा है—'गुप्तकालीन जैन प्रतिमाएँ सुन्दरता तथा कलात्मक दृष्टि से उत्तम समझी जाती हैं। अधोवस्त्र तथा श्रीवत्स दो प्रमुख विशेषताएँ हैं जो गुप्त युग में परिलक्षित होती हैं। जैन मूर्तियों की बनावट उत्तम श्रेणी की हैं। जैन प्रतिमाओं में चक्र चौकी के मध्य तैयार किये गये जिसके दोनों पार्श्व में दो हिरन (सारनाथ बौद्ध प्रतिमा के सदृश) या वृषभ खोदे गये हैं। सिर पर तीन चक्र रेखाओं का छत्र दिखलाया गया है जिसके दोनों ओर दो हाथी स्थित हैं। गुप्त युग से जैन प्रतिमाओं यक्ष-यक्षिणी मालावाही गन्धर्व आदि देव-तुल्य मूर्तियों को भी स्थान दिया गया था। गुप्तकाल में जैनधर्म का भी पर्याप्त प्रचार था, इसलिए लेखों में अर्हत प्रतिमाओं की स्थापना (स्कन्दगुप्त का काहोम स्तम्भ लेख) तथा गुहा या मन्दिरों में जैनमूर्तियों की स्थिति उसके प्रसार का समर्थन करती है।

गुप्त युग की प्रतिमाओं के प्रभामण्डल पर दो मालाधारी विद्याधर दिखलाई पड़ते हैं। प्रभामण्डल का अलंकरण भी जैन प्रतिमा को गुप्तकालीन घोषित करता है। नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की बैठी प्रतिमाएँ मध्य प्रदेश तथा बिहार से मिली है। शंख की स्थिति से नेमिनाथ की जानकारी हो जाती है परन्तु पार्श्वनाथ की प्रतिमा में पाँच सर्प फन फैलाए सिरे भाग में दिखलाये गये हैं। महावीर की मूर्ति प्रायः कमलासन या सिंहासन पर बैठी मिलती है। उनके दोनों हाथ ध्यान मुद्रा में दीख पड़ते हैं। वहाँ चौकी के मध्य में चक्र की स्थिति आवश्यक है। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में वक्षस्थल पर श्रीवत्स खुदा है। इस तरह तीर्थङ्करों की प्रतिमा का परिज्ञान सरलता से हो जाता है।

मध्ययुगीन जैन मूर्तिकला—नालन्दा से पद्मावती की मध्ययुगीन मूर्ति मिली है जो अतीव सुन्दर है। इसी के सदृश देवगढ़ से 'जिन' की माता की वस्त्राभूषण से सुसज्जित शयन प्रतिमा उपलब्ध हुई।। मध्य युग (आठवीं सदी) में चौबीस यक्ष एवं यक्षिणी को जैन कला में स्थान दिया गया जो तीर्थङ्कर के साथ पाषाण पर खुदे हैं। मध्यकालीन भारत की जैन प्रतिमाओं में चौकी पर आठ ग्रहों की आकृतियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, जो हिन्दूमत के नवग्रहों का अनुकरण था। इस युग में मध्य भारत, बिहार, उड़ीसा तथा दक्षिण में दिगम्बर मत प्रधान हो गया था और श्वेताम्बर की संख्या घटती जा रही थी। यही कारण था कि दिगम्बर प्रतिमाएँ अधिक संख्या में मिली हैं। खजुराहो, देवगढ़ आदि जैन मन्दिरों से सम्बन्धित प्रस्तर की अन्य मूर्तियाँ भी मिलती हैं जिसमें शासन देवी, यक्ष, यक्षिणी का नाम उल्लेखनीय है। एक विशेष प्रकार की राजारानी की युगल पाषाण मूर्ति वृक्ष के नीचे बैठी खजुराहो से प्राप्त हुई है जिसके सिरे पर 'जिन' की सूक्ष्म आकृति बनी है। मध्य-भारत, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के दिगम्बर केन्द्रों में ऐसी प्रतिमाओं की बहुलता है। मध्यकाल में भी अहिच्छत्रा में कला की उन्नति जारी रही। इस काल की पाषाण निर्मित जैन प्रतिमाएँ अधिक मिली हैं। जैनधर्म के केन्द्र के रूप में इस काल में

अहिच्छत्रा की उन्नति हुई। पाषाण की बौद्ध तथा हिन्दू देवी-देवताओं की भी मूर्तियाँ मिली हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। दक्षिण भारत के दिगम्बर केन्द्र एलौरा (९ वीं शती) की गुहायें तीर्थङ्कर की प्रतिमाओं से भरी पड़ी हैं। इस प्रकार उत्तर गुप्तकाल में जैन मूर्तिकला के अनेक केन्द्र प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे।

खजुराहो के जैन मन्दिर—खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर नागर शैली का उत्कृष्ट नमूना है। इसका निर्माण काल ९५०-७० ई० के लगभग राजा धंग का शासन-काल है। खजुराहो के सुप्रसिद्ध लक्ष्मण मन्दिर की अपेक्षा इस मन्दिर की वास्तु-कला अधिक विकसित है। इस मन्दिर में उर श्रृंगों की दो और कर्ण श्रृंगों की तीन पंक्तियाँ देखने को मिलती हैं। इसकी जंघा में तीन मूर्ति पंक्तियाँ हैं और सबसे ऊपरी पंक्ति में विद्याधरों और उनके युग्मों के चित्रण हैं। इस मन्दिर की जंघा में उत्कीर्ण अप्सराएँ अथवा सुर-सुन्दरियाँ मूर्तिकला एवं शिल्पीकरण के अलौकिक लालित्य की परिचायक हैं। शिशु को दुलराती, पत्र लिखती, नन्हीं मानव आकृति द्वारा पैर से काँटा निकलवाती, श्रृंगार-प्रसाधन करती आदि अप्सराएँ विशेष दर्शनीय हैं। जैनधर्म से सम्बद्ध मूर्तियों के अतिरिक्त इस मन्दिर में वैष्णव चित्रण की प्रचुरता है। वैष्णव मूर्तियों के साथ-साथ शिव, काम-रति, दिक्पाल, नवग्रह आदि भी चित्रित हैं। पार्श्वनाथ मन्दिर सान्धार प्रासाद है, फिर भी इसमें कक्षासन नहीं है। प्रदक्षिणा पथ में मन्द प्रकाश के संचार हेतु साधारण गवाक्ष हैं। इस मन्दिर का निजी वैशिष्ट्य गर्भगृह के पीछे एक अतिरिक्त छोटे मन्दिर का संयुक्त होना है।

खजुराहो में प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ का मन्दिर भी है। इसका शिखरयुक्त गर्भगृह और अन्तराल मात्र अवशिष्ट है। यह मन्दिर एक निराधार प्रासाद है। सामान्य योजना, निर्माण-शैली तथा मूर्तिकला की दृष्टि से यह वामन मन्दिर के समान है। इसका शिखर वामन मन्दिर के शिखर के समान भारी नहीं है किन्तु सन्तुलन की दृष्टि से कुछ अधिक विकसित है। इसका निर्माण काल १०८५ ई० के लगभग अनुमानित है।

दक्षिण में जैन मूर्तिकला का विकास—टी० एन० रामचन्द्रन के शब्दों में दक्षिण में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का इतिहास द्रविड़ों को आर्यसभ्यता का पाठ पढ़ाने का ही इतिहास है। इस महान् अभियान का प्रारम्भ तीसरी शती ईसा पूर्व में आचार्य भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा से हुआ। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य इस यात्रा में साथ रहा और उसी समय से जैन कला और साहित्य की गतिविधियाँ दक्षिण में परि-लक्षित होती हैं। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में सातवाहन राजाओं ने मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा स्थापित की। छठी शताब्दी ईसवी में कवि रविकीर्ति द्वारा अइहोल में विशाल जैन मन्दिर का निर्माण हुआ। चालुक्यवंशी राजाओं के समय में अइहोल तथा

---

१. इस मन्दिर के ललाट बिम्ब में चक्रेश्वरी यक्षी तथा रथिकाओं और द्वारशाखाओं में अन्य जैन मूर्तियाँ हैं।

बदामी में अन्य भी अनेक मन्दिरों, मूर्तियों तथा गुफा मन्दिरों का निर्माण हुआ। यहाँ की विशाल अम्बिका मूर्ति भी कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। कर्नाटक में जैनकला के लिए स्वर्ण युग का प्रारम्भ गंगवंश के राज्य-काल से हुआ। इस वंश के राजाओं ने अनेक स्थानों पर जैन मूर्तियाँ, मन्दिर और गुफाएँ बनवाईं। इस वंश के एक प्रतापी राजा मारसिंह तृतीय (९६१-९७४ ई०) के स्वनाम धन्य सेनापति श्री चामुण्डराय हुए, जिनके द्वारा श्रवणबेलगोला की अद्भुत गोम्मटेश्वर प्रतिमा का निर्माण कराया गया। यह विशाल एवं सौम्य प्रतिमा ५७ फीट ऊँची है। यह मूर्ति आकार में ही ऊँची नहीं है वरन् शरीर सौष्ठव, अनुपात, कला और भाव प्रवणता की ऊँचाइयाँ भी जितनी इस महान् मूर्ति में पाई हैं, उतनी अन्यत्र देखने में नहीं आतीं। यह प्रतिमा अपनी महानता और विशिष्टता के कारण संसार के आश्चर्यों में गिनी जाती है।

बाहुबलि की विशाल खड्गासन मूर्तियों की स्थापना दक्षिण भारत की अपनी विशेषता रही है। अइहोल और बदामी की गुफाओं तथा मन्दिरों में छठवीं-सातवीं शताब्दी में निर्मित बाहुबलि की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। आठवीं, नवमी और दसवीं शताब्दी में एलोरा की महान् जैन गुफाओं का तक्षण हुआ जो जैन कला का एक अद्वितीय उदाहरण है। यहाँ भी बाहुबलि की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ हैं।[1] परवर्ती काल में भी अनेक विशाल जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ।

---

१. भारतीय मूर्तिकला के विकास में जैनों का योगदान, कवि नीरज।

९ भारतीय कला की अन्तिम दीप्ति

एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण—सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् एकछत्र राज्य के छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो जाने के कारण हिन्दू राज्यश्री क्षीण होने लगी। आठवीं से बारहवीं शती प्राचीन इतिहास का अन्तिम काल कहा जाता है। इस काल में कन्नौज, मगध, मालवा, जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड), अजमेर आदि राज्य महत्व में आए और धीरे-धीरे मुसलमान आक्रमणकारियों के शिकार बने। इनके शासक राजपूत थे। कुछ अंग्रेज विद्वान तो राजपूतों को शकादि विदेशी आक्रमण-कारियों की सन्तति बतलाते हैं। किन्तु भारतीय मत उनको अग्निकुल से उत्पन्न मानता है इसमें, प्रचलित पंवार, सोलकी और चौहान राजवंश थे। (ओझा जी चौहान आदि की अग्नि से उत्पत्ति को चन्दवरदाई की कल्पना मानते हैं।) शायद उनकी शुद्धता और पवित्रता प्रकट करने के लिये यह कल्पना की गई हो। वास्तव में वे वैदिक क्षत्रियों की ही संतान हैं। वैदिक धर्म के क्षत्रिय सब नष्ट नहीं हो गये थे। विदेशियों से अथवा भ्रष्ट क्षत्रियों से इनका सम्मिश्रण चाहे हुआ हो यह बात दूसरी है।

राजाओं की सम्मिलित शक्ति भी सुबुक्तगीन को न हरा सकी। उसके बाद उसके लड़के महमूद गजनी ने सत्रह बार हमले किये। सौराष्ट्र के सोमनाथ के मन्दिर को इसी ने विध्वंस किया। इसके बाद बख्तियार खिलजी और शाहबुद्दीन गोरी के हमले हुए। शाहबुद्दीन गोरी को कई बार पृथ्वीराज से हारना पड़ा, किन्तु अन्त में पृथ्वीराज न जीत सका।

इस प्रकार मुसलमान शासन की नींव पड़ी। इस काल में साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से कुछ नाम उल्लेखनीय हैं। बंगाल के लक्ष्मणसेन, जिनके समय में जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की, मालवा में मुंज और भोज, जो कवियों को आश्रय देने में दूसरे विक्रमादित्य कहे जाते हैं, बुन्देलखण्ड में यशोवर्मन और धंग (९५० ई०–९९९ ई०) जिनके समय में खजुराहो के मन्दिर बने और पृथ्वीराज जिनके सम्बन्ध में पृथ्वीराज रासो लिखा गया, काश्मीर के ललितादित्य जिन्होंने मार्तण्ड का मन्दिर बनवाया था, आदि देदीप्यमान विभूतियों को भुलाया नहीं जा सकता है। (काश्मीर का इतिहात हमको विल्हण की राजतरंगिणी में मिलता है) ग्यारहवीं शती

का बहुत कुछ हाल हमको उस काल में हुए मुस्लिम विद्वान् अलबेरूनी की पुस्तक से मिलता है।

उत्तर की कला : दिलवाड़ा के जैन मन्दिर—इस काल में वास्तुकला ने बहुत उन्नति की। आबू पहाड़ पर दिलवाड़ा के जैन मन्दिर-समूह सामग्री और कला की दृष्टि से अनुपम हैं। उस तरह की कला के मन्दिर तो खजुराहो में भी हैं, किन्तु दिलवाड़ा के मन्दिर अशिखरान्त संगमरमर के बने हुए हैं। इनमें विमलशाह वैश्य द्वारा सन् १०३२ में बनवाया हुआ आदिनाथ जी का मन्दिर मुख्य है। एक और मन्दिर प्रायः २०० वर्ष पीछे बना है।

यह पालबन्धु (तेजपाल और वास्तुपाल) द्वारा १२३२ ई० में बनवाया गया है। इन मन्दिरों में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के निर्माण में मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। तीर्थङ्करों की मूर्तियों पर वैराग्य और शान्ति की अद्भुत छटा विराजमान है। इनके भीतर बेलबूटों की नक्काशी और जालियों का कटाव अद्भुत है।

विमलशाह और पालबन्धुओं के दिलवाड़ा के जैन मन्दिर आयताकार हैं। विमलशाह के मन्दिर का प्रवेश द्वार अर्धगोलाकार मण्डप में है। भीतर छः स्तम्भों पर स्थित एक वर्गाकार मण्डप है जिन पर दस विशाल हाथियों के चित्र खुदे हैं। सामने निर्माता की मूर्ति है उसके बाद तीन सीढ़ियों का समोशरण है। दाहिनी ओर दरवाजे के सामने तीर्थङ्कर आदिनाथ की मूर्ति है। मन्दिर का ऊपरी भाग शिखर सरीखी शुण्डाकार (पिरोमेडिकल) छत से ढका है। गर्भगृह के सामने वर्तुलाकार आठ स्तम्भों का सभामण्डप है। बाहर बरामदे में ४८ बड़े दर्शनीय स्तम्भ हैं। उसके भीतर छोटे-छोटे स्तम्भ हैं जिनके आधार पर ५२ गर्भगृह सरीखे मण्डप हैं। उनके नीचे आदिनाथ की पद्मासन-मूर्तियाँ हैं।[1]

पालबन्धुओं का मन्दिर भी उपर्युक्त जैसा ही कलात्मक है। डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त ने इन दोनों मन्दिरों की वास्तुकला की बड़ी सुन्दर समीक्षा प्रस्तुत की है, देखिए—"इन दोनों मन्दिरों का चप्पा-चप्पा अलंकृत है। उनके सारे अलंकरण और मूर्तियाँ एक-सी हैं अर्थात् उनमें एक ही अलंकरण और एक ही रूप बार-बार दुहराये गये हैं। उनमें ऐसी विलक्षण जालियाँ, पुतलियाँ, बेल-बूटे और नक्काशियाँ की गई हैं कि देखने वाले दंग रह जाते हैं। संगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है कि ऐसा जान पड़ता है कि शिल्पियों ने पत्थर को गलाकर मोम कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी कुशल सुनार ने रेती से रेत-रेतकर आभूषण बनाये हों। यदि कवि की भाषा का प्रयोग करें तो कहना होगा कि रेशम की बनी हुई झालरें और जालियाँ पथरा गई हों। उनकी छतों की सुन्दरता अवर्णनीय है। उनमें नृत्य की भावभंगिमायुत पुतलियों और संगीत मण्डलियों के अतिरिक्त संगमरमर का

---

१. डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त : **भारतीय वास्तुकला**, प्र० सं०, पृ० १०७।

एक झाड़ भी लटक रहा है जिसकी एक-एक पत्ती में बारीक कटाव है । इन मन्दिरों के दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता है कि वे इन्द्रलोक अथवा स्वप्न के किसी अद्‌भुत लोक में विचरण कर रहे हैं । हम मुगलकालीन ताजमहल की प्रशंसा करते नहीं थकते किन्तु हम इन मन्दिरों की ओर तनिक भी ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि इनके सामने ताजमहल कुछ भी नहीं है ।" जैन मन्दिरों में अश्लील मूर्तियों का अभाव है । इससे उनकी सुसंस्कृति प्रकट होती है ।

आबू के मन्दिरों की प्रशंसा करते हुए प्रसिद्ध शिल्प-ज्ञानी फरगुसन ने लिखा है "आबू के मन्दिरों में, जो संगमरमर के बने हुए हैं, अत्यन्त परिश्रम सहन करने वाली हिन्दुओं की टाँकी से फीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ बनाई गई हैं कि उसकी नकल कागज पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका ।"[1]

अन्य जैन मन्दिर—उत्तर के अन्य जैन मन्दिरों में तरङ्ग (सिद्धपुर), गिरनार (काठियावाड़), शत्रुञ्जय और पालीटाणा (गुजरात) के मन्दिर प्रसिद्ध हैं । सिद्धपुर का अजितनाथ मन्दिर कुमारपाल द्वारा बनवाया गया । गिरनार का नेमिनाथ तीर्थङ्कर का मन्दिर १२७८ ई० से पूर्व का है । १२७८ ई० में उसका जीर्णोद्धार हुआ था । वहीं एक अन्य मन्दिर दिलवाड़ा मन्दिर के निर्माता पालबन्धुओं द्वारा निर्मित है । गिरनार के विशाल मन्दिर में स्तम्भयुत मण्डप में ७० गर्भगृह हैं ।

आबू पहाड़ का तेजपाल जैन मन्दिर

1. Pictures Illustrations of Architecture in Hindustan,
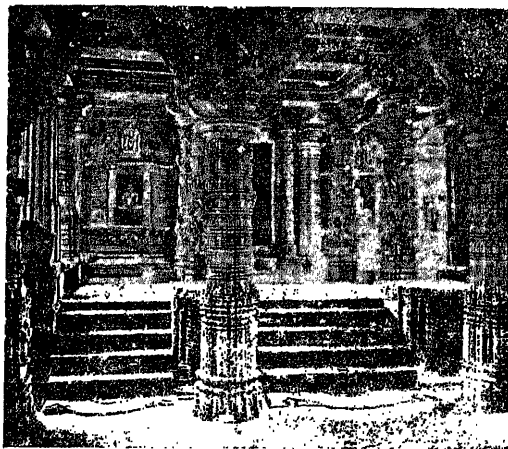
शत्रुञ्जय में कुछ प्राचीन मन्दिर चतुर्थ शताब्दी के हैं किन्तु अधिकांश विद्यमान मन्दिर १५०० ई० के बाद के हैं।

उड़ीसा मन्दिर-शैली—यह आर्य तथा द्रविड़ शैली का मिश्रित रूप प्रस्तुत करती है। इस शैली के मन्दिरों के शिखर के अन्तिम सिरे पर शेर की आकृति बनी होती थी। उड़ीसा की प्राचीन राजधानी भुवनेश्वर में यात्रियों ने ही बहुत से मन्दिरों का निर्माण कराया। इनमें अलंकारिकता एवं विशालता पर अधिक ध्यान है।

उड़ीसा के मन्दिर—इसी शैली के मन्दिरों में उड़ीसा में भुवनेश्वर का श्रीलिंगराज का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। यह ५२० × ४६५ वर्गफुट में है। इस मन्दिर का विमान (गर्भगृह जहाँ प्रधान मूर्ति विराजती हैं) के ऊपर का शिखर १८० फुट ऊँचा है। इसको महाराज ललाटेन्दुकेशरी (६१७-६५७ ई०) ने बनवाया था। इस प्रधान मन्दिर के अतिरिक्त और भी बहुत से मन्दिर हैं जिनमें शिवलिंग स्थापित हैं। दूसरा उल्लेखनीय मन्दिर मुक्तेश्वर का है। यह उड़ीसा की कला का आदर्श है। इसको सुन्दर प्राकृतिक पृष्ठभूमि भी मिली है, जिससे इसकी रमणीयता और भी बढ़ गई है। भुवनेश्वर का लिंगराज का मन्दिर दसवीं शती है। खजुराहो की भाँति इसमें भी अश्लील मूर्तियाँ हैं जो कामशास्त्र और तन्त्रशास्त्र के सम्मिलित प्रभाव की द्योतक हैं। कुछ लोगों का विचार है कि कुदृष्टि से बचाने के लिये ये अश्लील मूर्तियाँ बनाई गई हैं। यद्यपि वे अश्लील हैं किन्तु मूर्तिकला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

उड़ीसा में दो मन्दिर और उल्लेखनीय हैं—एक जगन्नाथपुरी का और दूसरा कोणार्क का सूर्य मन्दिर। जगन्नाथपुरी की ख्याति का वर्णन फाहयॉन ने भी किया है। इसमें जगन्नाथ (कृष्ण), बलराम और सुभद्रा की मूर्तियाँ हैं। इस मन्दिर के विमान की ऊँचाई २१४ फुट ८ इंच है। भुवनेश्वर के लिंगराज के मन्दिर की भाँति इसमें चार भाग हैं—(१) विमान जिसमें प्रधान देवता विराजमान किये जाते हैं। (२) जगमोहन, जहाँ भक्त लोग खड़े होकर दर्शन करते हैं। (३) नट मन्दिर, जिसमें नाट्य आदि होते हैं और (४) भोग मन्दिर।

कोणार्क क्षेत्र जगन्नाथपुरी से २१ मील है। यहाँ सूर्य मन्दिर के तीन भाग हैं—विमान, जगमोहन और भोगमण्डप। नाटक मन्दिर भी अब बालू से खोदकर निकाला गया है। इसमें विमान और जगमोहन को मिलाकर रथ का आकार दिया गया है। इस रथ के पहियों की बनावट विशेष रूप से सुन्दर है।

मन्दिर वास्तु की साधारणतः चार शैलियाँ प्रचलित हैं : (१) नागर—नागर शैली के मन्दिर चौपहले या वर्गाकार होते हैं। 'कालिकागम' में आधार से शिखर तक उसके लक्षण इस प्रकार दिये हैं, ऊँचाई में अष्टवर्ग-मूल, मसूरक, जंघा (दीवारें), कपोत (कोर्निस), शिखर, गल (गदरन) वर्तुलाकर आमलसारक (आमलक) और कुम्भ (शूल सहित कलश)। बृहत्संहिता से भी पूर्व मन्दिरों की नागर शैली प्रचलित रही है। खजुराहो मन्दिरों में नागर शैली पराकाष्ठा पर पहुँच गई है।

(२) **द्राविड़ शैली**—द्रविड़ देश की, इनमें मन्दिरों का निचला भाग वर्गाकार, मस्तक गुम्बदाकार छःपहला या आठपहला। इस शैली के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर का भागविमान सीधा पिरामिडनुमा होता है। उसमें कितनी ही मंजिलें होती हैं और मस्तक पीपे या गुम्बद के आकार का होता है।[1] आँगन का मुख्य द्वार गोपुर बहुत ऊँचा होता है तथा प्रधान मन्दिर के शिखर तक को छिपा लेता है। वृन्दावन का 'रंगजी का मन्दिर' इसी शैली का है।

(३) **बेसर शैली या मिश्रक शैली**—नागर और द्राविड़ क्षेत्रों के बीच इस शैली के मन्दिर बरार (प्राचीन विदर्भ) में फैले हैं। यह नागर और द्राविड़ की मिश्रित शैली है। इसमें योजना द्राविड़ शैली की और रूप में नागर शैली रहती है, जैसे होयसल राजाओं के मैसूर के मन्दिर।

(४) **मिश्र शैली**—इसमें उपर्युक्त तीनों शैलियों का मिश्रण है।

खजुराहो की नागर मन्दिर शैली

खजुराहो-मन्दिर नागर-वास्तु के बड़े उज्ज्वल स्वरूप हैं और अपने विशिष्ट लक्षणों के कारण वे भारतीय वास्तु-कला के विकास में एक महत्वपूर्ण तत्त्व संविहित करते हैं। खजुराहो चंदेल राजाओं की राजधानी एवं भव्य नगर था, जो आज भग्नावशेष रूप में पड़ा है। प्राचीन विन्ध्य प्रदेश और आज के मध्यप्रदेश के अन्तर्गत जिला छतरपुर (भूतपूर्व छतरपुर राज्य) में स्थित खजुराहो गाँव अपने मन्दिरों के लिए विख्यात है। यहाँ नवीं से बारहवीं शती के बीच बने हुए नागर शैली के मन्दिर वास्तु-कला एव मूर्ति-कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। ये भारत के अन्य समान रूप, वास्तु एवं मूर्ति-कला की उपलब्ध सम्पदाओं में अद्वितीय हैं। खजुराहो गाँव आज खजुराहो-सागर अथवा निनोरा ताल नामक झील के दक्षिण-पूर्वी कोने में बसा है। आज यह भग्नावशेष गाँव आठ मीलों में बिखरा हुआ है, एक प्रकार से मन्दिरों की नगरी है। यहाँ शैव, वैष्णव तथा जैन मन्दिर मिलते हैं। चन्देल लोग प्रारम्भ में कन्नौज के गुर्जर-

हरिहर मूर्ति खजुराहो

1. Kumaraswamy : *History of Indian & Indonesian Art*, p. 107.

प्रतिहार सम्राटों के सामन्त थे। नन्नुक (८२५-८४० ई०) या चन्द्रवर्मा इस वंश का प्रथम राजा (कन्नौज का सामन्त) था। चन्देल वंश का प्रथम महत्वपूर्ण राजा हर्षदेव (९०५-९२५) हुआ जिसके यशस्वी पुत्र यशोवर्मन् (९२५-९५० ई०) ने चन्देल साम्राज्य का निर्माण किया और अपनी विजयोपलब्धियों की प्रसन्नता में ९५४ ई० में भव्य **विष्णु मन्दिर** (वर्तमान लक्ष्मण मन्दिर) का निर्माण खजुराहो में कराया। स्थापत्य कला की दृष्टि से विष्णु मन्दिर अपने युग का भारत का सर्वाधिक विकसित एवं अलंकृत मन्दिर था। इस मन्दिर की वैकुण्ठनाथ की प्रतिमा अपनी विलक्षणता एवं रचना सौष्ठव के कारण दर्शनीय है।

यशोवर्मन् का पुत्र धंग (९५०-१००८ ई०) महान् वीर एवं प्रतिभाशाली शासक होने के साथ ही कला तथा स्थापत्य का भी संरक्षक था। उसने खजुराहो में **विश्वनाथ** के सुप्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया। उसके द्वारा सम्मानित राहिल ने **पार्श्वनाथ** का मन्दिर बनवाया। इसके गर्भगृह के पीछे एक अतिरिक्त छोटा मन्दिर संयुक्त है। इसमें कक्षासन का अभाव है। इस मन्दिर की जंघा में उत्कीर्ण अप्सराएँ अथवा सुर सुन्दरियाँ मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वे शिल्पीकरण के अलौकिक लालित्य के परिचायक हैं। इसमें वैष्णव मूर्तियों के साथ-साथ शिव, काम-रति, दिक्पाल, नवगृह आदि भी चित्रित हैं। धंग के पुत्र गंड के शासनकाल में जगदम्बा और चित्रगुप्त के मन्दिर बने। गंड का पुत्र विद्याधर (१०१७-१०२९) अपने समय का सर्वाधिक शक्तिशाली राजा था। उसी ने खजुराहो का विशालतम और श्रेष्ठतम **कन्दरिया महादेव** का मन्दिर बनवाया। यह एक विशाल चबूतरे पर बना है। इसकी लम्बाई १०२ फुट ३ इंच, चौड़ाई ६६ फुट १० इंच और ऊँचाई १०१ फुट ९ इंच है। इसके प्रायः सभी पार्श्व मूर्तियों से अलंकृत हैं। कम से कम ८७२ मूर्तियाँ बाह्य पार्श्वों पर अंकित है। इसमें गज, अश्व, योद्धा, आखेटक, नट, विविध वाद्य-यन्त्रों से युक्त संगीतज्ञ, नर्तक-नर्तकियाँ, भक्त, मिथुन आदि नाना प्रकार के दृश्य उत्कीर्ण हैं। अधिष्ठान के कलश और कुम्भ में छोटी-छोटी रथिकाएँ हैं, जो युग्मों की प्रतिमाओं से मण्डित हैं। जंघा में तीन मूर्ति पंक्तियाँ हैं जिनमें देव-देवियाँ, मिथुन, अप्सराएँ, सुर-सुन्दरियाँ, शार्दूल, नाग-नागी आदि हैं। इनमें खजुराहो मन्दिर के पूर्ण विकसित अंगों का समन्वय है। ये भाग इस प्रकार हैं (१) गर्भगृह, जिसमें देवमूर्ति विराजमान रहती है। (२) अन्तराल। (३) महामण्डप। (४) मण्डप। (५) अर्ध-मण्डप। इसके द्वार का तोरण बहुत अलंकृत है। छतों के बड़े सुन्दर गोलाकार अलंकरण हैं। इसके शिखरों की क्रमशः उतरती हुई श्रेणियाँ कैलाश का आभास देती हैं (चित्र पृष्ठ २७२ पर देखिये)। मंदिरों का बाहुल्य बौद्ध धर्म के पश्चात् हिन्दू और जैन धर्मों के पुनर्जीवन जन्य उत्साहाधिक्य का द्योतक है। कण्डरिया महादेव का हिन्दू मन्दिर तीन स्तम्भ युक्त कक्ष वाला है। सभी कमरों पर वृत्ताकार गुम्बज निर्मित हैं, जिनके भीतरी भाग में कमल बना है। शिखर सबसे ऊपरी भाग में है जहाँ कलश के स्थान पर सुन्दर प्रस्तर हैं। गर्भगृह के ऊपर चौकोर शिखर का निर्माण है जो आर्य शैली
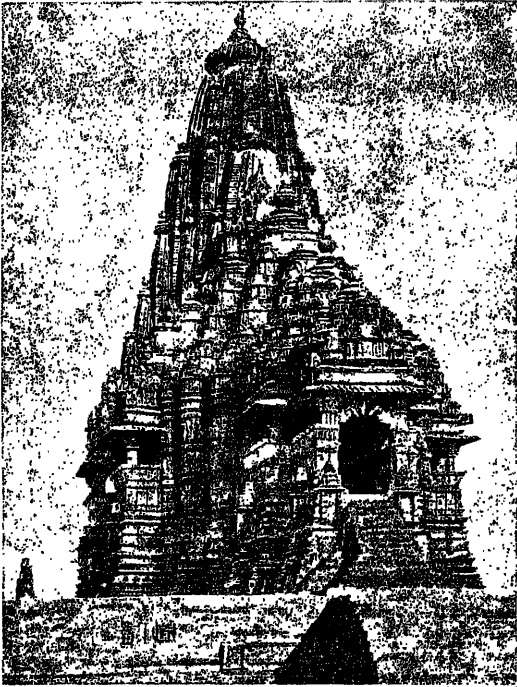
कंडरिया महादेव खजुराहो

के आधार पर बना है। इन शिखरों पर सुन्दर पच्चीकारी है। ये मन्दिर बहुत ऊँचे नहीं हैं। दीवारों में ताख बने हैं जिनमें मूर्तियाँ स्थिर की जाती थीं। गर्भगृह एक वर्गाकार प्रकोष्ठ है जिसमें संगमरमर का शिवलिंग है।

खजुराहो-मन्दिरों में नागर शैली पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। आकार-सौन्दर्य और मूर्ति-सम्पदा की दृष्टि से ये भारत के समान रूप अन्य सब स्मारकों में अद्वितीय हैं। चौंसठ-योगिनी, ब्रह्मा और लालगुआं-महादेव को छोड़कर प्रायः सब मन्दिर केन नदी के पूर्वी तट पर स्थित पन्ना की खानों से लाये गये मटियाले, पीले

अथवा गुलाबी रंग के रेतीले पत्थर द्वारा निर्मित हुए हैं। चौंसठ योगिनी मन्दिर पूर्णतया कणाश्म का बना है और ब्रह्मा तथा लालगुआं-महादेव कणाश्म और रेतीले पत्थर की मिश्रित रचनाएँ हैं। ये मन्दिर शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर और जैन सम्प्रदायों के हैं। इनमें कोई भी बौद्ध मन्दिर नहीं है। विभिन्न सम्प्रदायों के होते हुए भी उनकी प्रधान वास्तु एवं शिल्प-योजना समरूप है, यहाँ तक कि उसमें प्रतिष्ठित प्रधान देव-मूर्ति के माध्यम के अतिरिक्त, एक सम्प्रदाय के मन्दिर को दूसरे सम्प्रदाय के मन्दिर से अलग करना कठिन है।
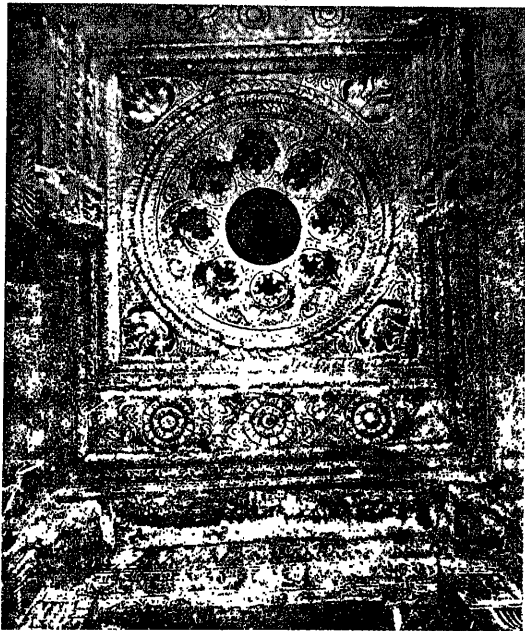
कंडरिया महादेव खजुराहो के मंडप की अलंकृत छत

खजुराहो-मन्दिर तलच्छन्द (Ground plan) एवं ऊर्ध्वच्छन्द (elevation) में वैयक्तिक विलक्षणतायें रखते हैं। ये ऊँची जगती पर स्थित हैं और चहारदीवारी से घिरे नहीं हैं। तलच्छन्द में ये 'लटिन क्रॉस' के आकार के, जिसकी लम्बी भुजा पूर्व से पश्चिम की दिशा में है, दिखाई पड़ते हैं। इनमें तीन प्रधान अंग : गर्भगृह,

मण्डप और अर्धमंडप हैं। गर्भगृह और मण्डप के बीच अन्तराल है। अधिक विकसित कला-शैली के मन्दिरों में प्रदक्षिणापथ से संयुक्त महामण्डप भी देखा जाता है। पृथक रूप से वर्णित उपर्युक्त भाग अलग-अलग दिखाई नहीं देते, किन्तु एक-दूसरे में ओत-प्रोत होने के कारण एक ही सुसंहत वास्तु का रूप धारण कर लेते हैं।

तलच्छन्द के समान मन्दिरों के ऊर्ध्वच्छन्द में भी विलक्षणता है। मन्दिर ऊँची जगती पर स्थित हैं। जगती पर लम्बाकार ऊपर को उठने वाला अधिष्ठान है जिसमें उत्कीर्ण अभिप्रायों का अलंकरण दर्शनीय है। अधिष्ठान के ऊपर जंघा अथवा मन्दिर की बाह्य दीवारे हैं, जिनमें कक्षासन अथवा गवाक्ष हैं। जंघा पर मूर्तियों की दो या तीन समानान्तर पंक्तियाँ हैं। गवाक्ष मन्द प्रकाश के संचार से मन्दिर के अन्दर प्रकाश-मिश्रित अंधकार का पवित्र वातावरण उत्पन्न करने में सहायता पहुँचाते हैं और साथ ही विशाल प्रासाद के एकरस ठोस शरीर में विचित्रता उत्पन्न करते हैं।

मन्दिरों का सर्वोच्च भाग छत-समूह है, जिसकी पराकाष्ठा एक मनोहर शिखर में होती है। अर्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप की पृथक्-पृथक् कोणस्तूपाकार (Pyramidial) छतें हैं। सबसे छोटी अर्धमण्डप की छत से प्रारम्भ होकर, उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई, अन्त में गर्भगृह के उत्तुंग शिखर में समाप्त हो, ये पर्वत शृंखला-सी (कैलास अथवा मेरु) प्रतीत होती हैं। शिखर की चोटी पर बड़ा आमलक, उस पर चन्द्रिकाओं का क्रम, फिर छोटा आमलक, उस पर कलश और अन्ततः बीजपूरक है। प्रधान वक्र रेखाओं के लयबद्ध सन्निवेश से शिखर के आकार का मनोरम रीति से निर्माण किया गया है और बड़े शिखर की मूलमंजरी के चारों ओर पुंजीभूत उरः शृगों की व्यवस्था से मन्दिर को ऐसे अलौकिक वास्तु के रूप में परिणत कर दिया है कि इसके शरीर में वैचित्र्य तथा गांभीर्य के भावों को बल मिला है। खजुराहो-शिखर का अधिकांश सौन्दर्य इन्हीं उरः शृंगों की रचना और व्यवस्था पर आधारित है।

मन्दिरों का तलच्छन्द धार्मिक क्रियाकलापों की आवश्यकता के अनुरूप है। मन्दिर में प्रवेश करने के लिए पूर्व की ओर एक ऊँचा सोपान पथ है। द्वार पर अत्यन्त अलंकृत मकरतोरण है, जिससे मनुष्य अर्धमण्डप में प्रवेश करता है। यह प्रवेश द्वार स्थापत्य-कला की अत्युत्कृष्ट रचना है, जो पर्सी ब्राउन के अनुसार तराशे प्रस्तर की अपेक्षा हाथी-दाँत की नक्काशी अथवा लटकता हुआ वस्त्र विन्यास अधिक प्रतीत होता है।[2] अर्धमण्डप साधारण आयताकार मार्ग-सा है, जो बड़े मन्दिरों में मण्डप के रूप में अधिक विस्तृत हो गया है। तीन ओर से खुले अर्धमण्डप और मण्डप कक्षासन से घिरे हैं। उनकी छतें कक्षासन के आसनपट्टों पर स्थित छोटे-छोटे स्तम्भों पर आश्रित हैं। मण्डप के पश्चात् महामण्डप आता है, जिसमें पार्श्वीय पक्षा-

1. Brown, P.,: *Indian Architecture*, p. 135. 2. *Ibid.*, p. 136.

वकाश हैं। सान्धार प्रासादों (प्रदक्षिणापथ-युक्त मन्दिरों) के प्रदक्षिणापथ में दो अतिरिक्त पक्षावकाश हैं। प्रत्येक पक्षावकाश में एक-एक कक्षासन अथवा गवाक्ष है। इनके अतिरिक्त प्रदक्षिणापथ में पीछे की ओर भी एक गवाक्ष है। इनसे प्रदक्षिणापथ को प्रकाश मिलता है। महामण्डप में विन्यस्त चार स्तम्भ वितान (ceiling) को आश्रय देते हैं। महामण्डप अन्तराल के द्वारा गर्भगृह से जुड़ा है। अन्तराल में लगे एक अथवा अनेक चन्द्रशिला सोपानों द्वारा गर्भगृह के अलंकृत द्वार तक पहुँचा जाता है। मन्दिरों के वितान की कल्पना और कल्पना की अभिव्यक्ति अत्यन्त कुशलता एवं प्रौढ़ कला-दृष्टि से की गई है। खजुराहो के कुछ मन्दिर पंचायतन शैली के हैं अर्थात् इनमें मध्यवर्ती प्रधान मन्दिर के अतिरिक्त जगती के चारों कोनों पर एक-एक गौण मन्दिर है।[1]

खजुराहो के प्रमुख मन्दिर ये हैं—चौंसठ योगिनी का मन्दिर, ब्रह्मा और लालगुहाँ महादेव का मन्दिर, मातंगेश्वर का मन्दिर, वराह मन्दिर, लक्ष्मण मन्दिर, पार्श्वनाथ मन्दिर, विश्वनाथ और नन्दी मन्दिर, जगदम्बी और चित्रगुप्त मन्दिर, कन्डरिया महादेव का मन्दिर, वामन मन्दिर, आदिनाथ का मन्दिर, जवारी का मन्दिर, चतुर्भुज का मन्दिर, दूलादेव का मन्दिर और घंटई मन्दिर।

जैन मन्दिरों का वैशिष्ट्य—खजुराहो के जैन मन्दिरों में जिन-मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं और प्रवेश द्वार तथा रथिकाओं में विविध जैन देवी-देवता तथा जंघा में अनेक हिन्दू देव-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इन मन्दिरों के ललाट-बिम्ब में चक्रेश्वरी यक्षी प्रदर्शित है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वर्धमान महावीर की माँ ने स्वप्न में जो सोलह शुभ चिन्ह देखे, वे पार्श्वनाथ के अतिरिक्त सभी जैन मन्दिरों के प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण हैं।

खजुराहो की मूर्तिकला—वास्तु एवं मूर्ति-कला दोनों की दृष्टि से खजुराहो के मन्दिरों का विशेष महत्व है। खजुराहो की मूर्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—(१) मन्दिरों के गर्भगृहों में पूजार्थ प्रतिष्ठित देव मूर्तियाँ। ये परम्परागत हैं। (२) मन्दिर की रथिकाओं एवं जंघाओं में उत्कीर्ण पार्श्व और आवरण में देवताओं की मूर्तियाँ। ये चारों ओर कोर कर बनाई गई हैं। (३) मन्दिरों के विभिन्न भागों में कोर कर बनाई गई अप्सराओं एवं सुर-सुन्दरियों की मूर्तियाँ, जो उत्कृष्ट वस्त्राभूषण से अलंकृत हैं। ये खजुराहो की सर्वोत्तम मूर्तियाँ हैं। इनकी आकर्षक भाव-भंगिमाएँ दर्शनीय हैं। इनके अंग मनोहर हैं, मुख मुद्रा आन्तरिक तीव्र मनोवृत्तियाँ एवं उद्वेलित भावों की परिचायक हैं। ये अप्सरा मूर्तियाँ अंगड़ाई लेती, शिशु को दुलारती, पत्र लिखती, नेत्रों में सुरमा लगाती आदि विभिन्न रूपों में प्रदर्शित हैं, और शिल्प की मनोरम कृतियाँ हैं। (४) धर्मेतर मूर्तियाँ विविध विषयात्मक हैं यथा आखेट, परिवार के दृश्य

---

१. उपर्युक्त विवेचन **डा० रामाश्रय अवस्थी** के शोध प्रबन्ध से साभार उद्धृत है।

कार्यरत श्रमिक, मिथुन युगल, संगीत-नृत्य में तल्लीन नर-नारियाँ। (५) पशु मूर्तियाँ जिनमें शार्दूल प्रमुख है। शार्दूल खजुराहो कला का लोकप्रिय विषय है।

निष्कर्ष : मध्ययुगीन कला—डा० रामाश्रय अवस्थी के शब्दों में खजुराहो की मूर्तिकला में "गुप्तकला की विशेषताओं का प्रचुर प्रभाव होते हुए भी, अनिवार्यतः यह मध्ययुगीन कला है। मध्यभारत के केन्द्र में स्थित होने के कारण खजुराहो के द्वार सदैव पूर्वी और पश्चिमी कलात्मक प्रभावों के लिए खुल रहे हैं और इसीलिए यह कला पूर्वी और पश्चिमी भारतीय कलाओं के मनोरम समन्वय के रूप में प्रस्फुटित हुई है। भव्यता, भावों की गहनता और शिल्पी की आन्तरिक भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इस कला की तुलना गुप्त-कला से नहीं की जा सकती, किन्तु जिस ओजस्विता से यह कला स्पन्दित है, वह आश्चर्यजनक है। मन्दिर-दीवारों पर उभरी हुई मूर्तियाँ साकार सौन्दर्य के मनभावन गीत-सी लगती हैं। सभी दृष्टियों से खजुराहो मूर्तियाँ उड़ीसा की मूर्तियों से अधिक परिष्कृत हैं और उनके शरीर की पर्यन्त रेखाएँ अधिक जटिल एवं भावपूर्ण हैं। वस्तुतः खजुराहो कला समकालीन कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है।"[1]

खजुराहो के मन्दिरों में उत्कीर्ण हिन्दू तथा जैन देवी-देवताओं एवं तीर्थङ्करों, अप्सराओं अथवा सुर-सुन्दरियों, मिथुनों, पशुओं तथा जन-जीवन के विविध विषयों की सहस्रों मनभावन मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। उनके सूक्ष्म अवलोकन से भारतीय प्रतिमा विज्ञान के विकास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। खजुराहो-शिल्पी शास्त्र पारंगत ही नहीं थे, वरन् वे भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित प्रतिमा-निर्माण की परम्पराओं से भी अवगत थे। देव प्रतिमाओं के रचने में उन्होंने शिल्प-शास्त्रों से मार्गदर्शन तो लिया ही है, साथ ही अपनी मौलिक कल्पना-शक्ति के आधार पर नूतन लक्षण-लाञ्छनों को जन्म देने में भी वे नहीं चूके हैं। इसीलिये ये मूर्तियाँ जहाँ एक ओर शास्त्रीय लक्षण-लाञ्छनों की सीमा में बँधी मिलती हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें नवीनता और मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। कुछ विलक्षण मूर्तियाँ तो उनकी नितान्त मौलिक कृतियाँ प्रतीत होती हैं, क्योंकि ऐसी प्रतिमाएँ अन्यत्र दुलर्भ हैं और इनका कोई प्रत्यक्ष शास्त्रीय आधार भी नहीं प्राप्त होता। यह भी सम्भव है कि वे शिल्प-शास्त्र अब तक लुप्त हो गये हों, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है। वस्तुतः प्रतिमा-विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से खजुराहो उत्तर भारत में एक अद्वितीय केन्द्र है।[2]

---

1. "In fact, this art excels all other contemporary schools of art in the vivid portrayal of human moods and fancies which are often expressed through the medium of gestures and flexions with a subtle but purposive sensuous provocation. Coquettish languoor and frankly erotic suggestion from the key-notes which distinguish the Khajuraho art from the contemporary schools of art." Sri Krishana Deva. (A. I. No. 15., p. 64.)

२. खजुराहो की देव प्रतिमाएँ—आमुख, पृ० ९-१०.

खजुराहो के मन्दिरों में उत्कीर्ण मूर्तियाँ प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से और भी महत्त्व की हैं। हिन्दू और जैन धर्मों से सम्बन्धित विविध देव-मूर्तियों की झाँकी देखते ही बनती है। शिव के विभिन्न शान्त और उग्र रूपों की अनेक मूर्तियाँ, शैव मन्दिरों में ही नहीं, वरन् वैष्णव और जैन मन्दिरों में भी उत्कीर्ण हैं। गणेश और कार्तिकेय के अनेक रूप भी चित्रित हैं। शक्ति के अनेक रूपों, जैसे दुर्गा, पार्वती, भैरवी, काली, सप्तमातृकाओं आदि के चित्रण तो देखते ही बनते हैं।

वैष्णव मूर्तियों में विष्णु की अनेक प्रकार की स्थानक आसन और शयन मूर्तियाँ तथा उनके अनेक अवतार—मत्स्य, कूर्म, बराह, नृसिंह, वामन, राम, परशुराम, बलराम और कृष्ण—उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सूर्य, ब्रह्मा और सरस्वती की विविध मूर्तियों का भी अभाव नहीं है। दुर्लभ मूर्तियों में शंख, चक्र और पद्म पुरुष; विष्णु के हयग्रीव, करिवरद, बैकुण्ठ, अनन्त तथा विश्वरूप नारसिंही; गोधासना पार्वती; और सिंहवाहिनी गजलक्ष्मी विशेष दर्शनीय हैं। मनोरम आलिंगन-मूर्तियों की छटा तो देखते ही बनती है। श्रीकृष्णदेव ने सर्वथा उचित लिखा है कि खजुराहो में जितने अधिक देवता अपनी शक्तियों के साथ आलिंगन रूप में प्रदर्शित हैं, उतने अन्यत्र नहीं।[1]

राजपूत-वास्तुकला—इन मन्दिरों के अतिरिक्त राजपूतों ने बहुत से दुर्ग और प्रासाद बनवाये। चित्तौड़, रणथम्भोर, ग्वालियर आदि के सुदृढ़ दुर्ग तथा जयपुर आदि के महल बने। राजपूत-स्थापत्य का महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ उल्लेखनीय है। बुन्देलखण्ड में ओड़छा के महाराज वीरसिंहजूदेव के बनवाये हुए महल अपनी सादगी में वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सत्रहवीं शती के प्रारम्भ के आस-पास बना हुआ वृन्दावन का गोविन्ददेव का मन्दिर तथा काशी विश्वनाथ का मन्दिर उस समय की कला के अच्छे उदाहरण हैं।

दक्षिण की मन्दिर कला—दक्षिण में चार राज्यों की प्रधानता रही—(१) पाण्ड्यराज्य, जिसमें मदुरा और टिनेविली जिले शामिल हैं। (२) पूर्व की ओर चोल राजाओं का शासन था। इस राज्य में वर्तमान तमिलनाडु और उसके निकट के जिले तथा मैसूर राज्य का अधिकांश भाग सम्मिलित था। (३) चेर अथवा केरल। इसमें वर्त्तमान मलाबार, ट्रावनकोर और कोचीन हैं। चौथी शती के लगभग पल्लवों की चौथी शक्ति का उदय हुआ था। उनके शासन में काँची और मायल्लपुर के मन्दिर बने। दक्षिण के राज्य यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से उत्तर से स्वतन्त्र से रहे, तथापि सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर और दक्षिण में बहुत आदान-प्रदान रहा। श्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा बल्लभाचार्य सभी दक्षिण के ही थे, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को बहुत अंश में प्रभावित किया। दक्षिण की गुफाओं (जैसे अजन्ता) और पहाड़ से काटे हुए मन्दिरों का हम उल्लेख कर चुके हैं। दक्षिण के मन्दिरों की एक विशेषता

---

१. **खजुराहो की देवप्रतिमाएँ**, पृ० २४-२५।

है। वहाँ के मन्दिरों के गर्भगृह या विमान के ऊपर शिखर नहीं होता बल्कि उस पर क्रमशः छोटे होते हुए चार-पाँच या उससे भी अधिक खण्ड होते हैं और एक पिरेमिड का सा आकार बन जाता है। विमान के आगे मण्डप होता है। तीसरा विभाग गोपुर का होता है। यह परकोटे के द्वार के रूप में होता है। कहीं-कहीं यह विमान से भी ऊँचा होता है। चौथा भाग चोलड़ी का होता है। यह स्तम्भों पर खड़ा होता है। इसमें यात्री आकर ठहरते हैं।

ऊपर बताए हुए राज्यों के मुख्य मन्दिरों का यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जाता है। चोल के राज्य में तंजोर के मन्दिर बड़े भव्य और चित्ताकर्षक है। तंजोर के प्रधान शिव मन्दिर की यह विशेषता है कि उसके गोपुर में वैष्णव मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार शैव और वैष्णव सम्प्रदायों का समन्वय किया गया है। यह मन्दिर चौदहवीं शताब्दी का है। इसके परकोटे में शिव के पुत्र सुब्रह्मण्यम का छोटा-सा मन्दिर है। इसके विमान के अन्तिम खण्ड पर चारों ओर नान्दी की मूर्तियाँ और बीच में एक गुम्बजाकार कलश है जिस पर त्रिशूल स्थापित है। शिवजी की नटराज मूर्तियाँ यहाँ की धातुकला की उत्कृष्टता की परिचायक हैं। मैसूर राज्य में अनेक दर्शनीय स्थान हैं। पाण्डु राज्य की राजधानी मदुरा है जो मथुरा का अपभ्रंश है। मदुरा में
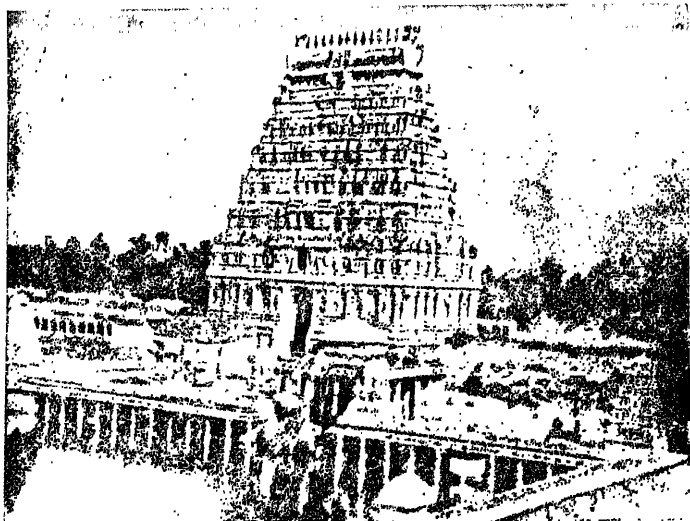
श्री चिदम्बरम के मन्दिर का गोपुर

मीनाक्षी देवी और **गौर सुन्दरेश्वर** शिव के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। **सेतुबन्ध रामेश्वर का** प्रसिद्ध शिव मन्दिर रामेश्वर नामक टापू पर स्थित है। मन्दिर के चारों ओर २२ फीट ऊँचे परकोटे हैं और पटी हुई सड़क भी हैं। ये सड़कें चार हजार फीट लम्बी हैं। यहाँ परकोटे और सोने के स्तम्भ दक्षिण के मन्दिरों की विशेषता है। वृन्दावन के **रंग जी के मन्दिर** में भी ये विशेषताएँ वर्तमान हैं। यहाँ पर रामचरित्र का भी अंकन बहुत सुन्दर हुआ है।

पल्लवों के राज्य में **मामल्लपुर** और **कांची** के मंदिर प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर सातवीं शती के बने हुए मंदिर हैं। कांची के दो भाग हैं—एक शैव कांची और दूसरी विष्णु कांची। विष्णु कांची का मन्दिर पांच परकोटों के भीतर बना हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण की भी वास्तुकला पर्याप्तरूपेण उन्नत और समृद्ध थी।

चिदम्बरम् में **नटराज जी** का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। यह मन्दिर दो घेरों के भीतर ९९ बीघे भूमि पर स्थित है। इसके नौ खण्डे गोपुर दर्शनीय हैं। इन पर मूर्तियों का अंकन भव्य है (चित्र पृष्ठ २७८ पर देखिए)।

दक्षिण की मन्दिर निर्माण की विविध शैलियों का ऐतिहासिक क्रम से परिचय

पल्लव शैली—इस शैली के प्रमुख निर्माता महेन्द्रवर्मन (६००–६२५ ई०) हैं। उन्होंने अर्काट, त्रिचनापल्ली, महाबलीपुरम् आदि में मंदिरों का निर्माण कराया जिनमें वर्गाकार गर्भगृह में शिवलिङ्ग स्थापित होता है। परवर्ती पल्लव मन्दिरों में स्तम्भ और उनके विशाल शीर्ष अपना निजस्व रखते हैं। मम्मलपुर के पंचरथ (मंदिर) पत्थरों को काटकर सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में बने। यद्यपि ये शैव मन्दिर हैं किन्तु इनका नामकरण पंच पाण्डवों के नाम पर हुआ है। इन्हें रथ कहते हैं। पल्लव शैली का पूर्ण विकसित रूप कांचीपुरम के प्रसिद्ध कैलाशनाथ मंदिर (७०० ई०) में मिलता है।

चालुक्य शासक विक्रमादित्य द्वितीय की रानी द्वारा ७४० ई० में निर्मित **पट्टकमल का विरुपाक्ष मन्दिर** एक शिव मन्दिर है। इसमें शिव की स्थापना लोकेश्वर नाम से की गई है। यह पूर्व चालुक्य शैली की सबसे बड़ी देन है। इस पर पल्लव शैली की छाप स्पष्ट है। यह पल्लव शैली के कांचीपुरम् के कैलाशनाथ की अनुकृति जान पड़ता है। मुख्य मन्दिर मण्डप से भिन्न है तथा इसमें प्रदक्षिणा पथ भी है। स्तम्भयुक्त मण्डप में ठोस दीवार है जिसमें पत्थर की जालीदार खिड़कियाँ हैं। इसमें द्रविड़ मन्दिरों की भाँति पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों से बिना किसी प्रकार की जोड़ाई के निर्माण किया गया है। इसका निर्माता गुन्द त्रिभुवनाचार्य उपाधि से विभूषित हुआ।

चोल शैली—इस शैली के मंदिरों में गोपुर का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस शैली का आदर्श नमूना राजा राजदेव द्वारा निर्मित वृहदीश्वर (१००० ई०) का मन्दिर और राजेन्द्र चोल निर्मित गंगई कोंडा चोलपुरम् (१०२५ ई०) के मंदिर हैं।

डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त ने इस मन्दिर के सम्बन्ध में लिखा है—"बृहदीश्वर के मन्दिर में मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त दो गोपुर और एक छोटा सा मन्दिर है। उसका विमान बहुत ही बृहद् आकार का है जिसकी सादगी के साथ-साथ भव्यता अवर्णनीय है। शिखर १४ मंजिला वर्गाकार है और ऊपर को पतला होता गया है और कोने सपाट हैं। प्रत्येक मंजिल पंचरथ से अलंकृत है। इन सबके ऊपर एक स्तूपिका है। इसके सबसे नीचे के खण्ड और गर्भ की ऊँचाई प्राय: समान है। चोलकाल का दूसरा महत्त्वपूर्ण विमान श्रीनिवासनलूर के कोरङ्गनाथ मन्दिर का है जो उपर्युक्त दोनों मन्दिरों से एक शताब्दी पीछे का है।

चोल निर्माताओं के काल में गोपुर-निर्माण का आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे उसने बृहद् आकार धारण करना आरम्भ किया। अन्तत: मुख्य मन्दिर के शिखर को भी ढक लिया। परवर्ती द्रविड़ शैली की यह एक विशेषता समझी जाती है। पाण्ड्य और विजयनगर के शासकों ने इन गगनचुम्बी शिखरद्वारों को गर्वपूर्वक निर्माण कराया।

पाण्ड्य शैली—इस शैली के मंदिरों में भी गोपुर चोल-शैली के समान ऊँचे है। पाण्ड्यकाल (११०२-१३५० ई०) श्रीरंगन, चिदम्बरम्, कुम्भकोणम् और तिरुवन्नमलइ के मंदिरों में गोपुर प्राप्त होते हैं।

चोल और पाण्ड्य काल में प्रचलित द्रविड़ शैली में 'विशाल मण्डपों' के निर्माण की प्रवृत्ति प्रधान रूप से दिखाई पड़ती है। इन मण्डपों के स्तम्भ अत्यधिक अलंकृत हैं। कहीं-कहीं ये मण्डप रथ के रूप में बनाये गये हैं। चिदम्बरम् के मन्दिर के सभामण्डप और मदुरा के अनेक स्तम्भयुक्त मण्डपों से इस बात को भली-भाँति समझ सकते हैं। तिन्नेवल्ली का शिव-मन्दिर भी पाण्ड्य शैली का मुख्य वास्तु माना जाता है। इसके लम्बे बरामदों के स्तम्भ मूर्तियों से अंकित हैं, जिनमें एक में पाण्ड्य शासकों के चित्र अंकित हैं।

चालुक्य शैली—इस शैली का विकास धारवाड़, मैसूर और दक्षिण के पठारों के मन्दिरों में देखा जा सकता है। आरम्भिक चालुक्य शैली (१२ वीं शती) में धारवाड़ जिले के दोम्बल स्थित वसप्पा का मन्दिर है। उत्तरकालीन चालुक्य शैली का विकास मैसूर में हुआ। इस शैली में तेरहवीं शती में सोमनाथपुर का सुप्रसिद्ध केशव मन्दिर बना। चालुक्य शैली के सम्बन्ध में डा० परमेश्वरीलाल का यह कथन द्रष्टव्य है—"कुछ शिल्प शास्त्रों में इसे बेसर नाम भी दिया है। इसे हम उत्तरी और दक्षिणी शैलियों के बीच का मिश्रित रूप कह सकते हैं, जिसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ मुख्य हैं—अपेक्षाकृत कम ऊँचाई, अधिक विस्तार, तारा सदृश रूपक, मुख्य मण्डप के तीन ओर गर्भगृह तथा स्तम्भ का मौलिक स्वरूप। इस शैली में शिखर का रूप गोल है जो ऊपर की ओर पतला होता गया है और उसमें दक्षिण के शिखरों के समान मंजिलों का स्पष्ट व्यक्तिकरण नहीं है, जिससे उसकी रूपरेखा शुण्ड सी हो गई है।

होयशल शैली—यादव वंश या होयशल वंश (११११ ई० समृद्धि काल) मैसूर (दक्षिणी कर्नाटक) के हालेबिद नामक स्थान पर बने होयशलेश्वर नामक मंदिर के सम्बन्ध में विसेंट स्मिथ ने लिखा है—"यह मन्दिर धैर्यशील मानव-जाति के श्रम का अत्यन्त आश्चर्यजनक नमूना है। इसकी सुन्दर कारीगरी के काम को देखते-देखते आँखें तृप्त नहीं होतीं।"[1] ए० ए० मेक्डॉनल ने इस मन्दिर के बाहर से बहुत अलंकरण को लक्ष्य करके लिखा "संसार भर में शायद् दूसरा कोई ऐसा मन्दिर न होगा, जिसके बाहरी भाग में ऐसा अद्भुत खुदाई का काम किया गया हो। नीचे की चौतरफ हाथियों वाली पंक्ति (गजथर) में दो हजार हाथी बनाये गये हैं जिनमें से आकृति में कोई भी दो परस्पर नहीं मिलते।"[2]

इस मन्दिर का निर्माण कार्य मुसलिम आक्रमण के कारण १३११ ई० में बीच में ही रुक गया। इस मन्दिर के बाहर समस्त हिन्दू देवी-देवता और पौराणिक गाथाएँ प्रस्तर फलकों पर उत्कीर्ण हैं तथा अलंकरणों की पट्टियों से इसका सौन्दर्य बढ़ गया है।

विजयनगर शैली—विजयनगरम् के शासकों के काल में (१३५०–१४६० ई०) द्रविड़-वास्तुकला का उन्नयन हुआ। इस काल में प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं अलंकरण हुआ। दक्षिण भारत के मन्दिरों के जो गोपुर आज दिखाई पड़ते हैं, वे इसी काल के हैं। इसके साथ ही मन्दिर के मण्डपों के ऊपर स्तूपिकाओं का निर्माण कराके विजयनगर के वास्तु-प्रेमी शासकों ने अपनी कलाप्रियता का परिचय दिया है। इस काल के विशाल स्तम्भयुत मण्डपों को काँचीपुरम (एकाम्रनाथ), विजयनगर (विट्ठलस्वामी), ओवादियरकोविल और वेल्लूर (कल्याण मण्डप) आदि मन्दिरों में देखा जा सकता है। विजयनगर का सर्वोत्कृष्ट मन्दिर १५१३ ई० में बना विट्ठलस्वामी का मन्दिर है, जिसे कृष्णदेवराय ने बनवाया। इनके अतिरिक्त कडलाइ-कल्लू का गणेश-मन्दिर, हजारराम का मन्दिर आदि प्रसिद्ध हैं। इस काल में स्तम्भों का भव्य मूर्तिरूप में निर्माण हुआ। मन्दिरों के स्तम्भों का निर्माण पीछे देखते सिंहों या गजसिंहों के रूप में हुआ है।

मदुरा-शैली—यह नायक राजाओं द्वारा प्रचलित हुई। मदुराई का मीनाक्षी मन्दिर सम्भवतः प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार है। इसके निर्माता विश्वनाथ नायक (१५५६ ई०) थे। इसका सहस्र स्तम्भ का मण्डप नायक राजाओं की वास्तु-शैली की मौलिक विशेषता है। इनकी शैली शुद्ध द्रविड़ आदर्श को लेकर चली है। इस शैली में भी स्तम्भ मूर्तियाँ हैं, उनमें प्रमुखतः देव-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। स्तम्भों में पौराणिक कथाएँ एवं देवी-देवताओं में चित्र बारीकी से अंकित हैं। तञ्जोर के सुब्रह्मण्यम के मन्दिर में इस बारीकी को देखा जा सकता है।

मुसलमान कला—भारत में मुसलमानों ने भी वास्तुकला में कुछ उदाहरण छोड़े हैं। सबसे पहला स्मारक मुहम्मद गोरी के दास सुल्तान कुतुबुद्दीन की बनवाई

---

1. *History of Fine Art in India*, p. 42. 2. *India's Past*, p. 83.

हुई कुतुबमीनार है। यह मीनार तेरहवीं शताब्दी के प्रथम दशक के आस-पास बनी थी। यह पहले प्रायः २२५ फीट ऊँची थी। इस पर कुरान शरीफ की आयतें अंकित हैं और इस पर हिन्दू अलंकरण हैं।

इसके अतिरिक्त दिल्ली की जमा मस्जिद और अजमेर की 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम की मस्जिद बड़ी विशाल और दर्शनीय हैं। आँगन के विस्तार में तो मन्दिर और मस्जिद प्रायः समान होते हैं, फिर भी मुसलमानों की सामूहिक प्रार्थनाओं के कारण बड़ी मस्जिदों, जैसे जामा मस्जिद का आँगन विशाल होता है। मस्जिदों में गुम्मदों के अतिरिक्त छोटी-बड़ी मीनारें भी होती हैं। हिन्दुओं के मन्दिर में शिखर होते हैं और उन पर कलश होते हैं। हिन्दुओं के उपास्यगृह उनको विशेष पवित्रता देने के लिए छोटे होते हैं। उनके चारों ओर प्रदक्षिणा (परिक्रमा) के लिए मार्ग रहता है। मुसलमानों की मस्जिदों में मूर्तियाँ तो होती ही नहीं और अलंकरणों का भी अपेक्षाकृत अभाव रहता है। महराबी दरवाजे मुस्लिम स्थापत्य की विशेषता है। हिन्दू लोग खम्भों पर प्रायः अलंकृत टोढ़ों पर पत्थर की घन्नी रखकर दरवाजे का काम चलाते हैं। मुस्लिम-वास्तुकला का असली विकास अकबर के समय में हुआ। अकबर जैसा धर्म और रीतिरिवाज के सम्बन्ध में समन्वयवादी था, वैसा ही वह स्थापत्य के सम्बन्ध में समन्वयवादी था। फतहपुरसीकरी में हिन्दू-स्थापत्य का अधिक प्रभाव है। उसमें मानव-मूर्तियाँ तो नहीं किन्तु हाथी आदि की मूर्तियों के अलंकरण अवश्य हैं। जहाँगीर भी अकबर के ही पदचिह्नों पर चला। उसका बनावाया हुआ आगरे का किला तथा लाहौर और कश्मीर के शालीमार बगीचे दर्शनीय हैं। लाहौर में अनारकली का मकबरा भी बड़ा सुन्दर बना है।

मुगलों के स्थापत्य प्रेम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण आगरे का **ताजमहल** है। इसको सम्राट शाहजहाँ ने अपनी प्रियतमा मुमताजमहल के समाधि-मन्दिर के रूप में बनवाया था। यह शुद्ध संगमरमर का बना हुआ है। इसमें विशालता के साथ पच्चीकारी की कारीगरी की सूक्ष्मता तथा रंगों का सुन्दर मिश्रण है। मुगलों के लिए कहा गया है कि वे दानवों की भाँति विशाल भवन बनवाते थे और जौहरियों की भाँति उसमें बारीकी के साथ साज-सम्हाल करते थे।[1] यह उक्ति ताजमहल के लिये अक्षरशः लागू होती है। उसका वातावरण बड़ा शान्त और मनोरम है और उसके निर्माण में विशालता होते हुए भी स्त्री-सौन्दर्य की कोमलता और मृदुता है।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के शब्दों में "शाहजहाँ का यह निजस्व अपने कोमलतम उत्कर्ष रूप में ताजमहल में विकसित हुआ है। उसे हम निःसंकोच संगमरमराङ्कित काव्य कह सकते हैं। इसके नीचे दो प्रेमी हृदय चिर निद्रा में मस्त पड़े हैं और अपने प्रेम की गाथा इस वास्तु के एक-एक पत्थर से व्यक्त कर रहे हैं। यह १८ फीट ऊंचे और ३१३ फीट के वर्गाकार चबूतरे पर स्थित पूर्णतः संगमरमर का

1. 'They built like giants and finished like Jewellers,'

बना हुआ है। इसकी रूपरेखा हुमायूँ की समाधि से उधार ली हुई जान पड़ती है। उसके चारों कोनों पर पतले-पतले १३३ फीट ऊँची मीनार हैं जो मुख्य वास्तु के साथ साम्य उपस्थित करती हैं। चबूतरे के मध्य में समाधि है जो १८ फीट वर्गाकार है। इसमें ३३'९ फीट के तिरछे कटे हुए द्वार हैं और समान चबूतरे से ९३'३ फीट ऊँचा है। बीच के भाग के ऊपर ५८ फीट व्यास की स्तूपिका है जो छत से ७४ फीट और चबूतरे से १९१ फीट ऊँची है। स्तूपिका के नीचे भवन के भीतर स्फटिक संगमरमर का एक जालीदार पर्दा है जिसकी कटाई और खुदाई अवर्णनीय है।

औरंगजेब की कट्टर नीति के प्रतिक्रिया स्वरूप मरहठों और बुंदेलों में जागृति उत्पन्न हुई। दक्षिण में शिवाजी ने और बुन्देलखण्ड में क्षत्रसाल ने मुगल शक्ति का डटकर मुकाबिला किया। सिखों ने पंजाब में अपनी शक्ति का परिचय दिया। भूषण ने वीररस की कविता कर हिन्दुत्व को प्रोत्साहन दिया। मरहठे लोग हिन्दू धर्म के रक्षक थे, किन्तु वे भी हिन्दू राजाओं से लड़े। इस प्रकार आपसी झगड़ों और प्रतिद्वन्द्विताओं में शक्ति का ह्रास हुआ। अंग्रेजों ने बची-खुची राजपूत और मुस्लिम शक्तियों पर तथा मरहठों और सिक्खों पर कुछ शक्ति-बल और रणकौशल से और कुछ भेद-नीति से विजय प्राप्त कर अथवा संधियाँ करके सार्वभौम सत्ता प्राप्त करली। मरहठों ने काशी आदि तीर्थ-स्थानों पर सुदृढ़ और विशाल घाट बनवाये। अमृतसर का गुरुद्वारा सिक्खों की मूल्यवान देन है। इसमें मुसलमानी प्रभाव है।

अंग्रेजी कला—अंग्रेजों ने अधिकतर उपयोगी भवन बनवाये। यद्यपि उनमें कुछ का स्थापत्य अधिकांश में विदेशी है तथापि वे दर्शनीय हैं। इनमें कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल तथा नई दिल्ली में पार्लियामेण्ट तथा सेक्रेटेरियेट भवन आदि उल्लेखनीय हैं। अब पुरानी कला का भी पुनरुत्थान हो रहा है। हिन्दू विश्व-विद्यालय, पटना म्यूजियम आदि इसके उदाहरण हैं। आजकल मूर्तिकला की भी बहुत उन्नति हुई है। प्राचीन ढंग की प्रस्तर-मूर्तियाँ भी बन रही हैं और प्लास्टर ऑफ पेरिस आदि की भी मूर्तियाँ, बस्ट आदि बड़ी सुन्दर बन रही हैं, जिनमें पाश्चात्य प्रभाव से आकृति का यथार्थवाद भी आ गया है।

आत्मा का स्वरूप और दर्शन

अणोरणीयान् महतो महीयान्,
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको,
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ (कठोप० १।२।२०)

"इस प्राणी की हृदय-रूपी गुफा में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और महान् से भी महान् आत्मा स्थित है। आत्मा की उस महिमा का दर्शन परमात्मा की कृपा से, कामनाओं से और शोक से रहित, साधक को ही होता है।"

१० चित्रकला का उद्भव एवं विकास

उद्भव—भारत में अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला की भी बड़ी सम्पन्न और उन्नत अवस्था रही है। सैन्धव सभ्यता में चित्रकला की स्थिति का अनुमान लगाया गया है। ज्यामिति से सम्बन्धित चित्र तथा रेखाचित्र और पत्र, पुष्प, तारा, पशु-पक्षी आदि के चित्रों का निर्माण किया गया। चित्रकला का उल्लेख हमारे पुराणों, काव्यों और नाटकों में प्राप्त है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतल के दुष्यंत ने शकुन्तला का ऐसा सुन्दर चित्र बनाया था जिसमें सजीवता का आभास होने लगा था। उधर उत्तररामचरित में भी एक चित्रपट का उल्लेख प्राप्त है। नाट्यशालाओं, गृहस्थों के भवनों और राजप्रासादों में भी चित्र एक आवश्यक अलंकरण और मांगल्य विधायक माने गये हैं। काव्य की भाँति चित्रों में भी रस की प्रधानता मानी गई है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में (३६ से ४३ अध्याय) यह भी बतलाया गया है कि गृहस्थों के घर में किस रस के चित्र होने चाहिए और राजाओं के घर में किस रस के। परवर्तीकाल में चित्र निर्माण सम्बन्धी उल्लेख बौद्ध, जातक-साहित्य में प्राप्त होते हैं।[1] चित्रकार तूलिका द्वारा रेखाओं और रंगों के सहारे नाना प्रकार की मानवीय आकृतियों तथा पशु-पक्षियों और बेल-बूटों द्वारा नाना प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करता है। भारतीय कला अनुकृति की अपेक्षा अभिव्यक्ति प्रधान रही है।

प्राचीन काल में, जैसे अजन्ता के चित्रों में, हम चित्रकला को वास्तुकला के अङ्ग रूप ही पाते हैं। उस समय भी चित्रकला जीवन की तथा उससे उत्पन्न होने वाले भावों की अनेकरूपता प्रकट करने में बहुत उन्नत हो चुकी थी।

जैन चित्रकला की प्राचीनता—जैन चित्रकला का विकास ईसापूर्व कई शताब्दियों में हुआ था। उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में, ई० पू० प्रथम शती की चित्रकारी उपलब्ध होती है। जैनागम ग्रन्थों में चित्रशालाओं के निर्देश उपलब्ध होते हैं। नायाधम्मकहाओ में धारणी देवी के शयनागार का वर्णन आया है। जिसमें प्रासाद के अधोभाग को लताओं, पुष्प वल्लियों और उत्तम चित्रों से अलंकृत करने का निर्देश किया गया है। इसी ग्रन्थ में मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने

१, उम्मग जातक, कुसजातक ५३१, महावग्गा ५.१०.३; चुल्लवग्गा ६.३.२.

प्रमदवन में एक रम्य चित्रशाला बनवाने का उल्लेख आया है। इस चित्रशाला की भित्तियों पर हाव-भाव और विलासपूर्ण चित्राङ्कन किया गया था। इस सन्दर्भ में एक चित्रकार की चित्रपटुता का कथन करते हुए बताया है कि उसे किसी भी प्राणी या वस्तु के एक अङ्ग या अंश विशेष को देखकर उस प्राणी या वस्तु का सर्वाङ्गीण चित्र बना देने की क्षमता प्राप्त थी। अपने इस कौशल का प्रदर्शन करने के हेतु उसने राजकुमारी मल्लिका का पर्दे के भीतर से पादाङ्गुष्ठ देखकर उसकी सर्वाङ्ग भावपूर्ण आकृति अंकित कर दी। इसी ग्रन्थ में मणियार श्रेष्ठि नन्द की चित्रशाला का वर्णन भी आया है जिसमें काष्ठकर्म, पुस्तककर्म एवं लेप्यकर्म (मिट्टी के खिलौने) के उल्लेख भी प्राप्त हैं। बृहत्कल्प भाष्य एवं आवश्यक टीका में चित्रकार, चित्रकला और चित्रशालाओं के सम्बन्ध में अनेक निर्देश उपलब्ध हैं।

जैन वाङ्मय में राजकुमार, राजकुमारियों, श्रेष्ठि पुत्रों एवं अन्य सम्भ्रांत व्यक्तियों की शिक्षा के अन्तर्गत चित्रकला को प्रमुख स्थान दिया गया है। पद्मपुराण में रविषेण ने केकयी की चित्रकला का विवेचन करते हुए उसे शुष्क एवं द्रव दोनों प्रकार के चित्रों के निर्माण में पटु बताया है। दो प्रकार के चित्र ये हैं—
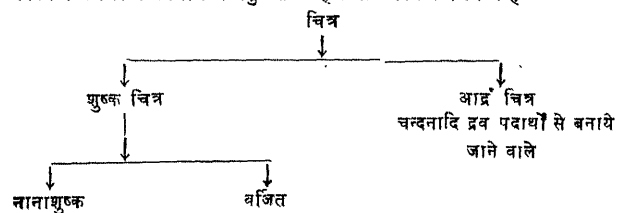
कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों द्वारा पृथ्वी, जल तथा वस्त्र आदि के ऊपर चित्र सम्पन्न करना और आकृतियों को भावपूर्ण सजीव चित्रित करना चित्राङ्कन पटुता के लिए अपेक्षित है।

'वरांगचरित्र' में भी जिनालय में चित्रशाला का होना आवश्यक बताया है। इसमें रथों का चित्रण रहता था। आदि पुराण के अनुसार आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने अपने पुत्र अनन्तविजय को चित्रकला की शिक्षा दी थी—

अनन्तविजयायाख्याद् विद्या चित्रकलाश्रिताम्।
नानाध्यायशतकीर्णा साकलाः सकलाः कलाः॥

(आदिपुराण १६।१२१)

आदि पुराण में वज्रजंघ और पण्डिता धाय श्रीमती के पट चित्रों का भी वर्णन आया है। श्रीमती का चित्रपट कला की दृष्टि से अपूर्व था। रस और भाव दोनों ही इस चित्र में रमणीयता पूर्वक अंकित किये गये थे। चित्र में आकृति के साथ अनेक गुप्त और रहस्यपूर्ण विषयों का भी सन्निवेश किया गया था। स्वयं प्रभा के जीवनवृत्त को बड़ी चतुराई के साथ निबद्ध कर विभिन्न भावावलियों की अभि-

व्यंजना की गयी थी। रेखाओं के सन्तुलन के साथ रंगों और अनुकूल भावों का अंकन भी बड़ी कुशलता के साथ किया गया था। कपोड़ों और गण्डस्थलों पर की गयी चित्रकारी अनेक रहस्यपूर्ण आन्तरिक भावावलियों को प्रकट करती थी। हरिवंश-पुराण में केशर के रस से नाना प्रकार के चित्र बनाये जाने का निर्देश आया है। इस निर्देश से चित्रकला की समृद्धि का आभास प्राप्त होता है।

जैन चित्रकला में धर्माश्रम की प्रधानता होने से इसका वर्गीकरण कालक्रम एवं विषय और शैली के आधार पर न करके इस प्रकार किया गया है—

१. गुफाओं में अंकित भित्तिचित्र
२. चैत्यालयों में अंकित भित्तिचित्र
३. ताड़पत्र पर अंकित चित्र
४. कर्गल चित्र या पाण्डुलिपियों में चित्रकारी
५. पट चित्र
६. धूलि चित्र
७. फुटकर ललित चित्र
८. काष्ठ चित्र
९. लौकिक चित्र

जैन चित्रकला का प्रारम्भ ईसा पूर्व कई शताब्दियों में हुआ। वर्तमान में उड़ीसा और मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले की रामगिरि की पहाड़ी आदि अनेक स्थलों पर जैन चित्रकला के अवशेष मिलते हैं। जैन चित्रकला के उपर्युक्त विविध रूपों का विवेचन यहाँ स्थानाभाव के कारण करना सम्भव नहीं है। जिज्ञासु गुरु गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रन्थ के अन्तर्गत श्रीमती सौ० सुशीलादेवी जैन का अत्यन्त शोधपूर्ण निबन्ध 'जैनचित्रकला संक्षिप्त सर्वेक्षण' पढ़ें।

सीताबेंगा या जोगीमारा गुफाओं की चित्रकला—ये सरगुजा रियासत में रामगढ़ की पहाड़ियों पर स्थित हैं। इनकी दीवारों पर पीले और भूरे रंग के चित्र बने हैं। उनमें कुछ मनुष्यों के चित्र हैं और कुछ मकर आदि जल जीव एवं पशुओं के। इस समय तो उक्त चित्रों की यत्र-तत्र कुछ लकीरें ही शेष हैं। इन चित्रों के सांकेतिक अर्थ हैं, किन्तु उसे समझना कठिन है। इन चित्रों में मनुष्याकृतियाँ, जो वस्त्राभूषण धारण किये हैं, वे सांची के स्तूप नं० २ की मूर्तियों से साम्य रखती हैं, अतः इनका अनुमानित समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का मध्य भाग है। इस प्रकार ये शुङ्गकाल की हैं। उपलब्ध चित्रों में ये ही सर्वाधिक प्राचीन हैं।

गुप्तकाल की चित्र-शैली—इस शैली के ज्ञान के लिए अजन्ता की गुफाओं के चित्र द्रष्टव्य हैं। अजन्ता की कुल २९ गुफाएँ हैं जिनमें आज भी अच्छे चित्र १, २, १६ और १७वीं गुफाओं में उपलब्ध हैं, शेष गुफाओं के चित्र काल के प्रवाह में नष्ट-भ्रष्ट हो चुके हैं। अजन्ता के चित्र केवल गुप्त-युग तक के ही नहीं हैं, उनमें सातवीं शताब्दी तक चित्रांकन होता रहा।

अजन्ता की चित्र-कला—अजन्ता की गुफाओं की दीवारों को एक विशेष ढंग से चित्र खींचने के योग्य बनाकर उन पर चित्रकारी की गई है। इन चित्रों के विषय प्रमुख रूप से तीन हैं। एक, अलंकरण के रूप में पशुपक्षियों के चित्र, पेड़, फूल, पत्तियाँ आदि। दूसरी कोटि में मनुष्यों के चित्र हैं जिनमें बुद्ध के चित्रों की प्रधानता है। तीसरी कोटि में जातकों की कहानियों का चित्रण है। इन चित्रों में 'माता और बालक', 'मरणासन्न राजकुमारी', 'सर्वनाश' आदि चित्रों की स्वाभाविकता, लावण्य और सजीवता दर्शनीय है। अजन्ता-शैली के अन्य चित्र मालवा में बांघ की गुफाओं में उपलब्ध हुए हैं।

"अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, चिन्ता, घृणा आदि सभी प्रकार के भाव; पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, प्रशान्त तपस्वी और देवोपम राजपरिवार से लेकर क्रूर व्याध, निर्दय बधिक, साधु-वेशधारी धूर्त, वार-वनिता आदि सब तरह के मानव-भेद, समाधि-मग्न बुद्ध से प्रणय-क्रीड़ा में रत दम्पति और शृङ्गार में लगी नारियों तक सकल मानव-व्यापार अङ्कित हैं।"

"अजन्ता की अपनी शैली संसार की शैलियों से सर्वथा भिन्न है। उंगलियाँ कमल की पंखुड़ियों सी नमित होती हैं, नेत्र आकर्ण खिचे अर्धनिमीलित। दोनों अद्भुत छंदयुक्त हैं। निःसन्देह शैली की परम्परा सौन्दर्य के मान बाँध देती है परन्तु आकृतियों की विविधता, उनका जीवन से अविच्छिन्न संबंध, अविरल बहते जीवन में उनका सर्वथा अकृत्रिम सहज, स्वाभाविक अङ्कन, आलोड़ित संसार ला उपस्थित करते हैं। आकृतियाँ पहचानी सी लगती हैं। नगरों, महलों, साधारण घरों, वनों, हृदयों के दृश्य जीवन को उसके सभी रूपों में प्रकट करते हैं। दृश्यों के एकाकी और सामूहिक अङ्कन में भी एकप्राणता है। अजन्ता के चित्रकार कितने कुशल, कितने मानवीय, जीवन के प्रति कितने उदार, कितने हमदर्द थे, ये चित्र यह व्यक्त करते हैं। विराग और त्याग के इन मन्दिरों में स्वस्थ जीवन का कोई अंग अछूता न रहा, रागा-वेगों का कोई कम्पन न रहा जो तूलिका और वर्ण के स्पर्श से चमक न उठा हो। कुछ आश्चर्य नहीं कि चीनी तान हुआंग की सैकड़ों गुहाएँ अजन्ता की चित्रानुकृतियों से भर गई हों।"[1]

एक पाश्चात्य विद्वान ने अजन्ता के चित्रों को सजीव नाटक की संज्ञा देते हुए लिखा है—

"अजन्ता के चट्टान-निर्मित मन्दिरों की सहस्रों भित्तियों और उनके सैकड़ों स्तम्भों पर हमारे नेत्रों के सम्मुख एक विशाल नाटक होता हुआ दिखाई पड़ता है। यह नाटक एक आश्चर्यजनक रूप से विभिन्नतापूर्ण दृश्य की पृष्टभूमि में, वनों व उद्यानों के बीच, राजसभाओं और नगरों, चौड़े मैदानों तथा गहन कान्तारों में होता

---

१. डॉ० भगवतशरण उपाध्याय : **हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास**, सं० २०१४, पृ० ६३८।

है, जबकि स्वर्ग के दूत आकाश में सवेग घूमते हैं। इस नाटक का राजकुमार तथा साधुगण और योद्धा तथा प्रत्येक स्थिति के स्त्री-पुरुष अभिनय करते हैं। इन समस्त चित्रों से संसार के रूप की चमक के प्रति, स्त्री-पुरुषों की शारीरिक उत्कृष्टता के प्रति, पशुओं का शक्ति तथा कोमलता के प्रति और पक्षियों तथा फूलों की लावण्यता एवं विशुद्धता के प्रति, एक महान् आनन्द निस्सृत होता है और इस भौतिक सौन्दर्य के ताने-बाने में हम सृष्टि के आध्यात्मिक मूल्यों के व्यवस्थित रूप को अनुस्यूत देखते हैं।"[१]

अजन्ता की ९वीं तथा १०वीं गुफा में 'छदन्त जातक' की कथा चित्रित की गई है।

बाघ की गुफाओं की चित्रकला—गुप्त-युग के अन्तिम दिनों की मध्यभारत के अमझेरा परगने के समीप बाघ की गुफाओं की चित्रकारी भी अनुपम है।

हरिवंश पुराण में जिस 'हल्लीसक' आयोजन की चर्चा है उसका चित्र बाघ की गुफाओं में मिलता है। इसमें नारद, श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा अप्सराओं ने वादन, नृत्य और अभिनय के कलापूर्ण एवं रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किए थे। हरिवंश पुराण में इसे 'छालिक्य गांधर्व' भी कहा है। (श्लोक सं० ६७ से ७४) हरिवंश ने लिखा है कि यह 'गांधर्व' स्वर्ग का दिव्य संगीत था जिसे श्रीकृष्ण ने इस भूतल पर यादवों के लिए प्रचलित किया था।

श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी ने अजन्ता की कला का परवर्ती भारतीय कला पर प्रभाव प्रदर्शित करते हुए लिखा है 'मालवा प्रदेश के बाघ नामक स्थान में छठी शती तथा सातवीं शती के प्रारम्भ के जो भित्ति चित्र उरेहे गए उनमें अजन्ता की छाप मिलती है। इस स्थान का बाघ नाम नर्मदा की सहायिका बाघ (व्याघ्रा) नदी के पास होने के कारण पड़ा। यहाँ कुल नौ गुफाएँ हैं, जिनका कुल परिमाण लम्बाई में ७५० गज है। चौथी-पाँचवीं गुफा के सम्मिलित ओसारे में मुख्य रूप से बाघ के चित्र हैं। ये बहुत कुछ क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। यहाँ का सबसे उल्लेखनीय चित्र वह है जिसमें आकर्षक वेश-भूषा वाली एक नृत्य-मण्डली हाथों में लकुट लिये हुए एक घेरे या मण्डल में नृत्य कर रही है। यह प्राचीन मण्डलीबद्ध दंडरासक का रूप जान पड़ता है, जिसमें नृत्य करते समय डंडे बजाकर शब्द किया जाता था। स्त्रियों की कुछ मुद्राएँ, यात्रा सम्बन्धी चित्र तथा लता पत्रों का अलंकरण बाघ की चित्रकला में विशेष रूप से दर्शनीय है।'[२]

गुप्तकालीन चित्रकला का विदेशों में प्रसार

"गुप्तकाल में चित्रकला इतनी अधिक उन्नति कर चुकी थी कि बृहत्तर भारत के विविध उपनिवेशों में भी अनेक गुहा-चित्र व रेशमी कपड़े आदि पर बनाये हुए

1. Rothenstein.
२. कला का इतिहास लेख से उद्धृत।

चित्र मिले हैं। ये सब गुप्तकाल के हैं और उसी शैली के हैं जो भारत में प्रचलित थी। भारत से ही चित्रकार इस काल में सुदूर देशों को गये थे, और वहाँ उन्होंने अपनी कला के चमत्कार दिखाये थे।"[1]

हमारे यहाँ चित्रकला की आधार-सामग्री भित्तियाँ, कपड़े, तालपत्र, काष्ठ, पट्ट, कागज, हाथी-दांत आदि सभी प्रकार के पदार्थ रहे हैं। भित्ति-चित्रों के पश्चात् चित्र पुस्तकों के हाशियों या ऊपरी पट्टों के अलंकरण या भावों या दृश्यों के मूर्त व्यक्तिकरण के रूप में मिलते हैं। तालपत्रों पर अंकित जैन कल्पसूत्रों और कालकाचार्य कथानक के गुजराती कलम के चित्र इसके अच्छे उदाहरण हैं।

पाल चित्र-शैली—पालवंशी बौद्ध-धर्मानुयायी राजाओं के शासनकाल में बंगाल, बिहार और नैपाल में यह शैली प्रचलित थी। महायान बौद्ध सम्प्रदाय के प्रज्ञापारमिता आदि ग्रन्थों को सुलेखन और चित्रांकन से सजाया है। ये ग्रन्थ तालपत्रों पर चटकीली स्याही से लिखे गये तथा विविध रंगों से देवी देवताओं के चित्रों को चित्रित कर उन पर लाख भी चढ़ादी गई ताकि रंग फीके न पड़ें। नैपाल, कलकत्ता और काशी में इस युग की अनेक पुस्तकें सुरक्षित हैं। पहले काले रंग से इन चित्रों का आकार खींच लिया जाता था फिर अन्य रंग भरे जाते थे। खाली स्थानों को पत्र-पुष्पादि से अलंकृत किया जाता था। चित्र के मध्य में प्रधान देवता और चारों ओर अन्य आकृतियाँ बनाते थे। हस्तलिखित ग्रन्थों के बीच-बीच में कलाकार चित्रकला का प्रदर्शन करके ग्रन्थ के सौन्दर्य में वृद्धि करते थे।

अपभ्रंश या जैन-चित्र-शैली—इस शैली के चित्र राजस्थान, गुजरात एवं पश्चिमी भारत में उपलब्ध होते हैं। जैनियों के मध्यकाल के ग्रन्थ इसी शैली के चित्रों से सजे हैं। कुछ पौराणिकों के धार्मिक ग्रंथ भी इस शैली के चित्रों से विभूषित हैं, अतः अपभ्रंश भाषाओं के काल की इस शैली को रायकृष्णदास ने अपभ्रंश-शैली कहा है। ११वीं ईसवी का श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का 'निशीथ चूर्णी' ग्रन्थ पाटन जैन-शास्त्रभण्डार में उपलब्ध है। पुस्तकों का सुलेखन और चित्रांकन जैन साधुओं में मन को नियंत्रित रखने का एक साधन माना जाता है। सोलहवीं शती के अन्त में लिखी 'वसन्त-विलास' नाम की पुस्तक में, जो श्री एन. सी. मेहता के संग्रह में है, कई शृङ्गारिक चित्र हैं। जैन ग्रन्थों के चित्रित एवं हस्तलिखित संस्करण भारत और ब्रिटेन के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

राजपूत-चित्र-शैली—राजपूत शैली के चित्रों का आरम्भ सोलहवीं शती के अन्त में हुआ। रागमालाओं के चित्र इस कला की विशेषता हैं। बारहमासे तथा कृष्ण-लीला और नायिका-भेद के भी चित्र इस काल में बने। रागमाला के चित्र रागों के अनुकूल वातावरण को उपस्थित करके उनसे उत्पन्न होने वाले भावों के

---

१. **भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास** : डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, १९६०, पृ० ३६४।

काल्पनिक चित्र उपस्थित करते हैं । इस शैली में वास्तविकता की अपेक्षा काल्पनिकता को अधिक महत्व दिया गया है । इस काल में राजाओं आदि के कुछ वास्तविक चित्र भी बने । बुन्देलखण्ड शैली और पहाड़ी तथा कांगड़ा शैली भी इसी की उत्तरकालीन शाखाएँ हैं । बुन्देलखण्ड शैली का मूल लक्ष्य केशव की कविता के भावों का मूर्त निरूपण रहा है । विशेषकर दतिया में देव, मतिराम और बिहारी की कविताओं के ही चित्र बने । साथ ही नायिका-भेद और रागमाला के भी चित्र बनाने की प्रवृत्ति चलती रही । ये चित्र अधिकांश में काल्पनिक भाव-चित्र ही रहे । रस और भाव की दृष्टि से कांगड़ा शैली ने परमोत्कृष्टता प्राप्त की है । इन चित्रों में नारी-सौन्दर्य के नाना रूपों को प्रधानता दी गई है । इनमें नायिका भेद, अष्टयाम, भगवान कृष्ण की बाल-लीलाएँ और प्रेम लीलाएँ हैं । कांगड़ा के राजा संसारचन्द्र (१७७४-१८२३) पहाड़ी चित्रकला के पोषक और अभिभावक रहे हैं । मुगल कला के सम-कालीन में ही राजपूत कला का उदय हुआ था । किन्तु राजपूत कला मुगल कला की अपेक्षा अधिक काल तक जीवित रही क्योंकि उसमें लोकतत्व की मात्रा कुछ अधिक थी ।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी के शब्दों में "मुगल और राजपूत चित्रकलाओं में प्रमुख अन्तर यही है कि एक दरबारी कला है और दूसरी लोककला । मुगल सम्राटों के राजदरबारों से सम्बद्ध मुगल कला सम्प्रदायों ने राजाओं, शहंशाह, दरबारियों और सन्तों के 'पोर्ट्रेट' बनाये तथा शिकार, मनोरंजन, मनोविनोद और दरबारों के दृश्य अंकित किये । राजपूत और पहाड़ी कला-सम्प्रदायों ने सामान्यतः कृष्ण-राधा अथवा शिव-पार्वती के पौराणिक कथानकों को अपने चित्रों का आधार बनाया और ये कलाकृतियाँ सभी वर्गों के लिए रुचिकर थीं । उनकी कृतियों में प्रेम की विभिन्न सूक्ष्म भंगिमाओं का चित्रण है; यह प्रेम एक ही साथ मानवीय और ईश्वरीय दोनों है । उनकी कलाकृतियाँ सम्पूर्ण आध्यात्मिक आन्दोलन तथा क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यों की भक्ति-भावना से संतप्त हैं । सनातन प्रेमी-युगल कृष्ण और राधा पुरुष और नारी के शाश्वत विधि विधान के प्रतीक हैं कि जीवन-सौख्य की उच्चतम परिणति एक-दूसरे को पा लेना है । राजपूत और पहाड़ी कलमों में कृष्ण और राधा के अतिरिक्त पालतू हिरन और मोर, रात्रि-जागरण, अवधारित मिलन और अभिसार, धूल का तूफान, घने बादल, मूसलाधार वर्षा और बिजली की चमक, पाँव तले रेंगता हुआ साँप, लिपटने वाली लता, पुष्पित कदम्ब वृक्ष तथा यमुना का उफनता हुआ प्रवाह अत्यन्त व्यापक और गम्भीर प्रतीक हैं, जो लोककाव्य तथा चित्रकला की भाषा में सहज बोधगम्य थे ।"

भारतीय कला के आचार्य रेखा को विशेष महत्व देते हैं । सुप्रसिद्ध चित्र-मर्मज्ञ एन० सी० मेहता लिखते हैं कि "रेखा-सौन्दर्य पर भारत व एशिया भर की चित्र-कला का दारोमदार है । बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि पौरस्त्य चित्र केवल रंगीन रेखाचित्र है । आलेख्य वस्तु को रेखाबद्ध करके ही रंगविधान किया जाता है । पहले

चित्र का खाका खींचते हैं, फिर उसमें रंग भरा जाता है, यहाँ तक कि अकबर के जमाने के महाभारत के फारसी अनुवाद 'रज्मनामा' के अतीव सुन्दर चित्र दो-दो तीन-तीन चित्रकारों के हाथ के बने हैं। एक ने रेखा खींची है जिसे चित्रों की भाषा में 'तरह' करना कहते हैं। दूसरे ने रंग भरा है जिसे 'रंगरेज' अथवा 'रंगामेज' कहते हैं। एक चित्र में कभी-कभी 'तरह' के रंग के, हाशिए के बिल्कुल अलग-अलग कारीगर हुआ करते थे। १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में कई चित्र बिना रंग के 'स्याहकलम' भी मिलते हैं।"[1]

मुगल चित्र-शैली—यद्यपि मुसलमानों में किसी प्रकार की अनुकृति बनाना वर्जित रहा है तथापि वे लोग चित्रकला के सम्बन्ध में कुछ उदार रहे हैं। हुमायूँ फारस से सैयदअली और अब्दुस्समद नाम के दो चित्रकार लाया था। इनके द्वारा उसने 'अमीर हमजा' नाम के काव्य को चित्रित कराया था। मुगल कला फारसी और भारतीय कला का मिश्रण है। अकबर चित्रकला को ईश्वरीय महत्ता के समझने का एक साधन समझता था। जहाँगीर ने अकबर की परम्परा कायम रखी। फिर क्रमशः उसका ह्रास होता गया। औरङ्गजेब जैसे कट्टर मुसलमान को भी अपने लड़के की बीमारी में उसके चित्र बनवाने पड़े थे।

मुगल शैली के चित्र प्रायः तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—

(१) उपाख्यानों के चित्र (ये प्रायः काल्पनिक होते थे)।

(२) ऐतिहासिक चित्र, जिनमें स्वयं अकबर का भी जीवन चित्रित है।

(३) शबीह अर्थात् व्यक्ति-चित्र।

अकबर ने ईरानी आख्यानों जैसे हम्जानामा के अतिरिक्त भारतीय आख्यानों, रामायण, महाभारत आदि के भी चित्र बनवाये थे। उनमें अन्धक वध, राम-जन्म आदि के चित्र बड़े सजीव और संश्लिष्ट हैं। राम-जन्म के चित्र में जन्म सम्बन्धी अन्तःपुर के सभी उत्सव और औषधियों और मसाले पीसे जाने से लगाकर नगाड़े बजाने और बढ़ई के पालने लाने तक के दृश्य और क्रियाकलाप आ गये हैं। ऐतिहासिक चित्रों में दुर्ग आदि के भी चित्र हैं। भारतीय चित्रों की पोशाक आदि मुसलमानी सम्पर्क से प्रभावित है। यह स्वाभाविक है। शबीह बनाने में मुगल-कलाकार सिद्धहस्त थे। ये शबीह प्रायः एकचश्मी अर्थात् एक पार्श्वी (Profile) की होती थी जिसमें एक आँख ही दिखाई दे।

जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल में भी मुगल चित्र-शैली प्रगतिशील रही। जहाँगीर के काल में तो यह चरमोन्नति पर थी। इस काल के चित्रों में उच्च कोटि का विधान एवं अलंकरण मिलता है। औरंगजेब के समय में अन्य ललित कलाओं की भाँति चित्रकला की प्रगति भी अवरुद्ध हो गई।

---

१. चित्र मीमांसा, पृष्ठ ६-७।

अंग्रेजों का आधिपत्य हो जाने पर भारतीय कला पर योरोपीय प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में पाश्चात्य यथार्थवाद का आधिपत्य हो गया। अनुकृति को मुख्यता दी जाने लगी। उन्नीसवीं शती के अन्त में रवि वर्मा ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। शकुन्तला, पत्र-लेखन आदि उनके प्रसिद्ध चित्र थे।

बंगाल की कला में, जिसके पोषक और अभिभावक श्रीयुत् अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और हेवेल महोदय थे, इस यथार्थवाद की प्रतिक्रिया हुई। उस कला ने अजन्ता-चित्रों से प्रेरणा ली और कुछ-कुछ राजपूत शैली तथा चीन-जापान की चित्रकला से प्रभाव ग्रहण किया। इसमें भावाभिव्यक्ति को प्राधान्य मिला। नन्दलाल बोस, वकील आदि इस शैली के अच्छे कलाकार हैं। गुजरात में भी देशी शैली को ही प्रधानता मिली, कनू देसाई आदि वहाँ के प्रधान कलाकार हैं। चित्रकला अपनी भारतीय परम्पराओं को ग्रहण करती जा रही है और उसका भविष्य उज्ज्वल है।

भारतीय चित्रकला की भावभूमि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक थी। सभी मांसल, भौतिक, यौन आदर्श तक यहाँ की कला में चले परन्तु सदा उनका सम्पर्क भाव और आस्था से था। इसी से यहाँ कला केवल कला के लिये प्रश्रय न पा सकी, वह उद्देश्यपरक बनी रही। ध्यानयोग का उसमें बड़ा महत्व माना गया। ध्यानयोग से विरहित चित्रकार को उचित ही शिथिल समाधि की संज्ञा मिली। कालिदास ने इस कला सम्बन्धी दोष की ओर अपने नाटक मालविकाग्निमित्र (अंक २, श्लोक २ शिथिल समाधि) में सार्थक संकेत किया है।"[1]

---

१. डा० भगवतशरण उपाध्याय : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास; सं० २०१४, पृ० ६४६।

११ संगीत कला का उद्भव एवं विकास

उद्भव—संगीत को हमारे यहाँ विशेष महत्व दिया गया है। नाद को ब्रह्म कहा गया है। सामवेद का उपवेद गान्धर्व वेद माना गया है। इस प्रकार भारत में संगीत की परम्परा सामवेद से चली आ रही है। भगवान् कृष्ण ने वेदों में सामवेद को ही महत्ता दी है—**'वेदानां सामवेदोस्मि'** (श्रीमद्भगवद्गीता १०।२२)। वास्तुकला, मूर्ति-लक्षण-कला और चित्रकला का सम्बन्ध देश (Space) से है, किन्तु संगीत का सम्बन्ध काल से है, क्योंकि वह ताल और लय के आश्रित है। उसमें अधिकांश में काल का ही भाव रहता है। वैसे उसका सम्बन्ध आकाश से है जिसका गुण शब्द है। सस्वर शब्दों को ही नाद या संगीत कहते हैं। ऊँकार से ही वेदों के तीन स्वरों की सृष्टि हुई। उनसे फिर पाँच और सात स्वरों का विकास हुआ। संगीत में एक विशेष तरलता और बहाव रहता है जो अन्य कलाओं में नहीं पाया जाता है। वह काल-यापन का सबसे उत्तम साधन है। कविता को वह अपूर्व बल देता है। उसकी भाषा व्यापक है। इसका प्रभाव पशु-पक्षियों पर भी पड़ता है। संगीत का हमारे भावों के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण उसका सांस्कृतिक महत्व अधिक है। वह मनोरंजन के साथ-साथ सामयिक संगठन और सामाजिक सजीवता बढ़ाने एवं मानसिक साम्य स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। संगीत के तीन अंग हैं—गीत, वाद्य और नृत्य। 'गीतंवाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते'। भारत में इन तीनों चीजों का धार्मिक महत्व है। भरत मुनि ने नाट्यकला[1] के सम्बन्ध में इन तीनों का ही उल्लेख किया है। हमारे यहाँ वाद्यों में वीणा का विशेष महत्व रहा है। विद्या की अधिष्ठातृ देवी माता शारदा वीणापाणि कहलाती हैं और भक्ति सूत्रों के कर्त्ता नारद मुनि वीणा पर ही हरि-गुणगान करते हैं। प्रवीण शब्द का शाब्दिक अर्थ भी है वीणा में प्रकर्ष। वीणा वाद्य, संगीत तथा कला का प्रतीक है। वीणा में जो स्वरों की मीड़ें (बीच के स्वर) निकल सकती हैं वे हारमोनियम में नहीं निकल सकती हैं। श्रीकृष्ण जी की मुरली की भी वाद्य यन्त्रों में मुख्यता रही है। सूर साहित्य में मुरली के बड़े श्रेष्ठ वर्णन आये हैं। शिवजी का ताण्डव (उग्र) नृत्य प्रसिद्ध है और पार्वती जी का लास्य (कोमल) नृत्य। संस्कृत के आचार्यों ने नृत्त,

---

१. नाट्यशास्त्र में अध्याय २८ से ३६ तक संगीत का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है।

नृत्य और नाट्य तीन श्रेणियाँ मानी हैं। नृत्त में ताल-लय के अनुकूल पद-संचालन रहता है। नृत्य में कथकली नृत्यों की भाँति भाव-प्रदर्शन भी रहता है। नाट्य में भाव प्रदर्शन के साथ अभिनय, गायन और संवाद भी रहते हैं। शिवजी नटराज कहलाते हैं और श्रीकृष्ण जी नटनागर के नाम से पुकारे जाते हैं।

संगीत शब्द 'गीत' में 'सम' उपसर्ग लगाकर बना है, जिसका अर्थ होता है गीत सहित, अर्थात् नृत्य और वादन (अंगभूत क्रियाओं) के साथ किया गया गीत संगीत कहलाता है।

संगीत के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव—जैन संस्कृति और वाङमय में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा उसे अनादिनिधन मानती है। जैन साहित्य एवं पुरातत्व के अनुसार कर्मयुग के प्रारम्भ में अयोध्या के प्रजापति ऋषभदेव ने सर्वप्रथम अपने पुत्र वृषभसेन को संगीत की शिक्षा दी थी। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में लिखा है—

विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थसंग्रहम्।
गन्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परःशतम्॥ १६।१२०॥

'मनुकुलतिलक श्री ऋषभदेव ने अपने पुत्र वृषभसेन को गीत, वाद्य तथा गान्धर्व विद्या का उपदेश दिया, जिस शास्त्र के सौ अध्याय से ऊपर हैं।

भागवत् में लिखा है कि भगवान ऋषभदेव के व्यक्तित्व के नाना रूप हैं—

नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभः। (भागवत् ५।६।३४)

अपनी गृहस्थावस्था में भी वे अलौकिक ज्ञान और बुद्धि के स्वामी थे। उन्होंने अपने पुत्रों और प्रजा को षट्कर्मों—असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—का उपदेश और शिक्षण दिया था। चौंसठ विद्याओं में से संगीत विद्या का उपदेश और शिक्षण उन्होंने अपने पुत्र वृषभसेन को ही दिया। संगीत की उत्पत्ति शिव से हुई, यह लोक प्रसिद्ध है (शिव) तीर्थङ्कर ऋषभदेव का ही नामान्तर शिव था। जिन-सहस्रनाम स्तोत्र में आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

शिवः शिवपदाध्यासात् दुरितारि हरो हरः।
शंकरः कृतशं लोके शंभवस्त्वं भवन्सुखे॥६

"शिव पद को देने वाला है, अतः तू 'शिव' कहलाता है। पापों का नाश करने के कारण तू 'हर' कहलाता है। शांति करने वाला है, अतः तू शंकर है तथा सुख देने वाला है, अतः तू शम्भू कहा जाता है।"

भागवत् में लिखा है—

कृतावतारः पुरुषः स आद्यः।
चचार धर्मं यदकर्म हेतुम्॥ ५।७।१४॥

"कृत युग के आदि में ऋषभ ने जन्म लेकर मोक्ष की प्राप्ति के लिए परमहंस धर्म का आचरण किया।"

संगीतोपनिषत् सारोद्धार में बताया है कि तूर्य, वाद्य और नाटक की उत्पत्ति चक्रवर्ती भरत (ऋषभपुत्र) की नौ निधियों में से अन्तिम निधि शंख से हुई थी और संगीत की निष्पत्ति हर से हुई, यहाँ हर का आशय ऋषभदेव से है।

वैदिक युग

वैदिक युग में संगीत विद्या का प्रचार-प्रसार पुरोहितों ने किया। वीणा इस युग का प्रमुख वाद्य था। वैदिक काल में संगीत कला के साथ नृत्य कला जुड़ी हुई थी। पौराणिक युग में संगीत-कला की और भी अधिक प्रगति हुई। मार्कण्डेय पुराण में षड्जादि सप्त स्वर, पंचविधि ग्रामरागों, गीतों और मूर्च्छनाओं के इक्यावन प्रकार की तानों आदि की चर्चा मिलती है।[1] पुराण-काल में वीणा के अतिरिक्त दुर्दुर, पणव, पुष्कर, मृदंग और देवदुन्दुभि आदि वाद्य प्रयुक्त होने लगे। सिन्धु सभ्यता में, जो ऋग्वेद काल के बाद में और पुराण-काल के पूर्व में वर्तमान थी, संगीत-कला की परम्परा प्राप्त होती है। मोहनजोदड़ो के उत्खनन में कुछ वाद्य यन्त्र भी प्राप्त हुए हैं।

संगीत की प्राचीनता—पद्मभूषण आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन भारत में संगीत की लोकप्रियता की चर्चा करते हुए लिखा है—'संगीत का प्रचार इस देश में बहुत पुराने जमाने से है। वैदिककाल में ही सात स्वरों का विभाजन किया गया था, यद्यपि उनके नाम ठीक वही नहीं थे जो परवर्ती काल में प्रचलित हो गए। वैदिक साहित्य में दुंदुभि, भूमि दुंदुभि, आघाति आदि आतोद्य बाजे बन चुके थे और वीणा, काण्डवीणा आदि वीणा जातीय तन्त्री यन्त्र भी बनाये गये थे। रामायण और महाभारत में अनेक वाद्ययंत्रों के नाम आते हैं और सप्तस्वरों और बाईस श्रुतियों की चर्चा आती है। भरत के नाट्यशास्त्र में इसकी शास्त्रीय विवेचना मिलती है जो बहुत संक्षिप्त भी है और अस्पष्ट भी। इस ग्रन्थ में स्वर, ग्राम, श्रुति, मूर्छना आदि की व्याख्या है। राग का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं पाया जाता पर इसके ही समान अर्थों में 'जाति' का व्यवहार किया गया है। संगीत की जातियाँ अट्ठारह बताई गई हैं। मतंग नामक आचार्य का बृहद्देशी ग्रन्थ प्रथम बार राग का उल्लेख करता है। ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि मतंग के सामने 'राग' पर्याप्त थे और वे सम्भवतः 'शास्त्रीय संगीत' नाम से अलग ढंग के थे। मतंग सम्भवतः ईसवी की चौथी-पाचवीं शताब्दी में हुए थे। उन्होंने संगीत की परिभाषा इस प्रकार की है—स्त्रियाँ, बालक, गोपाल और क्षितिपाल अपनी इच्छा से जिन गानों का गायन करते हैं—अर्थात् किसी प्रकार की शास्त्रीय शिक्षा के बिना ही आनन्दोल्लासवश गाते है—वे 'देशी' कहलाते हैं—

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते।।

---

१. हरिवंश और वायु पुराण में भी सप्त स्वर, राग-रागिनियों का उल्लेख है।

रामायण-महाभारत काल—रामायण और महाभारत काल में संगीत जन मानस में व्याप्त हो गया। रावण संगीत-कला में प्रवीण था। सस्वर वेद पाठ की परम्परा रावण द्वारा प्रवर्तित हुई थी। मन्दोदरी भी संगीत कला में प्रवीण थी। रावण के संगीत कक्ष में भेरी, मृदंग, शंख, मुरज, पर्णव आदि अनेक वाद्य थे। महाभारत काल में भी संगीत-नृत्यकला के साथ ही पल्लवित होता रहा।

मौर्यकाल तथा परवर्ती युग में संगीत—मौर्यकाल में शास्त्रीय संगीत को चन्द्रगुप्त मौर्य व प्रश्रय दिया, संगीतगृहों की स्थापना हुई। कनिष्क के समय में भारतीय संगीत की विशेष प्रगति हुई।[1] भारतीय संगीत की नवीन विधियाँ इस युग में विकसित हुई और उनका विदेशों में भी प्रचार हुआ। नाग-वंश द्वारा संगीत-कला की विशेष समुन्नति हुई। गुप्तकाल में विशेष रूप से समुद्रगुप्त ने संगीत की अभिवृद्धि में योग दिया। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की तुम्बुरू और नारद जैसे संगीत कला विशारदों से तुलना की गई है।

संगीत का राजघरानों, विदग्ध पुरुषों के एकान्त कक्षों और देव-मन्दिरों में आदरपूर्ण स्थान रहा है। काव्य ग्रन्थों में इनको प्रोत्साहन दिया गया है। राज-घरानों में संगीत शिक्षा भी बड़े उत्साह से चलती रही है। अर्जुन ने बृहन्नला के रूप में विराटकुमारी उत्तरा को नृत्य की शिक्षा दी थी। कालिदास के माल-विकाग्निमित्र में हमको आचार्य गणदास का नृत्य के शिक्षक के रूप में उल्लेख मिलता है। उनके नाम के पहले आचार्य शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उन दिनों इस कला में प्रकर्षता प्राप्त करना निन्द्य नहीं समझा जाता था।

संगीत कला राज्याश्रित भी थी और लोकाश्रित भी। इसी कारण इसकी विशेष उन्नति हुई। बारहवीं शताब्दी में राजपूत राजाओं ने उसमें दक्षता प्राप्त की। इनमें नामदेव, भोज, परमारादि चंदेल और जगदेकमल्ल ने विशेष ख्याति प्राप्त की। वे संगीत कला के बड़े अभिभावक थे और कलावन्तों के सम्मेलन भी कराया करते थे।

आचार्य पार्श्वदेव—आचार्य पार्श्वदेव का 'संगीतसमयसार' नामक ग्रन्थ १००० वर्ष पूर्व का माना जाता है। इस ग्रन्थ में संगीत का शास्त्रीय ढंग से सुन्दर विवेचन हुआ है। संस्कृत भाषा में रचित यह संगीत का प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें संगीत की शुद्ध पद्धति का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

प्रबन्धा यत्रगीयन्ते, वाद्यन्ते च यथाक्षरम्।
यथाक्षरं च नृत्यन्ते, सा चित्रा शुद्धपद्धतिः॥

(संगीतसमयसार ७।२३०)

---

१. इस काल को 'The Dawn of Indian Music' कहा जाता है।

'जहाँ प्रबन्ध (काव्यों) का गायन किया जाता हो, उनके अक्षरों के अनुसार वाद्य बजाये जाते हों और उन अक्षरों के अनुसार ही नृत्य होता हो, वह चित्रपद्धति कही जाती है और वही पद्धति शुद्ध है।'

संगीत में 'गीत' प्रमुख है, वाद्य और नृत्य सहायक-भर हैं। वाद्य संगीत का और नृत्य वाद्य का अनुसरण करता है। तीनों मिलकर जिस लय को जन्म देते हैं, वह 'श्रोत्रनेत्र महोत्सवाय' होती है। उसमें श्रोत्र, नेत्र एक महोत्सव में डूब जाते हैं।

संगीतसमयसार में वाद्य और नृत्य का भी वर्णन है। वन्दना-मुद्रा का यह वर्णन देखिए—

केशबन्धो करौप्रोक्तौ तौ दिगम्बरसूरिणा।
उत्तानवंचितौ किंचित् पार्श्वगौत्रिपताकरौ ॥६।८९॥

'दिगम्बराचार्यों ने वन्दना-मुद्रा के अवसर के लिये बताया है कि दोनों हाथों को जूड़े की तरह बाँधना चाहिए, वे अधिक ऊँचे न हों, कुछ बगल की ओर झुकाते हुए तीन आवर्त देने चाहिए।

आचार्य पार्श्वदेव ने शान्तरस को विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए लिखा है—

वूर्ण स्यात् सात्वती वृत्ति वैदर्भीरीतिरुत्तमा।
शान्तो रसो विजानीयाद् गद्यविद्या विशारदैः ॥४।१६९॥

'गद्यविद्या में निपुण लोगों ने वृत्तियों में सात्वती वृत्ति को श्रेष्ठ माना है, रीतियों में वैदर्भी रीति को उत्तम माना है और रसों में शान्तरस को श्रेष्ठ कहा है।

शार्ङ्गदेव—ईसा की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ शार्ङ्गदेव का संगीत-रत्नाकर संगीत शास्त्र का उच्चकोटि का प्रामाणिक ग्रंथ है। वे संगीत के विषय में निशंक कहलाते थे और उनके ग्रंथ का मान भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का सा ही है।[1]

शार्ङ्गदेव ने प्रचलित रागों को निम्नांकित दस भागों में विभाजित किया था—(१) ग्राम राग (२) उपराग (३) राग (४) भाषा (५) विभाषा (६) अन्तर भाषा (७) रागांग (८) भाषांग (९) क्रियांग (१०) उपांग। संगीत रत्नाकर पर अनेक ग्रन्थकारों ने टीकाएँ लिखीं जिनमें केवल कल्लिनाथ की 'बृहट्टीका' पूना से प्रकाशित हुई है। उन्होंने उत्तरी और दक्षिणी पद्धतियों का सुखद मिश्रण किया था। उत्तरी और दक्षिणी पद्धतियों में समानताएँ भी हैं और विभेद भी है। दक्षिण में रागों की संख्या कुछ अधिक है। दक्षिण में शुद्ध शास्त्रीय संगीत की ओर आग्रह रहा है। सात स्वरों का २२ श्रुतियों में विभाजन किया जाता है जैसे 'सा' के बाँट

---

१. भरत के अभिमतानुसार शार्ङ्गदेव ने राग, रस और रागस्वरूप का विवेचन किया है।

में चार आती हैं, 'रे' के बाँट में तीन, 'गा' की दो, मा की फिर चार ऐसे एक स्वर के बाँटे में चार श्रुतियाँ पड़ीं। जहाँ दक्षिण वाले उनको 'सा' के पहले लगाएँगे वहाँ उत्तर वाले पीछे। जहाँ दक्षिणवालों में 'सा' की समाप्ति होती है वहाँ हमारे सा का आरम्भ होता है। दक्षिण के संगीत में एक नवजीवन भरने का श्रेय संत 'त्याग-राज' को है। दक्षिण की अधिक शास्त्रीयता के कारण वहाँ नवीनता के लिये कम गुंजाइश रही। दक्षिण बाहर के प्रभावों से अछूता-सा रहा। वहाँ का कर्नाटकी संगीत अपने मौलिक रूप को बनाये रहा।

विदेशी प्रभाव—शार्ङ्गदेव के पश्चात् देश में विदेशी प्रभावों का समावेश होने लगा और इस प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत का जन्म हुआ। इसके पोषक और अभिभावक थे खड़ीबोली के आदिम कवि अमीर खुसरो। इन्होंने भारतीय रागों का फारसी रागों के साथ सम्मिश्रण करके कुछ नये राग निकाले, जिनमें यमन और शहाना आदि अब भी प्रचलित हैं। ख्याल पद्धति के गायन को जन्म देने का श्रेय इन्हीं को है। राजपूतों में राणा कुम्भा ने जयदेव के गीत गोविन्द पर एक टीका लिखी थी जिसमें उसमें वर्णित रागों तथा संगीत-कला पर भी प्रकाश डाला गया था।

बैजू बावरा—सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में बैजू बावरा का बड़ा प्रभाव रहा। इन्होंने गुजरात में जन्म ग्रहण किया था और ग्वालियर के राजा मान-तोमर के आश्रय में संगीत-शिक्षा प्राप्त की थी। राजा मानतोमर के यहाँ ध्रुपद शैली का, जो संस्कृत छन्द पर आश्रित थी, विकास और पोषण हुआ था। ध्रुपद आज भी शास्त्रीय संगीत का प्रतीक है। १५३१ ई० में पं० सोमनाथ ने 'रागविबोध" नामक ग्रन्थ की रचना की।

वैष्णव पद-शैली—मध्यकाल में वैष्णवों की पद-शैली बहुत लोकप्रिय हुई, जिसके आदि आचार्य जयदेव और विद्यापति थे। इसको गायन कला का रूप देने का श्रेय हरिदासजी तथा हरिवंशजी को है। सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियों ने तथा मीरा ने अपने पदों को गाया है। इनमें गायक के अतिरिक्त भक्त का भी उत्साह था। तुलसी के लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि वे स्वयं गायक थे या नहीं, किन्तु उनके पद गेय अवश्य हैं। हिन्दू और मुसलमान सन्तों ने भी अपनी वाणी के गायन द्वारा प्रचार किया। वे प्रायः एकतारा पर ही गाते थे। अधिकांश वैष्णव भक्त अकबर के समय में हुए। अकबर स्वयं अच्छे संगीतज्ञ थे। उनके दरबार से रुबाब आदि विदेशी बाजे देशी आवश्यकताओं के अनुकूल बदल लिए गये थे।

तानसेन—तानसेन भी इसी समय में हुए। तानसेन ने हिन्दुस्तानी संगीत का अधिक प्रचार किया। कव्वाली ख्याल का एक मुस्लिम रूप है। इसके आविष्कारक मुसलमान सूफी फकीर थे। जहाँगीर ने भी अकबर की परम्परा कायम रखी। औरंगजेब की कट्टर धार्मिकता के कारण संगीत-कला का दरबार से तो बहिष्कार हो

ही गया और अन्यत्र भी इसके प्रचार पर रोक लगी। मुहम्मदशाह रंगीले के समय में उसको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। दिल्ली में पंजाब के मियाँ शारी ने ठप्पा नाम की शैली का प्रचार किया।

दामोदर पण्डित—सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध (१६२५ ई०) में दामोदर पण्डित ने 'संगीत दर्पण' नामक भारतीय संगीत के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ।

सन् १६७५-१७०६ ई० के मध्य पं० भावभट्ट ने संगीत पर तीन ग्रन्थ लिखे—अनूपविलास, अनूपांकुश, अनूपसंगीत रत्नाकर। १७५० ई० के लगभग पं० अहोबल ने 'संगीत पारिजात' नामक ग्रन्थ की रचना की। १७४८ ई० में मेवाड़ के महाराणा कुंभनदेव ने 'वाद्यरत्नकोश' नामक ग्रन्थ लिखा। १८ वीं शती में श्रीकण्ठ पण्डित ने 'रसकौमुदी' नाम से एक सुन्दर संगीतशास्त्र के ग्रन्थ का निर्माण किया।

दिल्ली के वैभव-विनाश के पश्चात् गायकों ने राजा और नवाबों के यहाँ आश्रय लिया। सन् १८४५ के लगभग कृष्णानन्दन व्यास ने रागकल्पद्रुम बनाया, जिसमें उन्होंने कलाविदों के गाने संगृहीत किये। वाजिदअलीशाह के दरबार से ठुमरी का चलन प्रचारित हुआ।

भारतीय संगीत का नवजागरण काल—वर्तमान समय में भारतीय संगीत के पुनरुद्धार के साथ अंग्रेजी प्रभाव पड़े। हारमोनियम का चलन बढ़ा और थियेट्रिकल गानों का प्रचार हुआ, लेकिन विष्णुदिगम्बर और भातखण्डे जैसे सदाशय व्यक्तियों ने भारतीय परम्पराओं को कुछ सरलता के साथ पुनर्जीवित करने का उद्योग किया। विष्णुदिगम्बर का बम्बई, इलाहाबाद आदि में अधिक प्रभाव रहा। भातखण्डे का ग्वालियर और लखनऊ में। राय राजेश्वर के मन्त्रित्वकाल में लखनऊ में मेरिस कॉलेज की स्थापना हुई। इन लोगों ने विद्यार्थियों के लाभार्थ अपनी-अपनी स्वर-लिपियाँ अंकित कीं (इन दोनों महानुभावों की स्वरलिपियों की अंकन-शैली में भेद है)। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत को फिर प्रोत्साहन मिला। उधर बंगाल में ठाकुर (टैगोर) परिवार के प्रभाव के कारण संगीत का उद्धार हुआ। महाराजा सुरेन्द्रमोहन ठाकुर ने संगीत पर बहुत से ग्रन्थ लिखे। उनमें भारतीय वाद्ययन्त्रों पर एक बड़ी पुस्तक लिखी गई। बंगाल में कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से साहित्य और संगीत का अधिक मिश्रण हुआ, जिसका प्रभाव हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों पर भी पड़ा। राष्ट्रीयता के नाते टैगोर और डी० एल० राय के गायनों का ग्रामों में भी प्रचार हुआ। राष्ट्रीय उत्थान तथा स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण परमहंस की शिक्षा के प्रचार से एवं संगीत सभाओं के प्रभाव से उस्तादों की अपेक्षा विनोदाभ्यासी लोगों का चलन बढ़ता जाता है। इधर सिनेमा के भी थिएट्रिकल गानों के साथ कुछ सस्ता

लोकप्रिय संगीत का चलन बढ़ाया है और रेडियो उस्तादों के शास्त्रीय गानों के साथ चलते हुए गानों को प्रोत्साहन भी दे रहा है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि संगीत के प्रचार से सामाजिकता, सुरुचि तथा काव्य और कला-प्रेम को प्रोत्साहन मिला है।

भातखण्डेजी का संस्कृत, मराठी, गुजराती, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं पर अधिकार था। उनके प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—स्वरमालिका (गुजराती), हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति ४ भाग, अभिनव रागमंजरी और लक्ष्यसंगीत (तीनों संस्कृत में)।

१२ प्राचीन भारत में वैज्ञानिक उन्नति

ज्योतिष—प्राचीनकाल में भारत ने आध्यात्मिक उन्नति तो की ही थी किन्तु विज्ञान में भी और देशों का अगुआ रहा था। हमारा देश धर्म-प्रधान अवश्य रहा है किन्तु हमारे यहाँ के धर्म में लौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस (आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा) दोनों ही सम्मिलित थे। अधिकांश विज्ञानों का धर्म के साथ ही विकास हुआ। ज्योतिष को तो वेदाङ्ग ही माना गया है। शिक्षा और निरुक्त में भाषा-विज्ञान के ध्वनि और अर्थ सम्बन्धी ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों की खोज हुई। इन शास्त्रों का वेदों के उच्चारण और अर्थ से सम्बन्ध था। यज्ञ की वेदियों के बनाने में शुल्व सूत्रों द्वारा रेखागणित या ज्यामिति आदि का विकास हुआ। पाइथेगोरस को इस सिद्धान्त का आविष्कर्त्ता माना जाता है कि समकोण त्रिभुज के सामने वाली भुजा पर का वर्ग शेष दो भुजाओं पर के योग के बराबर होता है। यह सिद्धान्त ईसा से प्रायः ८०० वर्ष पूर्व हमारे यहाँ के आचार्य बोधायन को ज्ञात था, किन्तु इसका श्रेय पाइथेगोरस को ही दिया जाता है। यज्ञों को कालाधीन बताया गया है—'कालानुपूर्वा विहिताश्चयज्ञः' यज्ञों के समय निश्चित करने के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता था कि दिन-रात्रि कब बराबर होते हैं। वैदिक मासगणना सूर्य और चन्द्र दोनों से होती थी। महीनों के सौर नाम भी थे और चन्द्र नाम भी, जैसे माघ का नाम तपस, चैत्र का नाम मधु, वैशाख का नाम माधव था। अधिक मास द्वारा वे इन मासों की संगति बैठालना भी जानते थे। यज्ञों का ऋतुओं से भी सम्बन्ध रहता था, जैसे ज्योतिष्ठोम बसन्त ऋतु में होता था और वाजपेय-यज्ञ ग्रीष्म ऋतु में। इन ऋतुओं का सम्बन्ध महीनों और नक्षत्रों से था। वे नक्षत्रों को पहिचानते थे और उनका उन्होंने नामकरण भी कर लिया था। वैदिक ऋषि यह भी जानते थे कि जमीन गोल है और सूर्य की शक्ति से अन्तरिक्ष में डटी हुई है। वे लोग बारह राशियों और सूर्य से उत्तरायण दक्षिणायन होने की बात भी जानते थे। प्राचीन ज्योतिषाचार्यों में गर्ग, पाराशर ऋषि-पुत्र काश्यप और देवल (जिनका श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के महर्षि व्यास के साथ उल्लेख हुआ है) आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

महाभारत में पाण्डवों के बारह वर्ष के अज्ञातवास के काल-निर्णय में कई प्रकार के वर्षों का उल्लेख हुआ है और प्रसंगवश ज्योतिष के सिद्धान्तों पर भी

प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति आदि में भी ज्योतिष का वर्णन है। 'सूर्य सिद्धान्त' का उल्लेख वाराहमिहिर ने ५०५ ई० में अपनी 'पञ्च सिद्धान्तिका' में किया है, किन्तु वह उपलब्ध नहीं। आजकल जो सूर्य-सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है वह उससे भिन्न है। चलापृथ्विस्थिता वाले आर्यभट्ट का जन्म ४७६ ई० में हुआ था। इन्होंने ज्योतिष को पूर्ण वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया था। आर्यभट्ट पृथ्वी को चल मानते थे।

आर्यभटीय का उल्लेख ८वीं शताब्दी में अरबी में 'अर्जवहर' नाम से हुआ था। यहाँ की वर्तमानकालीन वैज्ञानिक कल्पना से वे परिचित थे।

वाराहमिहिर को, जिनका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, कुछ लोग कालिदास के साथ ईसा पूर्व पहली शताब्दी का मानते हैं क्योंकि वे विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिनाये गये हैं। नवरत्नों के नाम इस प्रकार हैं—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकुवेताल घटकर्पर कालिदासाः।
वराहमिहिरो नृपतेः सभायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

किन्तु वाराहमिहिर ने आर्यभट्ट का नामोल्लेख किया है। इस आधार पर उनको आर्यभट्ट से पीछे का मानना अधिक तर्कसम्मत होगा। यह बात भी सम्भव हो सकती है कि आर्यभट्ट, जिनका वाराहमिहिर ने उल्लेख किया है, कोई दूसरे हो। वाराहमिहिर ने अपनी पंच सिद्धान्तिका में जिन पांच सिद्धान्तों का विवरण दिया है वे इस प्रकार हैं—पुलिश, रोमन, विशिष्ट, सौर (सूर्य) और पितामह। रोमन सिद्धान्त के सम्बन्ध में विद्वानों का विचार है कि इसमें यूनानी या रोमन सिद्धान्तों का वर्णन है। सभ्य देशों में सभी देशों के ज्ञान से जानकारी रखने का प्रयत्न होता है। सम्भव है यह भी ऐसा ही प्रयत्न हो। वाराहमिहिर को पुच्छल तारों का भी हाल मालूम था।

वाराहमिहिर के पश्चात् ब्रह्मगुप्त और लल्ल का नाम आता है। ब्रह्मगुप्त ने लगभग ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त और खण्डखाद्य लिखे। उन्होंने तथा उनसे कुछ वर्ष पीछे होने वाले आचार्य लल्ल ने आर्यभट्ट के भू-भ्रमण सिद्धान्त का खण्डन किया है। वास्तव में बात यह थी कि आर्यभट्ट अपने समय में बहुत आगे थे। सहज में जनता उनको नहीं स्वीकार कर सकती थी। लल्ल-सिद्धान्त में भू-भ्रमण के विरुद्ध ऐसी ही युक्तियाँ दी गई हैं जैसी कि आजकल के बेपढ़े लोग देते हैं—जैसे कि अगर पृथ्वी घूमती है तो घोंसले से उड़ा हुआ कबूतर क्यों घोंसले में वापिस आ जाता है? इसका तो सहज उत्तर यह था कि न तो पृथ्वी का वातावरण पृथ्वी से अलग है और न घोंसला ही अलग है।

बारहवीं शताब्दी में (१११४) महेश्वर के पुत्र भास्कराचार्य ने सिद्धान्त-शिरोमणि, ग्रह गणित, ग्रहलाघव, सूर्यसिद्धान्त-व्याख्या भास्कर दीक्षित आदि कई ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे और आर्यभट्ट के सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की। सिद्धान्त शिरोमणि में चार भाग हैं—(१) लीलावती, (भास्कराचार्य की पुत्री को गणित में

बहुत रुचि थी, उसी के नाम पर इस अध्याय का नामकरण हुआ) (२) बीज गणित, (३) ग्रहगणिताध्याय और (४) गोलाध्याय। भास्कराचार्य ने इस बात की व्याख्या की है कि पृथ्वी गोल होते हुए भी चपटी क्यों दिखाई देती है। मनुष्य पृथ्वी की परिधि का एक छोटा-सा भाग देखता है। इसलिए वह उसे चलता दिखाई देता है। भास्कराचार्य को पृथ्वी के आकर्षण का नियम, जिसकी खोज का श्रेय न्यूटन को दिया जाता है, सैकड़ों वर्ष पहिले मालूम था।

आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत पततीव भांति समे समन्तात क्वं पतत्विवयंरवे॥

अर्थात् पृथ्वी अपनी आकर्षण-शक्ति के बल से सब वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। इसलिए सब पदार्थ उसकी ओर गिरते हुए दिखलाई पड़ते हैं—आकाश में नहीं गिरते। प्रोफेसर विलसन भारतीयों के ज्योतिष-ज्ञान के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"भारत में मिलने वाली क्रान्ति-वृत का विभाग, सौर और चान्द्रमासों का निरूपण, ग्रहगति का निर्णय, अयनांश का विचार, सौर राशि मंडल, पृथ्वी की निराधार अपनी शक्ति से स्थिति, पृथ्वी की अपने अक्ष पर दैनिक गति, चन्द्र-भ्रमण और पृथ्वी से उसका अन्तर, ग्रहों की कक्षा का मान तथा ग्रहण का गणित आदि ऐसी बातें हैं जो अशिक्षित जातियों में नहीं पाई जाती हैं।"

अठारहवीं शताब्दी में जयपुर के सवाई महाराजा जयसिंह ने जयपुर में वेधशालाएँ बनवाईं। नई दिल्ली का यंत्र मंदिर (जन्तर मन्तर) उन्हीं का बनवाया हुआ है। इन वेधशालाओं के बनवाने में पाश्चात्य देशों की खोज की भी सहायता ली गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में बापूदेव शास्त्री तथा सुधाकर द्विवेदी ने पुरानी शैलियों के साथ नई शैलियों का भी सम्मिश्रण किया।

गणितशास्त्र—गणितशास्त्र का ज्योतिष से विशेष सम्बन्ध रहा है। जैसा हम पहले कह चुके हैं वेदियों के निर्माण के सम्बन्ध में रेखागणित के सिद्धान्तों का विकास हुआ। भारत ही बीजगणित का आविष्कर्ता है। अंकों की गणना का प्रचार यहीं से हुआ। पहले लोग शून्य भी नहीं जानते थे। १०, २०, ३०, १०० तक के लिए पृथक्-पृथक् संख्या चिन्ह थे, जैसे रोमन अंकों में हैं। दस के लिए X, पचास के लिए L, सौ के लिए C। हमारे यहाँ भी प्राचीन शिलालेखों में ऐसे गणना-चिह्न मिलते हैं। भारतवासियों ने एक पर शून्य लगाकर १० तथा एक पर एक लिखकर ११ लिखने तथा इसी प्रकार दहाई सैकड़ा आदि की दश गुणोत्तर रीति निकालीं। योगसूत्र के व्यास भाष्य में, जो ईसवी सन् ३०० के लगभग रचा गया दशगुणोत्तर अंक-क्रम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पहले हिब्रू, यूनानी, अरब आदि वर्णमाला

---

१. ओझा जी की मध्यकालीन '**भारतीय संस्कृति**' नाम की पुस्तक के पृष्ठ ८४ पर दिया हुआ एक उद्धरण।

के अक्षरों से संख्या का काम लेते थे। खलीफा वलीद के समय (ई० ७०५–७१५) तक अंकों का प्रचार नहीं हुआ था। इसके पश्चात् अरबों ने भारतवर्ष से ये अंक लिये, तभी तो ये हिन्दसे कहलाते हैं। यह शब्द ही हिन्द का ऋण स्वीकार करता है। फिर ये अरब द्वारा यूरोप में गये, तभी से Arabic Figures कहलाते हैं। उन्होंने अरब का ऋण स्वीकार किया और अरबों ने हमारा। इन अंकों का प्रवेश एक भारतीय राजदूत द्वारा ७७३ ई० में बगदाद में हुआ। वहाँ से अरब में फैला। प्राचीन रोमन दस हजार तक की गिनती जानते थे, अरब लोग १००० तक की ही जानते थे। इस सम्बन्ध में अलबेरूनी लिखता है—"जिन भिन्न-भिन्न जातियों से मेरा सम्पर्क रहा, उन सबकी भाषाओं में सख्या सूचक चक्र के नामों (इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि) का मैंने अध्ययन किया है कि जिससे मालूम हुआ की कोई जाति एक हजार से आगे नहीं जानती। अरब लोग भी एक हजार तक (नाम) जानते हैं·······अपने अङ्क क्रम में, जो हजार से अधिक जानते वे हिन्दू हैं········वे संख्या सूचक क्रम को अठारहवें स्थान तक ले जाते हैं जिसको परार्द्ध कहते हैं।" १०० के दश गुणन के हमारे यहाँ अलग-अलग नाम थे, जैसे सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, न्यबुर्द, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्द्ध। बाल्मीकीय रामायण में सुग्रीव के सेनापतियों की सेनाओं की संख्या के वर्णन में इन संख्याओं का व्यावहारिक प्रयोग हुआ है। अर्बुद की संख्या के आगे का श्लोक देखिए—

अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानराः।
समुद्राश्च परार्द्धाश्च हरयो हरियूथपाः॥

(वा. रा. कि. का. ३८।३१)

अर्थात् अरब (हजार शङ्ख का एक अरब) सौ अरब का एक मध्य तथा अंत वाले तथा समुद्र वाले और परार्द्ध वाले वानर यूथों के यूथप या सेनापति थे।

बीज-गणित को अंग्रेजी में ऐलजेब्रा कहते हैं। जिन शब्दों में अल लगा होता हैं वे प्रायः अरबी के होते हैं। यूरोपीय विद्वान बीजगणित के सम्बन्ध में भारत का ऋण स्वीकार करते हैं।[1]

अर्थात् आठवीं-नवीं शताब्दी में हिन्दुस्तानी लोग अरबी लोगों के अंक-गणित व बीजगणित के शिक्षक बने और उनके द्वारा पश्चिमी जातियों के। इस प्रकार यद्यपि हम उस विज्ञान को अरबी नाम से पुकारते हैं तथापि यह हमको भारतीयों की देन है। हम उनके ऋणी हैं।

भारतीयों को त्रिकोणमिति का भी अच्छा ज्ञान था। इस ज्ञान का प्रयोग ज्योतिष की गणना में करते थे।

---

1. "During the Eighth and Ninth centuries the Indians became the teachers of Arithmatic and Algebra of the Arabs and through them, of the nations of the west. Thus, though we call later Science by an Arabic name it is a gift we owe to India."

कामशास्त्र—भारत में कामशास्त्र का वैज्ञानिक दृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ। इनमें सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ वात्स्यायन का 'कामसूत्र' है। वात्स्यायन के पूर्ववर्ती कामशास्त्रकार ये हैं—औद्दालकि, श्वेतकेतु, बाभ्रव्य, दत्तक, सुवर्णनाभ, घोटक मुख, गोन्दीय, कूचुमार। इन पूर्ववर्ती लेखकों के ग्रन्थों का सार लेकर 'कामसूत्र' की रचना हुई। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ कामशास्त्र अत्यन्त विकसित एवं वैज्ञानिक था। इसमें स्त्री-पुरुष-भेद विवेचन के अतिरिक्त पति के प्रति स्त्री के कर्तव्यों तथा गृहस्थ के योग्य कार्यों आदि का भी विस्तृत वर्णन है। काम चतुर्वर्ग में से एक है। वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर (१३ वीं शती) की जयमंगल टीका सर्वोत्कृष्ट है। कामशास्त्र के अन्य ग्रन्थ ये हैं—(१) ज्योतिरीश्वर का पंचशायक (११ वीं शती उत्तरार्द्ध) (२) कोक्कन का रतिरहस्य (११ वीं शती उत्तरार्द्ध) (३) जयदेव की रति मंजरी (अनिश्चित काल) (४) विजयनगर के राजा ईम्मदि प्रौढ़देवराय की रतिरत्न प्रदीपिका (१५ वीं शती) (५) कल्याणमल्ल का अनंगरंग (१६ वीं शती) (६) वीरभद्र का कन्दर्प चिन्तामणि (१६ वीं शती)।

चौंसठ कलाएँ

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में चौंसठ कलाओं का विवरण मिलता है। 'कामसूत्र' के टीकाकार जयमङ्गल ने इनको इस क्रम में गिनाया है—(१) गीत, (२) वाद्य, (३) नृत्य, (४) आलेख्य, (५) विशेष कच्छेद्य, (६) तण्डुल कुसुमवलिविकार, (७) पुष्पास्तरण, (८) दशनवसनाङ्गराग, (९) मणिभूमिका कर्म, (१०) शयनरचना, (११) उदकवाद्य, (१२) उदकाघात, (१३) चित्राश्च योगाः, (१४) माल्यग्रन्थन विकल्प, (१५) शेखर का पीड़योजन, (१६) नेपथ्यप्रयोग, (१७) कर्णपत्रभङ्ग, (१८) गन्धयुक्ति, (१९) भूषणयोजन, (२०) ऐन्द्रजाल, (२१) कौचुमार योग, (२२) हस्तलाघव, (२३) विचित्रशाक यूषभक्ष्य-विकार-क्रिया, (२४) पानकरस-रागासव-योजन, (२५) सूचीवानकर्म, (२६) सूत्रक्रीड़ा, (२७) वीणामरूक वाद्य, (२८) प्रहेलिका, (२९) प्रतिमाला, (३०) दुर्वाचक योग, (३१) पुस्तक वाचन, (३२) नाटकाख्यायिका दर्शन, (३३) काव्य समस्या पूरण, (३४) पट्टिकावेत्रवानविकल्प, (३५) तक्षकर्म, (३६) तक्षण, (३७) वास्तुविद्या, (३८) रूप्यरत्न-परीक्षा, (३९) धातुवाद, (४०) मणिरागाकर-ज्ञान, (४१) वृक्षायुर्वेद योग, (४२) मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि, (४३) शुक-सारिका प्रलापन, (४४) उत्सादन-संवाहन केशमर्दन-कौशल, (४५) अक्षरमुष्टिका कथन, (४६) म्लेच्छित विकल्प, (४७) देशभाषा ज्ञान, (४८) पुष्पशकटिका, (४९) निमित्त ज्ञान, (५०) यन्त्रमातृका, (५१) धारणमातृका, (५२) संपाठ्य, (५३) मानसीकाव्य-क्रिया, (५४) अभिधान कोष, (५५) छन्दोज्ञान, (५६) क्रियाकल्प, (५७) छलितक योग, (५८) वस्त्रगोपन, (५९) द्यूतविशेष, (६०) आकर्षक्रीड़ा, (६१) बालक्रीड़नक, (६२) वैनयिकी विद्या, (६३) वैजयिकी विद्या, (६४) व्यायाम विद्या।

उपवेद

चार वेदों के चार उपवेद भी बहुत प्राचीनकाल से माने जाते हैं। 'चरण व्यूह' के अनुसार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद, का धनुर्वेद, सामवेद का गांधर्व-वेद तथा अथर्ववेद का उपवेद अथर्ववेद (दण्डनीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, स्थापत्य कला आदि) है।

आयुर्वेद—आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद माना गया है। हमारे यहाँ प्राचीन काल के वैद्यों में धन्वन्तरि और अश्विनीकुमार प्रमुख माने गये हैं। धन्वन्तरि तो समुद्र से निकले हुए चौदह रत्नों में माने जाते हैं। अगस्त्य के पुरोहित खेल ऋषि की स्त्री विश्पला अपने पति के साथ युद्ध में गई थी, वहाँ उसकी जँघा टूट गई। अश्विनीकुमार ने विश्पला की जांघ ठीक की। अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य थे। उनके सम्बन्ध में कई पौराणिक कथाएँ हैं। ऋग्वेद में वैद्य और औषधि के सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर उपमा दी गई है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः।

अर्थात् वही ब्राह्मण वैद्य है जिसके चारों ओर औषधियाँ उसी प्रकार रहती हैं जैसे राजा के आस-पास उसकी समिति। वैद्यक शास्त्र के सबसे पुराने और प्रामाणिक ग्रन्थ, जो आजकल वर्तमान हैं वे, चरक और सुश्रुत संहिताएँ हैं। चरक कनिष्क के समकालीन माने जाते हैं। चरक सुश्रुत की अपेक्षा प्राचीनतर है। डॉक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय की सम्मति में चरक-संहिता किसी बृहत् आयुर्वेदिक सम्मेलन की कार्यवाही का अङ्कन-सी जँचती है। सुश्रुत अधिक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक है।

आजकल चरक का जो ग्रन्थ वर्तमान है वह दृढ़बलकृत चरक संहिता का दूसरा संस्करण है। पूर्व नन्द-युग में तक्षशिला आयुर्वेद शास्त्र का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। पाली साहित्य में जीवक का वृतान्त मिलता है। वह तक्षशिला आयुर्वेद सीखने गया था और सात वर्ष तक वहाँ शिक्षा पाई थी। उसको जीवककुमार बच्च कहते हैं, क्योंकि वह बच्चों की चिकित्सा में कुशल था। सुश्रुत धन्वन्तरि के शिष्य थे। इनके अतिरिक्त भेड़, हारीत, पाराशर, काश्यप आदि अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध हैं। बौद्ध आचार्य नागार्जुन आयुर्वेद शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। सुश्रुत का वर्तमान संस्करण उन्हीं के द्वारा सम्पादित हुआ था। उनका उल्लेख अरबी विद्वान अलबरूनी ने भी किया है।

आयुर्वेद साहित्य में चरक व सुश्रुत के पश्चात् तीसरा स्थान वाग्भट्ट जैन के अष्टांगहृदय का है। यह छठी शताब्दी ईसवी के अन्तिम भाग की रचना है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने चिकित्साशास्त्र के सभी अङ्गों की विधिवत खोज की थी। रोग के निदान को वे नाड़ी के द्वारा करते थे तथा रोगी से प्रश्नोत्तर पीछे करते

थे। रोग के कारणों के अनुकूल ही वे चिकित्सा करते थे। उनको शरीर शास्त्र और शरीर के विभिन्न आन्तरिक अवयवों का पूरा-पूरा ज्ञान था। इस ज्ञान के लिये वे शवों की चीड़फाड़ भी करते थे। सुश्रुत के शरीर-स्थान अध्याय में बतलाया गया है कि शल्य के यथार्थ ज्ञान के लिये शव को विधिवत् तैयार करके उसकी चीर-फाड़ द्वारा प्रत्येक अंग से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

योरोप में सर विलियम हार्वे द्वारा रक्त-संचरण की खोज के बहुत काल पहले यह ज्ञान बड़े स्पष्ट शब्दों में चरक संहिता में दिया गया है। उसमें बताया गया है कि हृदय से नाड़ियों द्वारा रक्त प्रवाहित होकर शरीर के सब अंगों को पहुँचता है। रुधिर द्वारा सब मनुष्यों और जानवरों का पोषण होता है। वे लोग यह भी जानते थे कि गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में माता के हृदय से सीधा उसके (गर्भ) पोषण के लिये जाता है। वह यह भी जानते थे कि गर्भ के तीसरे-चौथे महीने में बच्चे का हृदय स्वतन्त्र रूप से काम करने लगता है, उस अवस्था को वे दोहृद (द्वि-हृदय) कहते थे। शिराओं और धमनियों का उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान था। हड्डियों की भी उन्होंने गिनती की थी और बहुत से अंगों के सम्बन्ध में वह आजकल की गणना से मिलती है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी हड्डियों की संख्या दी है। ज्ञान-तंतुओं का केन्द्र पहले हमारे यहाँ हृदय ही माना जाता था, किन्तु इस सम्बन्ध में यूनान के लोगों ने भी कोई प्रगति नहीं की थी। अरस्तू ने भी हृदय को ही ज्ञान का केन्द्र माना है। हठयोगियों ने मेरुदण्ड और मस्तिष्क के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त की थी।

शल्य विज्ञान सम्बन्धी जो यन्त्र बनाये गये थे वे आजकल के यन्त्रों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। सुश्रुत ने चिकित्सा में प्रयोग आने वाले यन्त्रों की संख्या १०१ मानी है और वाग्भट्ट ने ११५ मानकर लिख दिया है कि वैद्य आवश्यकता के अनुसार और यन्त्र बनवा सकता है। शास्त्रों के लिए लकड़ी के शस्त्र कोशों (Cases) का भी उल्लेख आता है। वे लोग यद्यपि क्लोरोफॉर्म जैसी चीज नहीं जानते थे, तथापि सुश्रुत में शल्य क्रिया के पूर्व नशे द्वारा रोगी को बेहोश करने की बात आती है। बड़े-बड़े शल्य-प्रयोग भी किये जाते थे, जैसे पेट को चीर कर आँतों को ठीक करना, पथरी निकालना, शल्य क्रिया से बच्चे पेट से निकालना (इसके लिये विशेष यन्त्र होता था जिसे प्रजनन-शंकु कहते थे) आदि।

श्रीयुत बेवर लिखते हैं, "आज भी पाश्चात्य विद्वान भारतीय चिकित्सा से बहुत-कुछ सीख सकते हैं, जैसे कि मैंने कटी हुई नाक को जोड़ने की विधि भारतीयों से सीखी।"[1]

रसायन शास्त्र—आयुर्वेद के अन्तर्गत ही भारतीय रसायन शास्त्र का विकास हुआ। सुश्रुत में पारद, संखिया, अंजनक (Antimony) के समासों (Compounds) का प्रयोग रोगों के उपचार में बताया है। योरोप में इनका प्रचार बहुत पीछे से हुआ है।

---

१. **इण्डियन लिटरेचर**, पृ० २७०।

मकरध्वज पारे का गंधिद (Sulphide) है उसमें पारे के सब दोष निकल जाते हैं। वह मनुष्य शरीर संस्थान के लिये ग्राह्य बन जाता है। योरोपीय पद्धति द्वारा बने हुए मकरध्वज में वह गुण नहीं है। स्वर्ण और लोहे की भस्में तैयार हुईं। महर्षि पतंजलि ने भी लौह-भस्म तैयार करने में सिद्धि प्राप्त की थी। उनका लिखा हुआ लौह-शास्त्र बतलाया जाता है। उन्होंने पाणिनि व्याकरण का भाष्य लिखकर भाषा की शुद्धि की और योगसूत्र लिखकर मन की शुद्धि की—"योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन योऽपाकरोत् ।"

हमारे आयुर्वेदाचार्य पारे से सिन्दूर बनाना ही नहीं जानते थे वरन् वे विद्याधर यन्त्र द्वारा सिन्दूर से फिर पारा बनाने की भी क्रिया जानते थे। वे क्षारों का भी प्रयोग जानते थे। मृदु क्षारों को वे तीव्र बना सकते थे। वे धातु विद्या में निपुण थे। कुतुबमीनार के पास जो लाट पृथ्वीराज की कीली के नाम से प्रसिद्ध है, धातु-विद्या-विज्ञान का अच्छा प्रमाण है। इस सम्बन्ध में वास्तुकला पंडित फर्गुसन की निम्नलिखित पंक्तियाँ[1] विशेष महत्व की हैं—

"चार सौ ईसा पश्चात् को एक मध्यतिथि मानने पर और वह तिथि सत्य से बहुत दूर भी नहीं है, यह कीली या स्तम्भ हिन्दुओं की तत्कालीन अप्रत्याशित विकासावस्था के सम्बन्ध में हमारा नेत्रोन्मीलन करती है। यह जानकर आश्चर्य होता है कि उस युग में हिन्दू लोग इतनी लम्बी (यह खम्बा २४ फुट और बोझ में ६ टन का है) कीली बनाने में समर्थ हुए, जो योरोप में बहुत पीछे काल तक नहीं बन सकी और अब भी कभी-कभी ही बन सकती है।"

आयुर्वेद में केवल मनुष्यों की ही चिकित्सा नहीं होती थी, वरन् अश्व और गजों के भी अलग-अलग आयुर्वेद प्रसिद्ध हैं। शालिहोत्र ऋषि ने अश्वों का आयुर्वेद शास्त्र लिखा है। इसीलिये आज भी घोड़ों के चिकित्सक शालिहोत्री कहलाते हैं। पालकाप्य ने गजायुर्वेद शास्त्र लिखा। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने कुष्ट तथा मोतीझला, चेचक आदि रोगों के सम्बन्ध में कीटाणुओं का भी उल्लेख किया है। वे रुधिर में भी कीटाणुओं का अस्तित्व मानते थे। हमारे यहाँ आयुर्वेदाचार्य दन्त चिकित्सा में भी निपुण थे। वे पायोरिया जिसको वे उपकुश कहते थे और दाँत के कीड़े के रोग से, जिनको वे कृमि दन्तक कहते थे, परिचित थे। वे दाँतों के टारटर को जिसको दन्त शर्करा कहते थे, खुरचने और साफ करने की विधि भी जानते थे। इसके लिए उनके पास यन्त्र भी थे। वे दाँत उखाड़ना भी जानते थे। प्राचीन लोग कृत्रिम दाँत भी लगाते थे। एलफिन्सटन के इतिहास (पृष्ठ ३६५) में लिखा है कि रणभूमि में जयचन्द का शव उसके कृत्रिम दाँतों से पहिचाना गया था।

---

1. "Taking 400 A. D. as the mean date—and it certainly is not far from the truth, it opens our eyes to an unsuspected state of affairs to find the Hindus at that age capable of forgoing a bar of iron longer than any that have been forged even in Europe up to a very late date, and not frequently even now ?"

भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र में भी प्राचीन लोगों ने इतनी उन्नति तो नहीं की थी जितनी कि ज्योतिष में, किन्तु उन्होंने अणु और परमाणु की कल्पना करली थी। वैशेषिक दर्शन परमाणुओं को मानता है। प्राचीन ऋषियों ने जो पंच-तत्व माने थे वे आजकल के से तत्व न थे, वरन् वे वस्तुओं की मूल भौतिक दशाएँ थीं। हमारे दार्शनिकों ने पंचतत्वों को पंच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित किया था।

वनस्पति शास्त्र—हमारे यहाँ वनस्पति शास्त्र आयुर्वेद का एक अंग था। आयुर्वेद के अंग रूप में तथा स्वतन्त्र रूप में भी वनस्पति शास्त्र का अध्ययन हुआ, क्योंकि वनस्पतिशास्त्र पर आयुर्वेद के अतिरिक्त कृषि-विद्या, उद्यान-विद्या आदि निर्भर थीं। कामसूत्रों में राजाओं और गृहस्थों के प्रासादों और घरों में उद्यानों का होना विदग्धता का सूचक माना गया है। प्राचीन लोगों ने वनस्पतियों के जीवन तत्वों का पूर्णतया अध्ययन किया था। वृक्ष के लिये पादप शब्द का व्यवहार इस बात का द्योतक है कि वे जानते थे कि वृक्ष अपने जीवन-रस को जड़ों से ग्रहण करता है। वे उसके ऊपर उठने की बात भी जानते थे। शांति पर्व में भी बतलाया गया है कि जिस प्रकार पानी कमल-नाल द्वारा मुँह से ऊपर को चूसा जाता है उसी प्रकार वायु के सहारे रस ऊपर उठता है और पत्तियों में पहुँचता है और वहाँ अग्नि (सौर शक्ति) और वायु द्वारा उसके भोजन में परिवर्तित होकर पचता है। वे लोग वृक्षों में चेतना मानते थे। वनस्पतियों के उत्पादन की जितनी विधियाँ हैं उनसे वे पूर्णतया अवगत थे। उत्पत्ति के आधार पर वनस्पतियों का एक प्रकार का विभाजन किया गया है—बीजरुह (बीज से उत्पन्न होने वाली), मूलज (जिनकी जड़ें लगाई जाती हैं), स्कन्धज (जिनकी टहनी लगाई जाती हैं), स्कन्धेरोपनीय (जिसमें कलम बांधी जाती है), पर्णयोनि (जिनकी पत्ती लगाई जाती हैं)। वे लोग वृक्षों में किसी न किसी प्रकार का योनि-भेद मानते थे। वृक्षों का नामकरण भी उनका बड़ा वैज्ञानिक था। कुछ वनस्पतियों के नाम उनके औषधीय गुणों पर रखे जाते थे जैसे दद्रुघ्न, अर्शोघ्न। कुछ के विशेष गुणों के आधार पर थे जैसे रीठा के लिये फेनिल; कुछ का बनावट के आधार पर नाम होता था जैसे त्रिपत्र, कोशपर्णी, पंचागुल, हेम पुष्प, सतमूली, सतपर्णिका। वनस्पतियों के नामकरण के सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स का लिखना है—

"स्वयम् लेन्युस ने इस प्रकार का नामकरण अपनाया होता, यदि वह इस देश की विद्वत्तापूर्ण प्राचीन भाषा से परिचित होता।"[1]

इस प्रकार प्रायः सभी विज्ञानों में हमारे प्राचीन मनीषियों ने उन्नति की थी। वे पशु-चिकित्सा ही नहीं, पशुओं का—पालतू जानवरों का ही नहीं, हिंस्र का भी वर्गीकरण करते थे। वे यन्त्र विद्या में भी पर्याप्त उन्नति कर चुके थे। नाना

---

1. "Lenneus himself would have adopted them had he known the learned and ancient language of this Country."

प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख आता है। तोप आदि घातक यन्त्र भी वे बनाते थे और वे किसी न किसी प्रकार के वायुयान भी बनाते थे, लेकिन कई कारणों से उनका उन्नति-क्रम रुक गया था। इससे हमारे पूर्वज पश्चिमी देशों की अपेक्षा पिछड़ गये।

धनुर्वेद—यह यजुर्वेद का उपवेद है। इसके प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते किन्तु धनुर्वेद विषयक कुछ अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त हैं, यथा, धनुर्विधि, द्रोणविद्या, कोदण्डमण्डन, धनुर्वेद संहिता इनके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, शार्ङ्गधर पद्धति, अग्निपुराण आदि ग्रन्थों में भगवान शंकर द्वारा प्रवर्तित धनुर्वेद का परिचय मिलता है। शंकर भगवान के शिष्य परशुराम और उनके शिष्य द्रोणाचार्य हुए। द्रोणाचार्य के प्रधान शिष्य अर्जुन थे, जिन्होंने सात्यकि यादव को इस विद्या की शिक्षा दी। भगवान् शंकर प्रोक्त धनुर्वेद के चार पाद ये हैं—दीक्षा प्रकार विधि, संग्रह विधि, प्रयोग विधि, अस्त्र सिद्धि विधि।

धनुर्वेद में बाण और आयुध विद्या प्रधान है। आयुध दो प्रकार के हैं—शस्त्र और अस्त्र। शस्त्र के चार भेद ये हैं—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यन्त्रमुक्त। बाण के तीन प्रकार—नाराच, नालीक, बृहन्नालीक हैं। आठ प्रकार के पैंतरे ये हैं—आलीढ़, प्रत्यालीढ़, वैशाख, समपाद, विषमपाद, दर्दुरक्रम, गरुडक्रम तथा पद्मासन। इस उपवेद में उपर्युक्त सब विषयों तथा युद्ध लड़ने के प्रकारों का वर्णन है।

स्थापत्यकला या वास्तु-शिल्प—भारतीय संस्कृति में वास्तु-शिल्प का प्रारम्भ से ही बहुत महत्व रहा है। ऋग्वेद में भवन-निर्माण के अत्यन्त उन्नत आदर्शों का वर्णन है। स्थापत्य-कला के स्थापत्य-वेद की भी चर्चा प्राचीन साहित्य में मिलती है। ऋग्वेद का यह वर्णन उस युग की भवन-कला का परिचायक है "प्रजा का द्रोही न होकर राजा तथा मन्त्री दृढ़, उत्तम तथा हजार स्तम्भों वाले भवन में रहे।"[१] एक स्थान पर पत्थर के १०० फलकों से निर्मित भवन का उल्लेख है।[२] लोहे तथा प्रस्तर-निर्मित नगरों का वर्णन भी मिलता है।[३]

सिन्धु-घाटी की सभ्यता के दो प्रमुख नगर सुनियोजित निर्माण के साक्षी हैं। सिन्धु वासियों का वास्तु-कला ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। यही कारण है कि सिन्धु-घाटी के नगर एवं भवन उच्चकोटि की वास्तु-शिल्प के परिचायक हैं। इसके उपरान्त हमें मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण, अग्निपुराण, लिंगपुराण, नारदपुराण, भविष्य पुराण आदि में स्थापत्य कला की चर्चा मिलती है। कौटिलीय अर्थशास्त्र और शुक्रनीतिसार आदि ग्रन्थों में भी वास्तु-कला सम्बन्धी सामग्री मिलती है।

---

१. २।४१।५
२. ४।३०।२०
३. ७।८५।१; २।२०।८; १।५८।८; ७।३।७

स्थापत्य-कला या वास्तु शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से भी शताधिक ग्रन्थ लिखे गये किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। रामायण एवं महाभारत में भी वास्तु-शास्त्र का ज्ञान उपलब्ध होता है। यवन राजदूत मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के समय के नगर, भवन-निर्माण, राजप्रासाद आदि की वास्तु-शिल्प का विस्तार से वर्णन किया है। हर्षवर्धन काल में आये हुए चीनी यात्रियों (हुएनसांग तथा ईत्सिंग) ने भी उस काल के भारतीय वास्तु-शिल्प पर अपने यात्रा विवरणों में प्रकाश डाला है।

इस युग का 'मानसार' नामक ग्रन्थ वास्तु-शास्त्र का महत्वपूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें नगर एवं ग्राम निर्माण, भवन-निर्माण, विद्यालय आदि के निर्माण का विचार किया गया है। नीतिसार में राजप्रासाद निर्माण के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया था। जातक एवं अन्य बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों में भी शिल्प की चर्चा है। किन्तु वास्तु-शिल्प का प्राचीनतम उपलब्ध शास्त्रीय ग्रन्थ मानसार ही है। डॉ० रामजी उपाध्याय के अनुसार "मानसार की रचना ईसा की पांचवीं से लेकर सातवीं शती के बीच हुई थी। मानसार के अनुसार वास्तु-शिल्प का आचार्य स्थपति होता था। वह सभी विज्ञानों का पण्डित, सावधान, आचारवान्, उदार, सरल और ईर्ष्या-द्वेष की भावना से रहित होता था। उसका प्रथम सहायक सूत्रग्राही गणितज्ञ होता था और माप लेता था। वर्धकि लकड़ी जोड़ने और रेखा चित्रण में कुशल होता था। वह स्वभावतः शान्त होता था। इस प्रकार के वास्तु-शिल्प के आचार्यों का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। युधिष्ठिर का सभा भवन मय नाम के स्थपति की अध्यक्षता में बना था।"[1] इस प्रकार मानसार शिल्प-शास्त्र का वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करता है। उसमें नगर एवं ग्राम निर्माण के विभिन्न प्रकार एवं उनका मापचित्र है।

समरांगण सूत्रधार—यह धारानरेश राजा भोज (१०४० ई०) द्वारा लिखा हुआ वास्तु-विद्या सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें नगर, दुर्ग आदि के लिए उचित भूमि का वर्णन, नगर बसाने, उसकी सुरक्षा हेतु खाई का निर्माण करने, राजाओं के विभिन्न प्रकार के प्रासाद, उद्यान एवं साज-सज्जा की मूर्तियाँ आदि बनाने का विस्तृत एवं प्रामाणिक वर्णन है।

भाषा-विज्ञान—पाश्चात्य देशों में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की जो प्रवृत्ति १७ वीं-१८ वीं शताब्दी में दिखाई पड़ती है, भारत में उसका पुष्ट रूप पाणिनि की अष्टाध्यायी में देखने को मिलता है। पाणिनि (ई० पू० ५ वीं या ६ वीं शती) विश्व के अद्यतन श्रेष्ठतम वैय्याकरण माने जाते हैं। उनकी अष्टाध्यायी की अनुपम वैज्ञानिकता अद्वितीय है। प्राचीन भारतीय साहित्य में यास्क का निरुक्त, ऐन्द्र सम्प्रदाय के वैय्याकरणों का प्रतिशाख्य आदि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के

---

१. भारत की प्राचीन संस्कृति, पृ० २०८।

प्रयत्न हैं, जिन्हें वैय्याकरणों एवं भाष्यकारों ने अनवरत पुष्ट बनाया। पातंजलि महाभाष्य (ई० पू० द्वितीय श०) में भाषा के दार्शनिक विवेचन का प्रयास है। इसमें ध्वनि विज्ञान का अध्ययन है। पाणिनि ने भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में ध्वनि विज्ञान, अर्थ विज्ञान एवं तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन की जो सुदृढ़ नींव रखी और संस्कृत भाषा को स्टैण्डर्ड रूप दिया, वह भाषा-विज्ञान के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस क्षेत्र में भी भारत विदेशों से अग्रणी रहा है।

"इतिहास के सृष्टा तो गये, पर सृष्ट इतिहास को एकत्र करने वाले भी उत्पन्न नहीं होते। अपनी ही मिट्टी में अपने रत्न दबे पड़े हैं। उनको हमने अपने पैरों से रौंदा। इनको चुनने के लिए समुद्र के उस पार से टॉड, फार्ब्स, ग्रोस, कनिंघम आदि आये। वे इतिहास गवेषणा के लिए नियुक्त नहीं हुए थे, पर वे अपने राजकीय कार्य के बाद अवकाश के समय यहाँ की प्रेमगाथाएँ व शौर्य कथाओं से प्रभावित हुए। इनका स्वर उनके कानों में पड़ा। उसी पुकार ने उनके हृदय में शोधक बुद्धि उत्पन्न की।"

—**एक प्राचीन विद्वान**

१३ संस्कृत के अभिलेख : संस्कृति एवं काव्य परम्परा

प्राचीन अभिलेख

प्राचीन भारत में हमें बहुत से **शिलालेख, स्तम्भलेख एवं प्रस्तरलेख** उत्कीर्ण मिलते हैं जिनमें तत्युगीन राजाओं की कीर्ति अमर रखने एवं उनके आदेशों को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया है। इन अभिलेखों का प्रधान वर्ण्य विषय राजाओं की प्रशस्ति को विस्तरित करना है। इनमें राजाओं की विजय, संधि, शासन व्यवस्था, धार्मिक कृत्य आदि का बड़ा ही आलंकारिक चित्रण है। इतिहास की दृष्टि से इन अभिलेखों का महत्व स्पष्ट ही है, साथ ही ये संस्कृत-काव्य की परम्परा का भी निर्देश करते हैं। मैक्समूलर ने विक्रम की प्रारम्भिक छः शताब्दियों में संस्कृत-काव्य का अभाव पाकर इसे संस्कृत-काव्य का निशाकाल कहा है। किन्तु इस तथाकथित निशाकाल में **कमनीय स्तुति-काव्यों** की रचना हुई है। डाक्टर ब्यूलर, कीलहोर्न और फ्लीट आदि विदेशी विद्वानों ने इन अभिलेखों का साहित्यिक दृष्टि से गम्भीर अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विक्रम की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी संस्कृत-काव्य की अक्षुण्ण परम्परा थी और उसका विकास भी हो रहा था। अतः मैक्समूलर का गुप्तकाल में 'संस्कृत काव्य' के पुनर्जागरण का अनुमान भ्रामक सिद्ध हो जाता है। मैक्समूलर के निष्कर्ष का आधार उक्त निशाकाल में क्षत्रप या शकों का आक्रमण एवं भारतीय संस्कृति का विकास अवरुद्ध होने का अनुमान था। किन्तु महाक्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनार पहाड़ी के शिलालेख (१५० ई०) से यह सिद्ध हो जाता है कि शक जाति ने भारतीय संस्कृति, भाषा एवं साहित्य को क्षति नहीं पहुँचायी वरन् इसे स्वयं अपनाया। उन्होंने भारतीय धर्म, कला, साहित्य आदि को संरक्षण प्रदान किया।

गिरनार शिलालेख—रुद्रदामन् का शिलालेख १५० ई० (शक सं० ७२) का है। यह संस्कृत के उपलब्ध शिलालेखों में प्राचीनतम है। इसमें लेखक का नाम नहीं है। यह लेख काव्यशैली में रचित उत्कृष्ट गद्य का प्रारम्भिक रूप है। इसकी भाषा सरल, प्रवाहमयी एवं व्यावहारिक है। शब्दों के बन्ध की दृष्टि से इसमें कुछ बड़े और कुछ छोटे समासों का प्रयोग हुआ है। इसमें १ समास ६ शब्द और २३ वर्णों का और दूसरा १७ शब्द तथा ४० वर्णों का है।

डॉ० काने के अनुसार इस शिलालेख से अलंकारशास्त्र की उस युग में एक निश्चित एवं विकसित परम्परा का परिचय मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि द्वितीय शती ईसवी से पूर्व ही काव्य को गद्य और पद्य नामक दो विभागों में विभाजित कर दिया गया था। उस समय शब्द और अर्थ के कुछ गुण जैसे स्फुट (दण्डी का प्रसाद), मधुर (दण्डी का माधुर्य), कान्त (दण्डी का कान्ति) और उदार (दण्डी की उदारता) गद्य-पद्य में विद्यमान थे और गद्य-पद्य का अलंकृत होना उसकी उत्कृष्टता का द्योतक था। रुद्रदामन के अभिलेख में अनुप्रास और शब्द की अन्य वक्रताओं का भी सुन्दर प्रदर्शन है। यह गद्य में रचित है और इसका उद्देश्य सुदर्शन तड़ाग के जीर्णोद्धार का परिचय मात्र देना था, प्रशस्ति रचना नहीं। अतः इसमें वर्णन और विषय की प्रधानता होना स्वाभाविक है। फिर भी इतनी अलंकृत शैली में रचित होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय तक पद्य-क्षेत्र में भी अलंकृत शैली का अच्छा विकास हो गया था।

डॉ० कीथ इस शिलालेख को संस्कृत महाकाव्य के विकास एवं परम्परा समझने में बड़ा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यदि यह संस्कृत-काव्य परम्परा का प्रथम ग्रन्थ न भी सिद्ध हो तब भी अलंकृत-गद्य की प्रथम रचना होने का गौरव तो इसे प्राप्त ही है। इसमें अलंकारों एवं नादात्मक सौन्दर्य को देखकर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग के गद्य में समास-बहुलता एवं अलंकृत-पदावली का प्राधान्य था जिसका विकसित रूप आगे चलकर दण्डी, सुबन्धु और बाण में मिलता है।

इस शिलालेख से ईसवी प्रथम शताब्दी में संस्कृत के राष्ट्रभाषा होने का भी परिचय मिलता है। यदि अश्वघोष और कालिदास की स्थिति ईसा पूर्व मानें तो संस्कृत काव्य की एक विकसित परम्परा निश्चित हो जाती है। यदि उन्हें ईसा परवर्ती युग में मानें तब भी इस शिलालेख से उस युग में काव्य की एक निश्चित एवं विकसित परम्परा का परिचय मिलता है।

नासिक का शिलालेख—यह लेख श्री पुलुमावि के १९ वें राज्यारोहण वर्ष अर्थात् १४९ ई० में प्राकृत में लिखा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृत का प्राकृत में अनुवाद है। इसमें लम्बे-लम्बे समास हैं। इसमें श्रेष्ठ संस्कृत-साहित्य में प्राप्त होने वाले अनुप्रास और उपमादि अलंकारों की झड़ी प्राप्त होती है। डॉ० व्यूलर के अनुसार इस अभिलेख में गद्य-काव्य का कलात्मक रूप मुखरित है।

हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति—सम्राट समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख कवि हरिषेण द्वारा रचित है। डॉ० कीथ का अनुमान है कि इसकी रचना ३५० ई० से पूर्व हुई। यह सम्पूर्ण लेख एक लम्बा वाक्य है जिसमें समुद्रगुप्त की प्रशस्ति है। एक ही वाक्य में उपवाक्य एवं सम्बन्धतत्वों के योग से विस्तार कर दिया गया है। प्रारम्भिक आठ पद्यों के साथ पूर्णकाव्य लगभग एक वाक्य ही बन गया है। आठ छन्दों के बाद गद्य भाग है और अन्त में एक छन्द है। गद्य-पद्य मिश्रित होने से इसे चम्पू भी कह सकते हैं, किन्तु हरिषेण ने इसे काव्य कहा है। इसमें वाक्य-स्वरूप के

समान वाक्यार्थ भी मिश्रित है और छन्द विचारों या कल्पना के समान विस्तृत हैं। सात पद्यों में चार प्रसिद्ध छन्द प्रयुक्त हैं—स्रग्धरा, शार्दूल विक्रीडित, पृथिवी और मन्दाक्रान्ता। इसमें वैदर्भी रीति प्रयुक्त है। पद्य में लम्बे समासों का अभाव है, गद्य में कुछ लम्बे समास हैं जिनसे सौन्दर्य बढ़ गया है। एक वाक्य में १२० से कम अक्षरों का प्रयोग होने पर भी गद्य कठिन और अवरुद्ध नहीं है। डॉ० कीथ का कथन है कि अभिलेखों में उत्तम काव्य के उदाहरण के रूप में समुद्रगुप्त का स्तम्भ लेख रखा जा सकता है। इसमें शब्दालङ्कारों में अनुप्रास और अर्थालंकारों में रूपकों का प्रयोग है। श्लेष का अभाव है। यत्रतत्र उपमा और यथासंख्य अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है। हरिषेण मौलिक या काल्पनिक विचारों के नवीन मोड़ का सौन्दर्य प्रदर्शन करने में भी सिद्धहस्त है। इसी कारण उनका पद्य परवर्ती सुभाषितों में निःसंकोच रखा जा सकता है।

हरिषेण ने समुद्रगुप्त को कविराज कहा है। उसमें कवियों ने आध्यात्मिक गुणों की स्थिति बताई है। उसे बुद्धि में बृहस्पति एवं गायन में तुम्बरु और नारद को परास्त करने वाला कहा है—

निशितविदग्ध मति गान्धर्व ललितै र्व्रीडित त्रिदशपति गुरु तुम्बरु नारदादेर्विद्वज्जनोपजीव्यानेक काव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराज शब्दस्य।

प्रयाग-प्रशस्ति से यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त का राज्यकाल काव्यादि ललित कलाओं के विकास का काल था। **कवियों को राज्याश्रय प्राप्त था और काव्य-साहित्य का संवर्द्धन हो रहा था।** हरिषेण ने समुद्रगुप्त की कीर्ति को स्त्री रूप में चित्रित करके प्रयाग स्तम्भ से सम्बद्ध कर दिया है—

कीर्तिमितस्त्रि दशपति भवनगमनावाप्त—
ललित सुख विचरणा-माचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।

अर्थात् "समुद्रगुप्त की कीर्ति ने समस्त विश्व का आलिंगन कर लिया है, अब पृथ्वी पर अन्य स्थान न रहने से स्तम्भ के सहारे देवताओं के स्थान जाना चाहती है। यह कीर्ति गंगा के समान ज्ञात होती है, उसके प्रवाह के समान शुद्ध है और स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर बहती है।

इसी प्रकार एक छन्द (पृथिवी) में समुद्रगुप्त के अद्भुत शौर्य एवं वीरता से उत्पन्न यश का सम्पूर्ण संसार में विस्तृत होना बड़ी ही अलंकृत शैली में वर्णित है। कवि ने बड़ी ऊँची कल्पना की है—

प्रदान भुज विक्रम प्रशम शास्त्र वाक्योदयै—
रूपर्य्यपरि सञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः।
पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा—
निरोध परिमोक्ष शीघ्रमिव पाण्डु गाङ्ग (पयः)।

अर्थात् समुद्रगुप्त का अनेक मार्गों का यश—बड़े-बड़े दान देने से, भुजाओं से बड़े-बड़े पराक्रम करने से, शान्तिप्रियता, शास्त्रवाक्यानुसरण एवं उन्नति से ऊपर-ऊपर

एकत्र होकर इतना ऊँचा उठ गया है कि वह शंकर की जटा के अन्तराल रूपी गुफा में रुककर छूटने के लिए आतुर गंगा के उज्ज्वल जल के समान ही तीनों लोकों को पवित्र करता है। इस अतिशयोक्ति का भावार्थ यह है कि समुद्रगुप्त का यश तीनों लोकों में प्रसरित हुआ और वह उसके **दान, शौर्य, पराक्रम, शान्ति, शास्त्रज्ञता से उत्पन्न होने के कारण बड़ा ही पवित्र यश था।**

वीरसेन का उदयगिरि गुफा का अभिलेख—सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के काव्य-गुण सम्पन्न मन्त्री वीरसेन का लिखा एक अभिलेख (४०० ई०) मिलता है। इसमें वीरसेन ने चन्द्रगुप्त की काव्य-कला एवं कलाप्रियता की चर्चा की है।

वत्सभट्टि की मंदसौर प्रशस्ति—डॉ० कीथ के अनुसार सम्राट कुमारगुप्त के राज्यकाल में दशपुर के पट्टवाय संघ के लिए वत्सभट्टि ने एक प्रशस्ति लिखी जो सूर्य मन्दिर पर ४७३-७४ ई० (मालव संवत् ५२६) में उत्कीर्ण की गई। यह प्रशस्ति खण्डित रूप में ही उपलब्ध हुई है। इसे 'कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का मन्दसौर शिलालेख' नाम से भी अभिहित करते हैं। इसमें गुप्तसम्राट कुमारगुप्त के मालव प्रान्त की राजधानी दशपुर का विस्तार से अलंकृत शैली में वर्णन है। दशपुर मालव की राजधानी थी, उसकी प्राकृतिक सुषमा उच्चकोटि की थी। वहाँ के सुन्दर विशाल भवन उत्कृष्ट कलाकृति के नमूने थे। उन शिल्पियों को राजा बन्धुवर्मा (मालव देश का गोप्ता) ने सन्तानवत माना। दशपुर का वर्णन देखिए—

मत्तेभगण्डतट विच्युत दान बिन्दु—
सिक्तोपला चल सहस्र विभूषणायाः।
पुष्पावनम्रतरूमंडवतं सकाया
भूमेः परं तिलकभूतमिदं क्रमेण।
तटोत्थवृक्षच्युतनैक पुष्पविचित्र तीरान्तजलानि भान्ति।
प्रफुल्ल पद्माभरणानि यत्र संरांसि कारण्डव संकुलानि॥

अर्थात् यह दशपुर उस मालवभूमि का सुन्दर तिलक है जो कहीं तो मतवाले हाथियों के गालों के किनारों से चुए मद बिन्दुओं से सिंची चट्टानों वाले हजारों पर्वतों से विभूषित है और कहीं फूलों से झुके वृक्षों का मण्डन किये हैं, जहाँ पर तट पर उगे पेड़ों से टपकते हुए अनेक फूलों के कारण रंग-बिरंगे जलों वाले, खिले कमलों से शोभित, बत्तखों से भरे तालाब हैं।

विलोलवीचीचलितार विन्दपतद्रजः पिञ्जरितैश्च हंसैः।
स्वकेसरोदारभरावभुग्नैः क्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्च भान्ति॥
स्वपुष्प भारावनतैर्नगेन्द्रैर्मदप्रगल्भालिकुलस्वनैश्च।
अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभिर्वनानि यस्मिन्समलंकृतानि॥

अर्थात् कहीं चंचल लहरों द्वारा डुलाए कमलों के ढरते पराग के कारण पीले हुए हंसों और अपने केसर के भरपूर भार से झुके कमलों से सरोवर शोभायमान

हैं। जिस दशपुर में अपने फूलों के भार से झुके बड़े-बड़े वृक्षों और मदमाते भ्रमरों की गुंजारों वाले लगातार चलती हुई पुरनारियों से अलंकृत अनेक उद्यान हैं।

डॉ० कीथ के अनुसार वत्सभट्टि के अभिलेख का आकर्षक अंश एवं महत्त्वपूर्ण काव्य संस्कृत महाकाव्य की विकसित परम्परा का प्रमाण है। 'पूर्वाधियं पदत्वेन' यह विशेषण वत्सभट्टि के काव्य की समीक्षा के लिए पर्याप्त है। इस प्रशस्ति का निर्माण तत्कालीन लोकप्रिय छन्दों में हुआ है। काव्यशास्त्र का पालन करने के लिए कवि ने अपने ४४ पद्यों में लाट और दशपुर, बसन्त और शिशिर ऋतु के वर्णनों में बारह प्रकार के छन्दों का प्रयोग गौड़ी रीति में किया है। उसने दीर्घ समासों के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया है। उसने एक ही पद्य में अनेक रसों का समावेश करना चाहा है। नायक की उदात्तता प्रदर्शन हेतु कोमल पद एवं शौर्य तथा औद्धत्य वर्णन में द्वित्व वर्णों का प्रयोग किया है। इस प्रशस्ति में अनुप्रास, रूपक और उपमा का बाहुल्य है किन्तु पुनुरुक्ति खटकने वाली है।

वत्सभट्टि (४७३ ई०) के काव्य पर कालिदास की कविता का व्यापक प्रभाव लक्षित करके विद्वानों ने कालिदास के काल निर्णय में ४७३ ई० को ऊपरी सीमा निर्धारित किया है। दोनों महान् कवियों के उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

> **विद्युत्वन्तं ललित वनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः।**
> **सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध गम्भीर घोषम्॥**
> **अन्तस्तोयं मणिमय भुवः तुङ्गमभ्रं लिहाग्राः।**
> **प्रासादास्त्वं तुलयितुमलं यत्र तैस्तै विशेषैः॥** (उत्तर मेघ, १)

अर्थ—(यक्ष मेघ से कहता है) हे सखे! अलकापुरी के ऊँचे-ऊँचे भवन सब बातों में तुम्हारे ही सदृश हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनों में चटकीली स्त्रियाँ हैं। तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उन भवनों में रंग-बिरंगे चित्र लटके हुए हैं। यदि तुम मृदु और गम्भीर गर्जन कर सकते हो तो वहाँ संगीत के साथ मृदंग बजते हैं। यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती भी नीलम से जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचे पर हो तो उनकी अटारियाँ भी आकाश चूमती हैं।

> **चलत्पताका न्यबलासनाथान्यत्यर्थं शुक्लान्यधिकोन्नतानि**
> **तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥** (वत्सभट्टि, १०)

अर्थ—जहाँ अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे भवनों के ऊपर झण्डे फहराते हैं और भीतर गृहिणयाँ विराजती हैं, मानों लहराती बिजली से रंग-बिरंगे बने सफेद बादलों के खण्ड हों।

ऋतुसंहार की इन पंक्तियों की छाया अभिलेख के अग्रांकित छन्द पर स्पष्ट है।

पयोधरैः कुंकुम राग पिंजरैः
सुखोपसेव्यै नव यौवनोष्माभिः
विलासिनीभिः परिपीडितो रसः
स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः। (ऋतुसंहार, ५)

स्मरवंशगत तरुणजनवल्लभाङ्गना विपुल कान्त पीनोरु ॥
स्तनजघनालिङ्गन निर्भर्त्सित तुहिन हिमपातैः ॥ (वत्सभट्टि, ३३)

इस प्रकार वत्सभट्टि का महत्व कालिदास के काल-निर्णय की दृष्टि से और भी बढ़ जाता है।

स्कन्दगुप्त का गिरनार लेख—यह शिलालेख ४५७ ई० का है किन्तु इसका लेखक अज्ञात है। इसमें स्कन्दगुप्त द्वारा सुदर्शन तड़ाग के जीर्णोद्धार का वर्णन है। इसमें स्कन्दगुप्त की प्रजा-वत्सलता तथा उसके द्वारा नियुक्त पर्णदत्त नामक सौराष्ट्र के गोप्ता की प्रशस्ति है। इसमें सचिवों (गोप्ता) की योग्यता एवं गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस अभिलेख में निरर्थक विशेषणों की भरमार है। पुनरुक्ति तथा प्रसिद्धि-विरूद्धत्व दोष भी मिलते हैं। इसका महत्व संस्कृत काव्य एवं अलंकारशास्त्र के विकास की परम्परा लक्षित कराने में है। इसकी रचना महाकाव्य की शैली पर हुई है। इसमें भाव-सौन्दर्य का उत्कर्ष एवं वैदर्भी रीति है। प्रसादगुण सम्पन्न होने से इस अभिलेख की कविता में सरसता का संचार हो गया है। इसके पद्यों में 'उपजाति' नामक छन्द प्रधान है, साथ ही इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, मालिनी एवं आर्या छन्द भी प्रयुक्त हैं। इसमें अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सौन्दर्य दर्शनीय है। इस अभिलेख में बड़ी सुन्दर-सुन्दर उत्प्रेक्षाएं हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

अनेकतीरान्तजपुष्प शोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः।

वर्षा-ऋतु में किनारे तोड़कर बहने वाली सरिताओं पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों रैवतक पर्वत ने अपने मित्र समुद्र से मिलने के लिए (पलाशिनी और सिकताविलासिनी) नदियों के रूप में हाथ फैला दिये हों। अथवा—

द्विधेव चात्मवशेननीतः

मानों स्वयं आत्मा ने ही स्वेच्छा से अपने आपको दो भागों में विभक्त कर लिया हो। इसी प्रकार उमगती सरिताओं की पतिगृह जाने वाली नववधुओं के रूप में (सादृश्य) संभावना करना कवि की उत्कृष्ट कल्पना शक्ति का परिचायक है।

मन्दसौर का गोविन्दगुप्त का शिलालेख—यह अभिलेख ४६७ ई० (संवत् ५२४) का है तथा सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के सुपुत्र गोविन्दगुप्त की प्रशस्ति में 'रविल' नामक कवि द्वारा रचित है। इसका निर्माण एक कुएं की स्थापना के

अवसर पर हुआ था। कवि ने उस कुएँ के जल की प्रशंसा अलंकृत पदावली में की है—"उस कुएँ का जल इतना शान्तिदायक था जैसा दो घनिष्ठ मित्रों का परस्पर मिलन। वह जल मुनियों के मन की भाँति निर्मल था। पथिकों के लिए वह जल वैसा ही हितकारी था जैसे गुरुजनों की सीख।"

इस अभिलेख में कमनीय उपमाओं के साथ ही सरस कविता के दर्शन होते हैं। बसन्त ऋतु का यह वर्णन देखिए—

> भृगांगभारालस बाल पद्मे काले प्रपन्ने रमणीयसाले।
> गतासु देशान्तरितप्रियासु प्रियासु कामज्वलनाहुतित्वम्।

अर्थात् कुएँ और स्तूप आदि का निर्माण उस बसन्त ऋतु में सम्पन्न हुआ जबकि बाल कमल भौरों के भार से झुक गये थे और शाल के वृक्षों की शोभा अत्यन्त रमणीय हो गई थी, जबकि प्रोषितपतिकाएँ कामज्वर से व्यथित थीं और जब ऐसी मन्द पवन संचरित हो रही थी जो न अधिक गर्म थी और न ठण्डी। उन हवाओं के संचरण से कुन्जों के लता-वृक्षादि में भी कम्पन उत्पन्न हो रहा था। उस समय मत्त कोकिला मृदु स्वर से आलाप कर वातावरण को मादक बना रही थी और उपवन की नवीन कोंपलें सुन्दरियों के अधरोष्ठों की भाँति अरुण वर्ण की हो गई थीं।

दशपुर का यशोधर्म्मराज का कूप शिलालेख

गुप्तों के अशक्त हो जाने पर पश्चिम देश के जननायक यशोधर्मा ने हूणों को हटाकर समस्त कशमीर, उत्कल, कामरूप और महाराष्ट्र पर अपनी विजयपताका फहराई और दशपुर में विजयस्तम्भ निर्मित कराया। उसने पश्चिम प्रदेश का प्रबन्ध अभयदत्त को सौंपा। अभयदत्त के अनुज का पुत्र दक्ष नामक हुआ जो बुद्धिमान, चतुर, उदार, वृद्धसेवी, कृतज्ञ एवं उत्साही था। उसने दशपुर में एक विशाल कूप का निर्माण कराया जिस पर गोविन्द नाम के व्यक्ति ने उपर्युक्त अभिलेख सन् ५३२ ई० (संवत् ५८९) में उत्कीर्ण किया। इसका प्रारम्भ तथा अन्त गद्य में है किन्तु बीच में सरस कविता है। भगवान शंकर की यह वन्दना देखिए—

> स जयति जगतां पतिः पिनाकी
> स्मितरवगीतिषु यस्य दन्तकान्तिः।
> द्युतिरिव तडितां निशि स्फुरन्ती
> तिरयति च स्फुटयत्यदश्च विश्वम्॥

अर्थात् उस भवपति पिनाकिना शिव की जय हो, जिसकी मुस्कराने, बोलने और गाने में विकसित दन्त पंक्ति की शोभा रात्रि में स्फुरित होने वाली-बिजलियों की चमक की भाँति इस संसार को कभी ढक लेती है और कभी स्फुटित कर देती है।

इस शिलालेख में बसन्त ऋतु का संश्लिष्ट एवं कलात्मक वर्णन हुआ है, देखिए—

यस्मिन् कालेकलमृदुगिरां कोकिलानां प्रलापाः
भिन्दन्तीव स्मरशरनिभाः प्रोषितानां मनांसि ।
भृङ्गालीनां ध्वनिरनुवनं भारमन्द्रश्चयस्मि—
न्नाधूतज्यं धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेतोः ।। आदि ।

कन्दबराज शान्तिवर्मा का तालगुन्ड अभिलेख—यह छठी शताब्दी के प्रारम्भ में कविवर कुब्ज द्वारा रचित है। इसमें कवि ने कमनीय उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग से काव्य में विशेष सौन्दर्य प्रस्तुत कर दिया है। इनकी कुछ उपमाएँ कालिदास की उपमाओं से साम्य रखती हैं। इन्होंने लड़कियों की उपमा सूर्य किरणों से दी है, कालिदास ने भी राम के पौत्र 'अतिथि' के दूतों की उपमा सूर्य किरणों से दी है। इस अभिलेख में संस्कृत काव्य का सरस एवं अभिराम रूप प्रकट हुआ है।

कम्बोज के राजा भववर्मा के शिलालेख—कम्बोज के राजा भववर्मा के ६०० ई० के लगभग के कुछ संस्कृत के शिलालेख उन्हीं के देश में प्राप्त हुए हैं। इन शिलालेखों के काव्य पर महाकवि कालिदास की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ—

यस्य सेनारजो धूतमुज्झितालंकृतिष्वपि ।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम् ।। (शिलालेख ७)
भयोत्सृष्ट विभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्ण प्रतिनिधिः कृतः ।। (रघु० ४।५९)

पुलकेशी द्वितीय का एहोल से प्राप्त शिलालेख—यह शिलालेख ६३४ ई० का है। इसके अभिलेखकार प्रसिद्ध कवि रविकीर्ति हैं। इस अभिलेख की रचना जिनवेश की प्रतिष्ठा के अवसर पर हुई, अतः इसमें प्रारम्भ में प्राकृत भाषा में जिनेन्द्र भगवान की वन्दना है। इसमें चालुक्यवंशी राजाओं की प्रशस्ति है जिनमें पुलकेशिन् द्वितीय को प्रमुख स्थान दिया गया है। उसे परमेश्वर, श्री पृथ्वीवल्लभ, सत्याश्रय आदि विरुद धारण करने वाला कहा है। रविकीर्ति महाकवि कालिदास और भवभूति की परम्परा के कवि हैं। उन्होंने इन दोनों महाकवियों का उल्लेख भी किया है। रविकीर्ति की कविता में वर्णन-सौन्दर्य की विशिष्टता है। कुछ उदाहरण देखिए—

यत् त्रिवर्ग पदवीमलं क्षितौ नानुगन्तुमधुनापिराजकम् ।
भूश्च येन हयमेधया जिना प्रापितावभृथमज्जनं बभौ ।।

इस छन्द में पुलकेशी द्वितीय के बाबा पौलकेशी की प्रशस्ति वर्णित है। उसने जो त्रिवर्ग की पदवी प्राप्त की थी वह अद्यतन पृथ्वी का कोई राजा प्राप्त नहीं कर सका। उसने अश्वमेघ यज्ञ करके पृथ्वी को अवभृथ स्नान कराया।

रणपराक्रम लब्ध जयश्रिया सपदि येन विरुग्णमशेषतः ।
नृपति गन्धगजेन महौजसा पृथु कदम्ब कदम्बकम् ।

इसमें कीर्तिवर्मा की प्रशस्ति है। उसने शत्रुओं का एकदम विनाश कर दिया है। अपने युद्ध पराक्रम से सम्पूर्ण शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त की, राजाओं में गन्ध-राजरूपी गज उस कीर्तिवर्मा ने शत्रुरूपी कदम्बवृक्षों को मथकर नष्ट कर दिया।

इसी प्रकार एक छन्द में [1] कीर्तिवर्मा के अनुज मंगलेश की कलचुरियों पर प्राप्त विजय का वर्णन रूपक अलंकार के प्रयोग से चमत्कारी बन गया है—"जिस मंगलेश ने अपनी ज्योति किरणें स्फुरित करती हुई तलवार के प्रकाश से सैकड़ों शत्रु रूप हाथियों की कालिमा से संचित अन्धकार को दूर कर दिया और जिसने युद्धस्थल-रूपी मन्दिर में कलचुरियों की राज्यलक्ष्मी को भी प्राप्त किया अर्थात् युद्ध में उन्हें पराजित कर दिया।"

रविकीर्ति ने एक छन्द में अपनी प्रशस्ति भी लिखी है—

येनायोजिनवेऽश्म स्थिरमर्थ विधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स: विजयतां रविकीर्त्ति: कविताश्रित कालिदास भारवि कीर्त्ति: ।।

अर्थात् जिन अर्थविद् विवेकी रविकीर्ति ने पत्थरों से दृढ़ जैन मन्दिर का निर्माण कराया और कविता करने में कालिदास और भारवि की कीर्ति का अनुकरण करते हैं, उनकी काव्य शैली को अपनाते हैं, उन रविकीर्ति की विजय हो। यह प्रशस्ति उचित ही है। रविकीर्ति ने महाकवियों की परम्परा का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने अभिलेख में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा और यमक आदि अलंकारों का सुन्दर विनियोग किया है।

महत्व—संस्कृत में प्राप्त अभिलेखों का कई दृष्टियों से महत्व है। प्रथमत: इन अभिलेखों से **संस्कृत-काव्य की अखंड परम्परा** का परिचय मिलता है और मैक्समूलर का संस्कृत-काव्य के पुनर्जागरण का सिद्धान्त निर्मूल सिद्ध हो जाता है। अतएव संस्कृत-काव्य का तथाकथित अन्धकार-युग भी इन अभिलेखों से प्रकाशित हो जाता है।

ये अभिलेख भारत के **प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति का परिचय** देने के कारण भी महत्वपूर्ण हैं। तीसरे, इन अभिलेखों का अध्ययन करने पर स्पष्ट विदित होता है कि इनके रचियता **महान कवि, कला मर्मज्ञ एवं विद्वान थे**। वत्सभट्टि, हरिषेण और रविकीर्ति को संस्कृत के महान् कवियों की परम्परा में रखा जा सकता है। इन अभिलेखों से **संस्कृत भाषा की लोकप्रियता एवं जनभाषा** होने के प्रश्न पर भी प्रकाश पड़ता है। इन अभिलेखों से तत्कालीन **राजा और प्रजा के सम्बन्ध** पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अत: प्राचीन युग की कला, संस्कृति, साहित्य, धर्म एवं राजनीति का ऐतिहासिक विवेचन करने में इन अभिलेखों का महत्व स्पष्ट है। इन लेखों को राजाओं, व्यापारिक संगठनों एवं धार्मिक संस्थाओं ने उत्कीर्ण कराया। इनमें राज-वंशों का वर्णन, विजय यात्रा, दान, जनहित के कार्यों का वर्णन ही प्रमुख प्रतिपाद्य है। इस प्रकार ये अभिलेख जातीय इतिहास की सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

---

१. स्फुरन्मयूखै……आदि।

चरित्र-चित्रण—अभिलेखों के परिशीलन से **भारतीय जन-जीवन के उज्ज्वल चरित्र का** भी दिग्दर्शन होता है। गुप्तकाल में कोई व्यक्ति अधार्मिक, व्यसनी, आर्त, दरिद्र तथा पीड़ित नहीं था, जिसका संकेत जूनागढ़ लेख में 'दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्यों वा यो भृशं न पीड़ितः स्यात' इस कथन से मिलता है। राजा की चारित्रिक विशालता का परिचय प्रयाग-स्तम्भ-लेख से स्पष्ट मिलता है। नालन्दा ताम्र-पत्र के अनुसार "ब्राह्मण दानग्राही होकर भी उच्च आदर्श की रक्षा के लिए धन का सहर्ष त्याग करता था। भारतीय जनता का प्रधान आदर्श सांसारिक वैभव न होकर परलोक और परोपकार-साधना था। राजा बहुपत्नी-व्रती होकर भी सभी स्त्रियों के प्रति समान प्रेम तथा आदर का व्यवहार करता था। सामान्य जनता भी पवित्र जीवन का आश्रय लेकर दान, व्रत, तीर्थ और यज्ञों में विश्वास रखती थी। पूर्व-मध्य युग के सहस्रों दान-पत्र जन-जीवन की धार्मिक भावना के द्योतक हैं। समस्त अभिलेखों से यह प्रकट होता है कि समाज में धार्मिक भावना का प्राबल्य था। व्रतों के प्रति लोगों की सतत जागरूकता तथा तीर्थयात्रा में उनकी आस्था उनके पवित्र-जीवन के ज्वलन्त उदाहरण हैं।"[1]

संक्षेप में अभिलेखों का विविधमुखी महत्व इस प्रकार है—

(१) **प्राचीन भारतीय इतिहास-निर्माण में सहायक**—बाह्य एवं आन्तरिक दोनों रूपों में अर्थात् भौगोलिक एवं शासन व्यवस्था आदि के रूप में।

(२) **प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति की झलक**—इनके द्वारा प्राचीन तत्कालीन भारत के सामाजिक उत्सव, चरित्र-चित्रण, धार्मिक स्थिति, आर्थिक स्वरूप एवं शिक्षण संस्थाओं का परिचय मिलता है।

(३) **संस्कृत काव्य की परम्परा** की कड़ी प्रस्तुत करने में।

ये लेख दान, धार्मिक उत्सव, विजययात्रा, सामाजिक महत्व की घटना एवं व्यापारिक अवसर पर उत्कीर्ण किये गये। अतः ये धार्मिक, प्रशंसात्मक, संस्मरणात्मक आज्ञार्थक एवं दान-पत्रात्मक हैं।

अशोक के अभिलेख और संस्कृति-प्रसार

सम्राट अशोक के अभिलेखों का धार्मिक महत्व सर्वविदित है। साहित्य, पुरातत्व-इतिहास और कला तीनों ही दृष्टि से इनका महत्व है। इन अभिलेखों में मौर्यकालीन साहित्य की परम्परा सुरक्षित है। इनके द्वारा मौर्यवंश का इतिहास आलोकित हो उठता है और कला की सर्वाङ्गीणता एवं अनुपम सौन्दर्य के लिए भी इनका राष्ट्रीय महत्व है। भरतसिंह उपाध्याय ने इनके त्रिविध महत्व का वर्णन किया है[2]—

---

१. अभिलेख माला, व्याख्याकार झा बन्धु, संवत् २०१६, पृ० १६।

२. पालि साहित्य का इतिहास, सं० २००८, पृ० ६१७।

(१) इन अभिलेखों की सहज, स्वाभाविक, उदात्त और गंभीर वाणी द्वारा अशोक की जीवनी पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

(२) ये अभिलेख अशोक तथा अशोककालीन इतिहास-निर्माण के लिए स्वतः प्रमाण हैं, और इसीलिए इतिहासकारों ने उनको सदैव प्रामाणिकता से उद्धृत किया है।

(३) इन अभिलेखों से पालिभाषा के स्वरूप और उसके विकासक्रम पर बड़ा प्रकाश पड़ता है।

(४) इन अभिलेखों से यह सिद्ध नहीं होता कि अशोक बौद्ध था। वरन् विद्वानों ने उसका जैन धर्म के प्रति विशेष झुकाव सिद्ध किया है।

ये अभिलेख उत्तर में हिमालय तक, दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व उड़ीसा से लेकर पश्चिम में काठियावाड़ तक के विस्तृत भूभागों में पहाड़ी चट्टानों, प्रस्तर-स्तम्भों विशाल तोरणों और प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्णित हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार विंसेट स्मिथ ने इनका कालक्रम की दृष्टि से आठ वर्गों में विभाजन किया है[1]—

(१) **लघु अभिलेख**—ये संख्या में सात हैं, जो सहसराम (बिहार), रूपनाथ (जबलपुर के समीप), बैराट (जयपुर), ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिग रामेश्वर (तीनों मैसूर) और मास्की (हैदराबाद) में उपलब्ध हुए हैं।

(२) **एक मात्र** अभिलेख—बैराट के समीप मिला है।

(३) **चतुर्दश अभिलेख (२५६ ई० पू० के लगभग)**—ये लेख पहाड़ी चट्टानों पर उत्कीर्णित हैं, जो शहबाजगढ़ी, मनसेहर (पेशावर), कालसी (देहरादून), गिरनार (काठियावाड़), धौली (कटक) और जौगढ़ (मद्रास) में मिले है।

(४) **दो कलिंग अभिलेख** (२५६ ई० पू०)—कलिंग के प्रस्तर फलकों पर उत्कीर्ण प्राप्त हुए हैं।

(५) **तीन गुफालेख** (२५७–२५० ई० पू०)—गया के समीप बराबरा नामक पहाड़ियों में उपलब्ध हुए हैं। बारबरा की पहाड़ियों में अशोक द्वारा निर्माण करायी गई बहुत सी गुफाएँ भी हैं, जिनमें भिक्षु निवास करते थे।

(६) **दो तराई स्तम्भ लेख** (२४९ ई० पू०)—नेपाल की तराई में रुक्मनदेई और निग्लिवा नामक गाँवों के समीप प्राप्त हुए हैं।

(७) **सप्त स्तम्भ लेख** (३४३–३४२ ई० पू०)—मेरठ, टोपरा (अंबाला), प्रयाग, लौरिया अरराज, लौरिया नन्दनगढ़ और रामपुरवा (तीनों चंपारन, बिहार) इन छः स्थानों पर प्राप्त हुए हैं।

(८) **चार गौण स्तम्भलेख** (२४२–२३२ ई० पू०)—इसमें दो लेख साँची और सारनाथ के तोरणों पर खुदे हैं और दो प्रयाग स्तम्भ पर पीछे से जोड़ दिये गये हैं।

---

१. विंसेंट स्मिथ: **ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया**, पृ० १०३–४।

अशोक के उपर्युक्त अभिलेखों द्वारा तत्कालीन सामाजिक संगठन एवं धार्मिक स्थिति का परिचय मिलता है। इनमें पारिव्राजकों एवं विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। इनमें चारों वर्णों का भी उल्लेख हुआ है। ये वर्ण इस प्रकार हैं—ब्राह्मण, सैनिक और उनके सामन्त (भटमात्र) जो क्षत्रिय थे, इभ्य अथवा वैश्य और दास तथा सेवक (दास भटक) अर्थात् शूद्र। वर्णों के नियमों में पर्याप्त विनिमयशीलता थी, वे अपना व्यवसाय बदल सकते थे और अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे।

इन अभिलेखों से अशोक के व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन एवं शासन-सुधार के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अभिलेखों से पता चलता है कि उसका अधिकांश समय प्रजा की सेवा में व्यतीत होता था। वह राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की सेवा करना समझता था। शेष समय वह धर्म-श्रावण, चिन्तन एवं प्रचार में लगाता था। वह बाह्याडम्बर से दूर, सादगीपसन्द, भोग विलास से दूर था किन्तु पारिवारिक जीवन को पर्याप्त महत्व देता था और उसे सुखी बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता था।

अभिलेखों का मूल्यांकन

काव्य की अक्षुण्ण परम्परा के द्योतक—संस्कृत में प्राप्त अभिलेखों का कई दृष्टियों से बड़ा महत्व है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये अभिलेख हमें संस्कृत काव्य साहित्य की अखंड परम्परा का परिचय देते हैं। मैक्समूलर ने ईसा की जिन पाँच शताब्दियों को अन्धकार युग की संज्ञा दी है, उन्हें सस्कृत के प्राप्त अभिलेखों ने पूर्णतया प्रकाशित ही नहीं कर दिया है वरन् मैक्समूलर के संस्कृत काव्य के पुनर्जागरण के सिद्धान्त को ही तथ्यहीन सिद्ध कर दिया है। इन अभिलेखों को देखकर पता लगता है कि मैक्स-मूलर जिस युग को संस्कृत काव्य के ह्रास का युग बताते हैं, वह उसके विपरीत उच्च कोटि की काव्य रचनाओं का युग है। निःसंदेह उनमें से बहुत-सी रचनाएँ किन्हीं कारणों से काल के गर्भ में समा गईं, किन्तु जो शिलालेख, स्तम्भलेख एवं कूपलेखों आदि में सुरक्षित हैं वे इस बात का प्रमाण हैं कि वह तथाकथित अन्धकार युग भी प्रकाशमान ही था। उसे अन्धकार युग कहना अपूर्ण ज्ञान का सूचक है।

ये अभिलेख भारत के प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। इनमें तत्कालीन राजवंशों का वर्णन तथा सम्बन्धित राजा के शासन काल में हुए कार्य-विशेष का वर्णन प्रायः सादी भाषा में है किन्तु कुछ ऐसे भी लेख हैं जिनमें भाषा और भाव सम्बन्धी बहुत-सी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें कहीं-कहीं शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों की छटा छिटकी हुई है ; तो अन्यत्र कल्पना की ऊँची उड़ान जैसी हरिषेण के समुद्रगुप्त की कीर्ति-वर्णन-प्रसंग में। इनमें कहीं-कहीं प्रकृति की सुषमा का भी अत्यन्त मनोहारी चित्रोपम एवं सरस चित्रण है। इनमें विविध भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

अनेक अभिलेखों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके रचयिता महान् कवि एवं कला मर्मज्ञ थे। वत्सभट्टि, हरिषेण और रविकीर्ति के शिला-लेखों में हमें संस्कृत महाकाव्य की विकास परम्परा का परिचय मिलता है। कविवर वत्सभट्टि महाकवि कालिदास से अवश्य परिचित हैं, अतएव उनकी प्रशस्ति में कहीं-कहीं मेघदूत की काव्यछटा की झलक मिलती है।

पं० बलदेव उपाध्याय जी के शब्दों में "ई० सन् की आदिम पाँच शताब्दियों की काव्य रचना में वही शैली मिलती है, वही वर्णन पद्धति अपनी झाँकी दिखलाती है, वही रसमय पदविन्यास अपना मंजुल रूप दर्शाता है, जिसे हम संस्कृत के मानवीय काव्यों में देखने के अभ्यस्त हैं।" इस प्रकार मैक्समूलर की संस्कृत काव्य के अन्धकार युग की कल्पना एवं पुनर्जागरण का सिद्धान्त निर्मूल एवं अविचारित सिद्ध हो जाता है। मैक्समूलर ने अपनी इन कल्पनाओं के जो कारण दिये हैं, उनकी असत्यता भी प्रमाणित हो चुकी है। उनका यह कहना कि शक क्षत्रप भारतीय संस्कृति के विनाशक एवं संस्कृत काव्य परम्परा के विध्वंसक थे—रुद्रदामन के गिरनार शिलालेख (१५० ई०) में पूर्णतया गलत सिद्ध होता है। शकों ने तो भारतीय संस्कृति को पूर्ण अपना लिया था, गो, ब्राह्मणों को विशेष संरक्षण दिया था और उनके संरक्षण में भारतीय धर्म एवं कलाएँ खूब विकसित हो रहे थे। उन्होंने संस्कृत भाषा को राष्ट्रभाषा का उच्च पद प्रदान किया और स्वयं भी संस्कृत काव्य में विशेष योग्यता प्राप्त की। शक महाक्षत्रप रुद्रदामन स्फुट, लघु, मधुर, उदार तथा अलंकृत गद्य-पद्य की रचना में प्रवीण था। विदेशी शक होते हुए भी भारतीय भाषा और साहित्य में सक्षम होना, संस्कृत गद्य-पद्य में रचना करने में प्रवीण होना बड़ा गौरवपूर्ण है। इस प्रकार मैक्समूलर के पुनर्जागरण के सिद्धान्त के अनुसार गुप्त काल में ललितकला के अभ्युदय से संस्कृत काव्य का पुनर्जागरण मानना सिद्ध नहीं होता।

जातीय इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाले—संस्कृत में प्राप्त अभिलेखों का जातीय इतिहास की दृष्टि से भी विशेष महत्व है। इन अभिलेखों में उस युग की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नति-अवनति का विवरण मिलता है। इन अभिलेखों में राजाओं की विजय, सन्धि, शासन-व्यवस्था, धार्मिक कार्य एवं प्रजानुरंजन निमित्त किये गये कार्यों का परिचय मिलता है। प्रमुख रूप से इन अभिलेखों के विषय इस प्रकार हैं—राजवंशों का वर्णन, विजय यात्रा, दान तथा जनता के हित में किये गये विविध कार्यों का उल्लेख। इन लेखों को राजाओं, व्यापारिक संगठनों एवं धार्मिक संस्थाओं ने खुदवाया है। इनकी खुदाई में भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। इनकी रचना दरबारी कवियों, मन्त्रियों आदि के द्वारा गद्य और पद्य में की गई है। इनमें बहुत से अभिलेखों के रचयिताओं के नाम भी नहीं मिलते हैं। बहुत से कवि आत्म-विज्ञापन को वांछनीय नहीं मानते थे अतः उन्होंने अपने नाम अंकित नहीं किये हैं। कुछ के नाम टूट गये हैं। इन अभिलेखों में शक क्षत्रप रुद्रदामन, गुप्त सम्राट कुमारगुप्त आदि, चालुक्य वंश और कदंबराज

के वंश का परिचय मिलता है। यह वंश परिचय अत्यन्त प्रामाणिक है। इन अभिलेखों से तत्कालीन अनेक साम्राज्यों की प्रामाणिक सीमाओं का परिचय भी मिलता है। उस काल के भारत की भौगोलिक स्थिति का परिचय भी इन लेखों से मिलता है। स्कन्दगुप्त के गिरनार लेख में हमें विविध प्रकार के मन्त्रियों की योग्यता एवं उनके गुणों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

सम्वतों की समस्या का निराकरण—इन अभिलेखों का महत्त्व एक और दृष्टि से भी है। इनमें गुप्त सम्वत् अथवा मालव सम्वत् अथवा केवल सम्वत् तिथि लिखी हुई है। रुद्रदामन ने शक सम्वत् प्रारम्भ किया। शक सम्वत् का ईसवी सन् से ७८ वर्ष का अन्तर है। रुद्रदामन का ७२ शक सम्वत् १५०, ई० सन् है। इसी प्रकार वत्सभट्टि के मन्दसौर शिलालेख में हमें 'मालवगण स्थिति' का परिचय मिलता है। प्राचीन काल में मालव नामक गणों का विशेष प्रभुत्व था। ई० पूर्व तृतीय शतक में इसने क्षुद्रक गण के साथ सिकन्दर का सामना किया, किन्तु पराजित हुए। यही मालव जाति ग्रीक लोगों के सतत आक्रमण से पीड़ित हो राजपूताने से मालवा में ई० पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी में जम गई। यह गणराज्य था और विक्रमादित्य इसी गणतन्त्र के मुखिया थे। शकों के आक्रमण को विफल बनाकर विक्रम ने शकारि की उपाधि धारण की और अपने मालवगण को प्रतिष्ठित किया इसीलिए इस संवत् का नाम 'मालवगण स्थिति' पड़ा था। गणराज्य से व्यक्ति की अपेक्षा समाज का विशेष महत्त्व होता है, अतः यह संवत गणमुख्य के नाम पर अभिहित न होकर गण के नाम पर मालव सम्वत् कहलाता था। वत्सभट्टि ने अपने शिलालेख में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

मालवानां गणस्थित्यायाते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने॥

इसी मालवगणस्थिति जो आज हम विक्रम सम्वत् कहते हैं। इन अभिलेखों से सम्वत्सरों के प्रारम्भ आदि के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। इनमें से कुछ अभिलेखों में गुप्त वंश के राजाओं के नाम मिलते हैं और उनके शासन-काल के वर्षों का विवरण भी है। गुप्तवंश के सम्बन्ध में यह बड़ा विवादास्पद है कि उन्होंने ईसा पूर्व राज्य किया अथवा ईसा के बाद में। व्यूलर के अनुसार यह युग ईसा बाद का है और पुराणों के अनुसार गुप्तवंश ने ३२८ और ८३ ईसा पूर्व में राज्य किया। इसी प्रकार के बहुत से महत्वपूर्ण विषयों पर इन अभिलेखों से प्रकाश पड़ता है। रुद्रदामन के गिरनार लेख से आनर्त्त, सुराष्ट्र, आदि राज्यों के इतिहास, सुदर्शन झील के इतिहास एवं शक राजाओं के प्रभाव का परिचय मिलता है। अन्य अभिलेखों से गुप्त युग आदि का प्रामाणिक इतिहास बनाने में, संस्कृत साहित्य एवं अलंकार शास्त्र का ऐतिहासिक विवेचन करने तथा तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन करने में बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रकार प्राचीन युग की कला, संस्कृति, साहित्य, धर्म एवं राजनीति का ऐति-

हासिक विवेचन करने के लिए इन अभिलेखों का गम्भीर अध्ययन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

उपसंहार—प्राचीन अभिलेखों के उद्धार में फलीट् ब्हूलर और कीलहार्न ने उल्लेखनीय प्रयत्न किये। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने १९०३ ई० में 'प्राचीन लेख-मणिमाला' का सम्पादन करके काशी नागरी प्रचारणी सभा से उसका प्रकाशन कराया। इस 'मणिमाला' में ७१६ लेखों में विभिन्न प्राचीन संस्कृत के दानपत्रों, अंतर्लेखों, शिलाखंडों, प्राचीन हस्तलिखित पोथियों और कई इतिहास ग्रन्थों के आधार पर प्राचीन संस्कृत अभिलेख परम्परा का उद्घाटन किया है। डॉ० दास ने कीलहार्न के प्राचीन अभिलेखों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण लेख का भी विनियोग किया है। मणिमाला के अध्ययन से हमें संस्कृत के बहुत से अज्ञात प्राचीन साहित्य सृजेताओं का पता चलता है। संस्कृत के इन अज्ञातनामा एवं अपरिचित कवियों के सम्बन्ध में अब भी बहुत-सा कार्य बाकी है, जिसकी ओर अनुसन्धान में रुचि रखने वाले विद्वानों को आकृष्ट होना स्वाभाविक एवं आवश्यक है।

पंचम खण्ड

बृहत्तर भारत

१ प्राचीन भारत का विदेशों से सम्पर्क
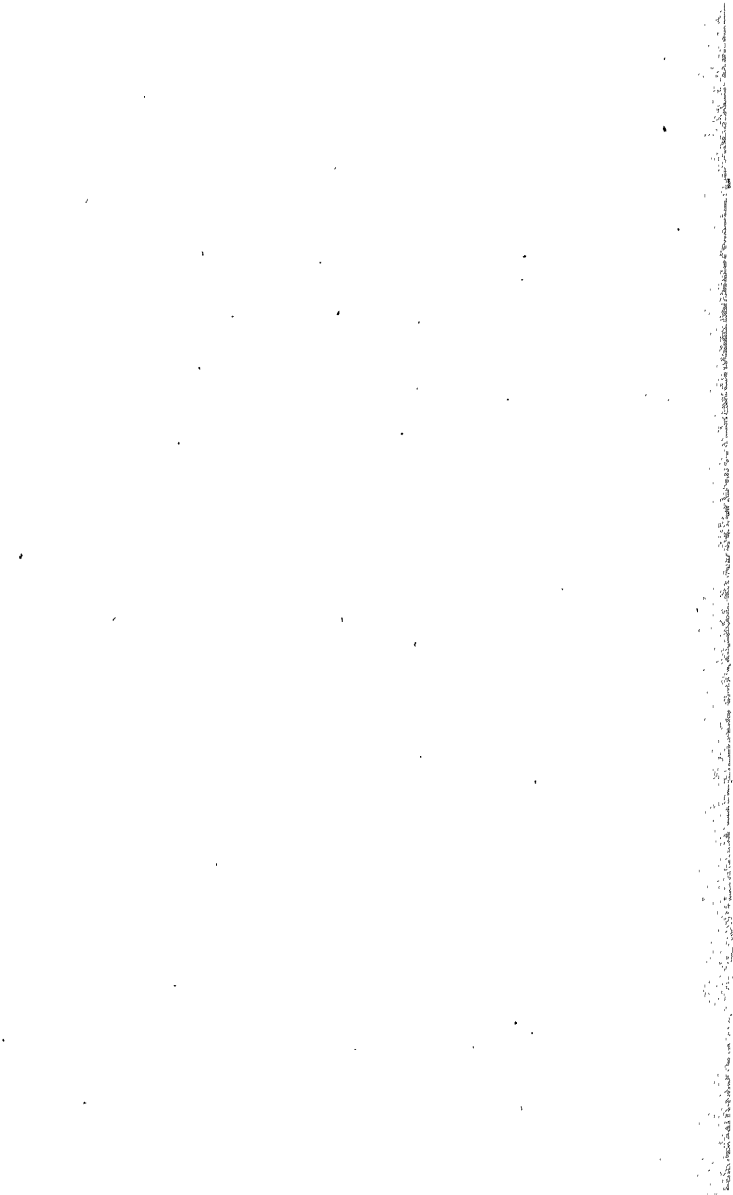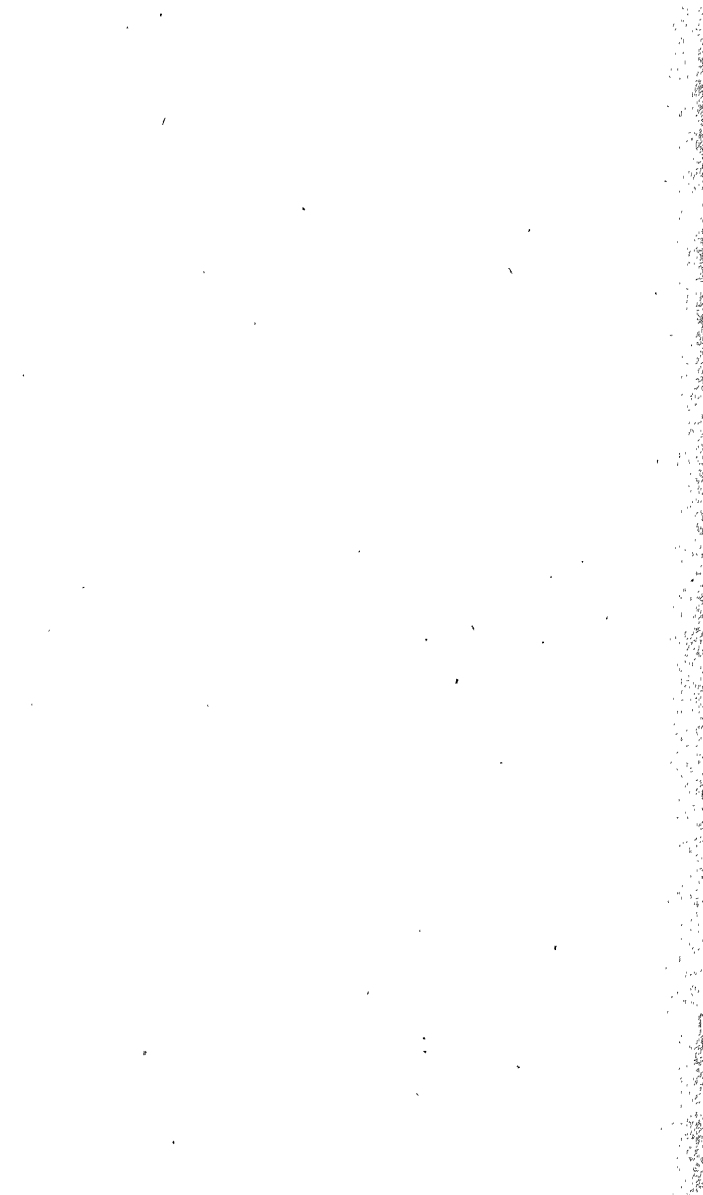
बृहत्तर भारत

भारतवासियों की प्रवास-भीरुता और कूप-मण्डूकता की भावनाएँ जनप्रवाद-सी बन गई थीं। बीच में लोगों की यह धारणा हो गई थी कि धर्म समुद्र-यात्रा के विरुद्ध है। भारतीय व्यापारी नौ-संचालन में दक्ष थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामुद्रिक व्यापारियों का उल्लेख आता है—'सामुद्रिकाः व्यापारिणः महासमुद्र प्रवहणैस्तरन्ति।' आन्ध्रों और पल्लवों के सिक्कों पर दो मस्तूल वाली नौकाओं के चित्र मिलते हैं तथा सांची, अजन्ता, जगन्नाथ और बोरोबुदूर के मन्दिरों पर नौकाओं और समुद्री जहाजों की प्रतिमाएँ जलसेना का स्पष्ट वर्णन कर रही हैं। मनु महाराज ने जहाँ नावों के भाड़ों के नियम दिये हैं वहाँ उन्होंने कहा है कि यह नदी तीर की नावों के सम्बन्ध में कहा गया है, समुद्र के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं दिया जाता। इससे यह प्रतीत होता है कि मनु के समय में समुद्र नौ-संचालन होता था। शायद उसको प्रोत्साहन देने के कारण उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखे गये थे।

नदी तीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्। (मनु ८।४०६)

भारत का सम्पर्क एशिया के देशों से ही नहीं रहा वरन् आदि-यूरोप के देशों से भी रहा है। भारत का मानवता का सन्देश बौद्ध-प्रचारकों द्वारा देश-देशान्तर में पहुँचा। भारत के व्यापारियों ने दुनियाँ के बाजारों में अपनी धाक जमाली थी और भारत के साहित्य, दर्शन और विज्ञान आदि का प्रभाव विश्वव्यापी बन गया था।

रोम—ईसा सन् के आरम्भ में भारत का रोम से व्यापार खूब समृद्ध दशा में था। रोमन इतिहासकार प्लिनी लिखता है कि प्रायः साढ़े पचास लाख पौंड के बराबर का धन व्यापारिक ऋण चुकाने के लिए भारत आता था। इसकी पुष्टि मद्रास प्रान्त की खुदाइयों में पाये गये रोमन सिक्कों से भी होती है। रोम में भारत के सम्बन्ध में पर्याप्त साहित्य भी रचा गया है। इस सम्बन्ध में प्लिनी, प्टोल्मी, क्लीमेन्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सम्राट् अगस्टस की विजय पर ईसा पूर्व सन् २६ में भारत के कुछ राज्यों ने अपने राजदूत भी भेजे थे। इन राजनीतिक और व्यापारिक सम्पर्कों द्वारा बहुत कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी हुआ। ज्योतिषशास्त्र में दोनों ही देश एक दूसरे के

ऋणी हैं। भारतीय ज्योतिष में रोमन सिद्धान्त इस बात का साक्षी है। रोमन सिद्धान्त ज्योतिष के उन पाँच सिद्धान्तों में से था जो वाराहमिहिर के समय में प्रचलित थे। इसमें ही यूनानी सिद्धान्त भी शामिल थे। दर्शन और धर्म के सम्बन्ध में रोम वाले हमारे अधिक ऋणी हैं। रोमन कैथोलिक पादरियों का ब्रह्मचर्य व्रत, उनकी माला, सन्तों की अस्थि आदि 'धातुओं' की पूजा, शरीर को कष्ट देकर तप की भावना बौद्ध और ब्राह्मण प्रभावों की द्योतक है। रोमन कैथोलिक पादरियों में सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देने की प्रथा है। यह भी भारतीय प्रभाव है। ईसाइयों का प्रचार-कार्य भी बहुत अंशों में बौद्धों का ऋणी है।

अफगानिस्तान—आर्यों का मूल देश सप्तसिन्धव गंगा की घाटी से अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। ऋग्वेद में कुभा (काबुल), सुवास्तु, (स्वात), क्रुमु (कुर्रम) आदि अफगानिस्तान की नदियों के नामों का उल्लेख हुआ है। रामायण और महाभारत काल के भी अफगानिस्तान के राजाओं की चर्चा है। महाभारत युद्ध में उनके भाग लेने का वर्णन मिलता है। अशोक के बाद यह देश भारत से अलग हो गया और इस पर विदेशी जातियों का आधिपत्य हो गया। प्रारम्भ में यहाँ वैदिक संस्कृति एवं धर्म का प्रभाव था, बाद में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। फाहियान के वर्णन से पता चलता है कि स्वात की घाटी उत्तर भारत का अंग था और वहाँ मध्यदेश की भाषा बोली जाती थी। हुएनसांग के वर्णन के अनुसार हिन्दुकुश पर्वतमाला के चरणों में स्थित बमियान की घाटी का क्षेत्र उस समय बौद्ध धर्म का बड़ा केन्द्र था। अशोक ने जो ८४००० स्तूपों का निर्माण कराया उनमें सहस्रों इस प्रदेश में थे। हद्दा की खुदाई में ५३१ स्तूपों के भग्नावशेष और लगभग ५०० मूर्तियाँ मिली हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अफगानिस्तान के साथ भारत का सम्बन्ध वैदिक-युग से चला आ रहा था। यह सम्बन्ध ९वीं शती के अन्त तक चला, १०वीं शती में यहाँ भारतीय संस्कृति के स्थान पर इस्लाम मजहब एवं संस्कृति फली-फूली।

यूनान—भारत का यूनान से भी सम्पर्क रहा है। ३२० ईसा पूर्व में सिकन्दर का आक्रमण हुआ था, किन्तु उसका प्रभाव व्यास नदी से आगे न बढ़ सका। यह अवश्य है कि उसके द्वारा हिन्दुस्तान का यूनान से सीधा सम्पर्क हो गया। इससे पूर्व फारस के द्वारा हिन्दुस्तान का यूनान से सम्पर्क था। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका राज्य विभक्त हो गया था।

उसके पश्चात् यूनानी सेनापति सेल्यूकस की पुत्री का चन्द्रगुप्त से वैवाहिक सम्बन्ध हुआ। यूनानी राजाओं में मिनेन्डर (मिलिन्द) का भारत में सबसे अधिक राजनीतिक और धार्मिक प्रभाव रहा। उसका राजनीतिक प्रभाव तो पाटलिपुत्र तक रहा। उसने स्वयं बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। आचार्य नागसेन से जो उसका धार्मिक वार्तालाप होता था उसका संग्रह मिलिन्द-प्रश्न नाम की पुस्तक में है।

यूनानी सम्पर्क यद्यपि अल्पकालीन रहा, तथापि सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दृष्टि से बहुत महत्व का रहा। भारत ने जितना लिया उससे अधिक उसे दिया। पाइथागोरस पर भारत का स्पष्ट प्रभाव था। यहाँ पर हम वेबर के दर्शनशास्त्र के इतिहास से एक उद्धरण देते हैं—

"द्वैतवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद (आवागमन), ब्रह्मचर्य, कठोर नियमों के अनुकूल सम्मिलित जीवन, थोड़े-थोड़े समय पश्चात् आत्म-परीक्षा, ध्यान, भक्ति पशुबलि और पशु-आहार का निषेध, सब मनुष्यों के प्रति मैत्रीभाव, सत्य, वफादारी, न्याय, ये सब तत्व पाइथागोरसवाद तथा बौद्ध धर्म में सम्मिलित हैं। यह बात कि प्राचीन लेखकों ने और विशेषकर अरस्तू ने पाइथागोरस के व्यक्तित्व और जीवन के बारे में बहुत कम लिखा है जो इस कल्पना को पुष्ट करती है कि पाइथागोरसवाद और बौद्ध धर्म का तादात्म्य है।"[1]

नव प्लेटोवाद (Neo Platonism) तथा **ज्ञानवाद** (Gnosticism) पर भारत का प्रभाव है। यूनानी कहानियाँ पञ्चतन्त्र से प्रभावित थीं। यूनान का गांधार-कला पर अवश्य प्रभाव पड़ा है, किन्तु अन्य बातों पर वहाँ का प्रभाव नगण्य सा है। हिन्दुओं ने न उनके देवी-देवताओं को अपनाया और न उनके दर्शन और साहित्य को। नाटकों पर जो लोग 'यवनिका' शब्द के आधार पर यूनानी प्रभाव बतलाते हैं वे कई तथ्यों को भूल जाते हैं। पहले तो यह कि यूनानियों के नाट्यगृह अर्द्ध-गोलाकार और खुले होते थे। हिन्दुओं के नाट्यगृह चतुष्कोण या त्रिकोण होते थे। यूनानी नाटकों का विभाजन अंक आदि में नहीं होता था। हमारे यहाँ अंक विभाजन भी होता था। यूनानी नाटक प्रायः दुःखान्त होते थे। हमारे यहाँ दुःखान्त नाटकों का एकदम निषेध है। अन्तिम बात यह है कि यवनिका जैसी कोई वस्तु यूनानी नाटकों में नहीं होती थी। इसके विपरीत यूनान से आये हुए राजदूतों ने हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। हेलियोडोरस ने बेसनगर में गरुड़ध्वज स्थापित किया था। हमारे यहाँ की ज्योतिष पर भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा। कुछ विद्वान होराचक्र को इस बात का द्योतक मानते हैं, किन्तु यह बात निर्विवाद नहीं है। (होरा यूनान में ऋतु और समय को कहते हैं)। रोमन सिद्धान्त में भी यूनानी ज्योतिष है, लेकिन वह एक प्रचलित सिद्धान्त के रूप में है, सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में नहीं। विद्वानों को सब सिद्धान्त जानना आवश्यक होता है।

मध्य एशिया—यूरोप की अपेक्षा एशिया पर भारत का प्रभाव अधिक पड़ा। यह प्रभाव दो प्रकार के थे, कुछ तो उन देशों पर जो सभ्य थे ही, जैसे चीन आदि, उनको नये विचार देने का और कुछ प्रभाव तुर्किस्तान जैसे बर्बर देशों में भी धर्म और दया के प्रचार के थे। ये तलवार की धार के सहारे प्रवाहित नहीं हुए, वरन्

---

1. *History of Philosophy,* by Alfred Weber, translated by Frank Thelly, page 38 foot note.

,वे विजित, अविकृत व प्रभावित जातियों की स्वेच्छापूर्ण स्वीकृति द्वारा डाले गये। मध्य एशिया की खुदाइयों में अनेक बौद्ध स्तूपों और मठों के अवशेष जो प्राय: २००० वर्ष पुराने हैं, बुद्ध मूर्तियाँ तथा गणेश, कुबेर आदि ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवताओं और आख्यानों की मूर्तियाँ और आलेखन मिले हैं। ये बौद्ध और हिन्दू प्रभावों के द्योतक हैं। सातवीं शताब्दी ईसा पश्चात् जब ह्वेनसांग मध्य एशिया में होकर गुजरा था तब उसने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार पाया था।

बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को यह एक महत्वपूर्ण देन है कि उसने सुदूर देशों में इसका प्रसार किया। सम्राट अशोक ने विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ मण्डलियाँ भेजी थीं। अशोक के एक अभिलेख में लिखा है—"देवानाम प्रिय धर्म के द्वारा इस विजय को मुख्य समझता है। यहाँ पड़ौसी देशों, यहाँ तक कि ६०० योजन दूर के देशों में भी यह विजय देवानाम प्रिय को मिली है।" अशोक के समय के एशिया के दक्षिणी तथा पश्चिमी भागों में हीनयान-बौद्धधर्म का बहुत प्रचार हुआ। कनिष्क के समय में दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा सुदूर एशिया में महायान बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इन देशों में बौद्ध धर्म ने बहुत गहरी जड़ें जमालीं। भारत का सुदूर पूर्वी एशिया से घनिष्ठ सम्पर्क के स्थापित करने में बौद्ध धर्म और उसके उत्साही प्रचारकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

विदेशों में अशोक के धर्म प्रचार ने बौद्ध धर्म को विश्व धर्म बना दिया। सुप्रसिद्ध इतिहासकार विन्सैंट स्मिथ का कथन है "अशोक से पहले लगभग ढाई सौ वर्ष तक बौद्ध धर्म गंगा घाटी तक ही सीमित रहा और उसकी हैसियत हिन्दू धर्म के एक सम्प्रदाय की ही रही। इस स्थानीय सम्प्रदाय को विश्व धर्म में परिवर्तित करना अशोक का ही काम था।"

लंका—इसका दूसरा नाम ताम्रपर्णी है। बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक प्रचार कार्य यहीं से आरम्भ हुआ था। वहाँ के राजा तिष्य से अशोक के राजकुमार महेन्द्र मिले और फिर उन्होंने बौद्ध धर्म की शरण ली। पीछे महेन्द्र और उसकी छोटी बहन बोधिवृक्ष की शाखा अनुराधापुर लाये। लंका कुछ काल तक तमिल राजाओं के भी आधीन रही। अब वहाँ बौद्ध, हिन्दू और ईसाई तीनों धर्मों के अनुयायी हैं। वहाँ बहुत से हिन्दू मन्दिर भी हैं।

चीन—चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में ऐसी अनुश्रुति है कि सन् ६५ ई० में सम्राट मिङमिङ्ली ने स्वप्न देखा कि बुद्ध भगवान ने उसे आदेश दिया है कि अपने राज्य में भारत से बौद्ध ग्रन्थ और मूर्तियाँ मँगवायें। इस स्वप्न से प्रेरणा ग्रहण कर सम्राट ने अठारह व्यक्तियों का दूत-मण्डल भारत भेजा। वे लोग कुछ दिन भारत ठहरकर लौटते हुए बहुत से बौद्ध ग्रन्थ और काश्यप मातंग और धर्मरक्ष नाम के दो भिक्षुओं को अपने साथ चीन ले गये। मातंग को गुरु बनाकर राजा बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। दोनों भिक्षुओं ने चीन में निवास कर बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का

अनुवाद किया। पाँचवीं शताब्दी तक भारत से पण्डितों का आवागमन होता रहा और सैकड़ों ग्रन्थों का अनुवाद हुआ।

पाँचवीं शताब्दी में कुमारजीव ने चीन में रहकर चीनी भाषा में इतनी दक्षता प्राप्त करली थी कि उसकी भाषा ह्वेनसांग से भी अच्छी समझी जाने लगी। एक हजार वर्ष तक यह सम्बन्ध थोड़े-बहुत विराम और विच्छेद के साथ चलता रहा। ७३३ ईसवी में धर्मदेव ने चीन में अनुवादकों का एक संघ स्थापित किया।

इन अनुवादों द्वारा चीनी साहित्य ही प्रभावित नहीं हुआ, वरन् वहाँ के विद्वानों ने जो भारत के स्थापत्य को देखकर लौटे, अपने देश के मन्दिरों और पगोडाओं में भारतीय आदर्शों का समावेश कराया। शांसी में तातुङ्गफू और होन में लुङ्गमैन के मन्दिरों में गुप्तकालीन प्रभाव है। चीन से बहुत से यात्री जैसे फाहियान[1], ह्वेनसांग आदि भारत आते रहे, उनसे हमको तत्कालीन भारत का बहुत कुछ विवरण मिलता है। ह्वेनसांग ने नालंदा विश्वविद्यालय में पाँच वर्ष रहकर हिन्दू और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। सन् ६४१ में सम्राट् हर्षवर्धन ने एक दूत-मण्डल चीन भेजा था। उसके प्रत्युत्तर में चीन से जो दूत-मण्डल आया उससे पहले ही हर्षवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी। आठवीं शताब्दी में चीनी विद्वानों ने हिन्दू ज्योतिष पर और भारतीय पञ्चांग के आधार पर अपना तिथिक्रम निश्चित किया।

चीन में बौद्ध धर्म का इतना प्रचार बढ़ा कि उसने अपने प्रचारक कोरिया भेजे और वहाँ के लोग भी त्रिरत्न की शरण में आ गये। कोरिया की वर्णमाला अब भी भारतीय है। छठी शताब्दी के अन्त तक कुछ विरोध होते हुए भी जापान में बौद्ध धर्म ने प्रवेश कर लिया था और वहाँ की कला और साहित्य को प्रभावित करने लगा। जापान का शोतुकु बौद्ध धर्म का बड़ा अभिभावक हुआ। उसने सन् ६०७ ई० में चीन को एक राजदूत मण्डल भेजा। उसके साथ बहुत से जापानी विद्यार्थी भी चीन गये। उन्होंने लौटकर प्रचार कार्य में योग दिया। शोतुकुमारन का सम्राट अशोक के समान बड़ा उदार और धर्मात्मा था।

तिब्बत—तिब्बत (त्रिविष्टप) में वहाँ की अशिक्षा के कारण बौद्ध धर्म कुछ पीछे पहुँचा। भारत की ओर से तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रयत्न चौथी शताब्दी से आरम्भ हो गये थे। सन् ६२९ में स्रोङ् सेन गंपी तिब्बत का राजा बना। इसने सन् ६३२ में तान् संबोता को १६ व्यक्तियों के साथ भारतीय भाषा सीखने तथा यहाँ से बौद्ध ग्रन्थ लाने के लिये भेजा। वे लोग अठारह वर्ष भारत में रहकर तिब्बत

---

१. फाह्यान के आचार्य कुमारजीव ने उन्हें आदेश दिया था—"तुम्हें भली प्रकार से भारत का सांस्कृतिक अध्ययन करना चाहिए, जिससे तुम चीन देशवासियों के लिए भारत का सन्देश पूर्ण रूप से देने में समर्थ हो सको। तुम्हें केवल धर्म का ही अध्ययन नहीं करना है।" फाह्यान भारत में चतुर्थ शताब्दी ईसवी में आये थे।

लौटे। ६४१ ई० में सेनगंपो ने चीनी राजकुमारी से विवाह किया। उसके सम्पर्क में आने से राजा ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

आठवीं शताब्दी में आचार्य शान्तिरक्षित पद्मसम्भव तिब्बत गये। ११वीं शताब्दी में तिब्बत में बौद्ध धर्म का सूर्य पूर्ण ऊँचाई पर पहुँच चुका था। वहाँ अनेकों विहार और मठ बने और असंख्य संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ। जो ग्रन्थ अब भारत में अप्राप्य हैं उनका तिब्बती रूपान्तर वहाँ अब भी मिलता है। राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से ऐसे ग्रन्थ लाये हैं और उनमें से एक (प्रमाणवार्तिक) का उन्होंने पुनः रूपान्तर भी किया है।

बर्मा—बर्मा में बौद्ध धर्म से पूर्व भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। इतिहासकारों का कथन है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारतीय वहाँ पहुँचे और अपने धर्म, संस्कृति, भाषा, लिपि एवं कला का विस्तार किया। उस समय बर्मा का नाम ब्रह्मदेश या ब्रह्मा था। प्राचीन पाली साहित्य में बर्मा का नाम 'स्वर्ण भूमि' दिया है। अन्य विद्वानों का मत है कि बर्मा में तिब्बत और मंगोलिया से भारतवंशी लोग आकर बसे। यद्यपि बर्मा के लोग नस्ल की दृष्टि से चीनियों से अधिक मिलते-जुलते हैं, किन्तु उन पर चीनी सभ्यता की अपेक्षा भारतीय सभ्यता का प्रभाव अधिक है।

यद्यपि अशोक के समय से प्रचारक लोग बर्मा जाने लगे थे और समुद्र मार्ग से दक्षिण के राज्यों से व्यापारिक सम्बन्ध थे तथापि वास्तविक रूप में बौद्ध धर्म (हीनयान) की स्थापना सिंहली पण्डित बुद्धघोष द्वारा सन् ४५० ई० में हुई। ग्यारहवीं शताब्दी में चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने बर्मा को जीतकर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इसी कारण वहाँ बौद्ध और हिन्दू प्रभाव दोनों ही रहे और यहाँ गुप्तकाल के बहुत से अवशेष मिलते हैं।

स्याम—स्याम में महायान धर्म की प्रधानता रही। बौद्ध और हिन्दू शास्त्रों ने वहाँ भी संस्कृति को काफी प्रभावित किया। आजकल भी राजाओं के नाम हिन्दू होते हैं और उनके आगे राम शब्द लगा रहता है। बौद्ध धर्म का प्रचार होते हुए भी वहाँ हिन्दू-प्रभाव का अभाव नहीं है।

हिन्द-चीन—यहाँ हिन्दुओं के दो बड़े उपनिवेश थे—कम्बोडिया (इसका संस्कृत नाम कम्बुज है) और चम्पा जिसको आजकल हिन्द चीन कहते हैं। उसको चीनी लोग फूनान कहते हैं। जनश्रुति के अनुसार दक्षिण भारत के कौंडिन्य नाम के ब्राह्मण ने इस राज्य की स्थापना की थी। उसने यहाँ आकर एक नागकन्या से विवाह कर लिया था। वहाँ के लोगों ने हिन्दू रीति-रिवाज स्वीकार कर लिये थे। चीनी ग्रन्थों से पता चलता है कि एक दूसरे कौंडिन्य ने जिसका नाम जयवर्मन भी था, सन् १४८४ में शाक्य नागसेन नाम के एक भिक्षु को चीन भेजा था। वहाँ पर बौद्ध और वैष्णव दोनों प्रभावों के अभिलेख मिलते हैं।

कम्बुज के सबसे विख्यात मन्दिर अंगकोरवत का निर्माण सूर्यवर्मन द्वितीय (१११२-११५२ ई०) ने कराया। यह संसार में सर्वाधिक बड़ा पाषाण मन्दिर है।

एक वर्ग मील भूमि पर बना, चारों ओर २½ मील लम्बी, ६५० फुट चौड़ी खाई से घिरा है। उसका केन्द्रीय शिखर २१० फीट ऊँचा है और ३०० फीट लम्बी तथा सुन्दर उभरे हुए चित्रों से अंकित वीथिकाएँ उसे घेरे हैं। वह प्रमुख रूप से भगवान विष्णु का मन्दिर है। कुछ चित्र भगवान शंकर तथा यमराज के भी हैं। इस मन्दिर में भारतीय स्थापत्य कला तथा स्थानीय कम्बुज शैली का सुन्दर समन्वय है। बौद्ध राजा जयवर्मन सप्तम् (११८१-१२०१ ई०) ने यहाँ 'अंगकोरथोम' के बौद्ध मन्दिर का निर्माण कराया। कम्बुज में शैव और वैष्णव धर्म की प्रधानता रही है। वहाँ के राजा लोग महाहोम, लक्षहोम, कोटि होम आदि यज्ञ करते थे। संस्कृत अभिलेखों का प्राचुर्य इस बात का द्योतक है कि वहाँ संस्कृत का प्राधान्य था। वहाँ रामायण, महाभारत आदि का अखण्ड पाठ होता था।

चम्पा—चम्पा दूसरी शताब्दी तक हिन्दू उपनिवेश बन चुका था। इस राज्य के संस्थापक का नाम श्रीमार था। ३८० ई० में भद्रवर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह वेदों का पण्डित था। चम्पा का प्रधान धर्म शैव था। यहाँ हिन्दू वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी और हिन्दू रीति से विवाह होते थे। जब कम्बुज और चम्पा की आपस की लड़ाइयों के कारण चम्पा अनामियों के हाथ आ गया तब से बौद्ध प्रभाव का प्राधान्य हो गया।

इण्डोनेशिया (हिन्देशिया)—हिन्दचीन की भाँति हिन्देशिया में भी प्राचीन काल में भारतीयों ने साम्राज्य स्थापित किये तथा अपने धर्म एवं संस्कृति का प्रचार किया। चीनी यात्री ईत्सिंग के विवरण से पता चलता है कि सातवीं शती ईसवी में सुमात्रा के श्रीविजय राज्य में जयनाग नामक बौद्ध राजा प्रतिष्ठित था। जावा में भी उस समय भारतवंशियों का राज्य था। जावा में संस्कृत के अभिलेख उत्कीर्ण मिले हैं जिनमें पूर्णवर्मन राजा का उल्लेख आता है। बोर्नियो द्वीप में भी संस्कृत के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें मूलवर्मन नामक राजा की चर्चा है। आठवीं शताब्दी में हिन्देशिया में शैलेन्द्र नामक एक राजवंश का उदय हुआ जिसने आस-पास के राज्यों को जीतकर विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जिसमें मलाया, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो, सेलीबीज, फिलीपाइन, फारमूसा तथा लंका सम्मिलित थे। कुछ समय तक चम्पा और कम्बुज भी इसमें रहे।

बोरोबुदुर का स्तूप—शैलेन्द्र साम्राटों द्वारा निर्मित मध्य जावा के बोरोबुदुर के विशाल स्तूप (७७५–८२५ ई० लगभग) की कुमारस्वामी ने बहुत प्रशंसा की है। उनके शब्दों में यह स्तूप "तीसरी महान् सचित्र बाईबिल है, जिसका विस्तार सांची के रिलीफों अथवा अजन्ता के चित्रों के समान किन्तु अधिक विस्तृत है।" राधाकमल मुखर्जी के शब्दों में बोरोबुदुर का विशाल स्तूप तथा यहाँ की कला की उपलब्धियाँ महान् हैं। उन्होंने लिखा है कि "वास्तव में गुप्तकालीन कला का आदर्श यहीं परिसमाप्ति को प्राप्त करता है। यहाँ के लगभग २००० उत्कीर्ण शिलापट्टों में बुद्ध का जीवन-चरित्र अंकित है, जो 'ललितविस्तर', 'दिव्यावदान', 'कर्म विभंग',

'गण्डव्यूह', 'जातकमाला' तथा अन्य विभिन्न दन्तकथाओं के आधार पर है। बोरोबुदुर और गुप्तकालीन मूर्तिकला में सन्तुलन और स्पष्टता, सौन्दर्य और भक्ति भावना लगभग समान है, किन्तु विचार की धारणा और विधान की विशालता और शोभा में बोरोबुदुर कहीं श्रेष्ठ है। इस स्तूप की अनेकानेक गैलरियों में बोधिसत्व के जीवन के सुपरिचित दृश्य अंकित हैं। यह स्तूप कमल के आकार की चौकी पर एक-एक सीढ़ी, एक-एक गैलरी उठता हुआ सर्वोच्च श्रेणी तक पहुँचता है जहाँ जालीदार गुम्बदों के पीछे अतीत और भविष्य के युगों के बहत्तर बुद्ध प्रच्छन्न हैं—वे अरूप संसार के निवासी हैं। वास्तुकला का यह नमूना जीवन के महायान दृष्टिकोण की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है, इस दृष्टिकोण के अनुसार सभी पार्थिव वस्तुएँ और मानवी घटनाएं अमिट विज्ञान में लीन हो जाती हैं। स्तूप और प्रासाद के रूप में मन्दिरों

जावा की एक बौद्ध मूर्ति (प्रज्ञापारमिता)

के निर्माण की भारतीय कला का अन्तिम सुन्दरतम प्रयोग बोरोबुदुर की आयोजना में हुआ।"

इस स्तूप की निर्माण योजना बहुत विशाल है। पहले एक-एक करके नौ मंच (वेदिका) बनाये हैं, ऊपर का मंच अपने नीचे वाले से छोटा होता गया है। अन्तिम मंच के बीच में घण्टे के आधार का विशाल स्तूप है। ऊपर के तीनों मंचों पर चारों ओर स्तूप हैं और हर स्तूप पर बुद्ध की एक प्रतिमा है। नीचे के मंचों के चारों ओर दीवारों से घिरी वीथाएँ हैं जिनकी दीवारों पर जातक कथाओं से बुद्ध-जीवन की घटनाओं सम्बन्धी चित्र उभारकर बनाये गये हैं।

मलाया द्वीपसमूह—इसमें जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो के हिन्दू उपनिवेश थे। सुमात्रा का प्राचीन नाम श्री विजय था। चौथी शताब्दी तक वह भारतीय आवास बन चुका था। जावा का नाम जवद्वीप था। इसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में "यत्नवन्तो यवद्वीप सप्तराज्योपशोभितम्।" (किष्किन्धा काण्ड, ३०) करके आया है। सुग्रीव ने यहाँ भी अपने वानर खोज करने भेजे थे। यहाँ पर सबसे पहिले कलिङ्गवासियों ने अपना उपनिवेश बनाया था। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में सौराष्ट्रों का एक बड़ा दल वहाँ पहुँचा। जावा में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव हो गया था। जावा की एक बौद्ध मूर्ति का चित्र पृष्ठ ३३८ पर दिया गया है। बालि और बोर्नियों में हिन्दू संस्कृति के अनेकों अवशिष्ट चिन्ह मिलते हैं। बोर्नियो में चौथी शताब्दी में हिन्दू राज्य की स्थापना हो चुकी थी। वहाँ शिव, गणेश, नान्दी आदि की मूर्तियाँ हिन्दू प्रभाव की परिचायक हैं।

ये सब प्राचीन चिन्ह इस बात के परिचायक हैं कि हिन्दू लोग प्राचीन काल में बड़े साहसी थे और उनकी शक्ति शील-समन्वित थी। उन्होंने बल की अपेक्षा प्रेम से अधिक काम लिया था।

परिशिष्ट
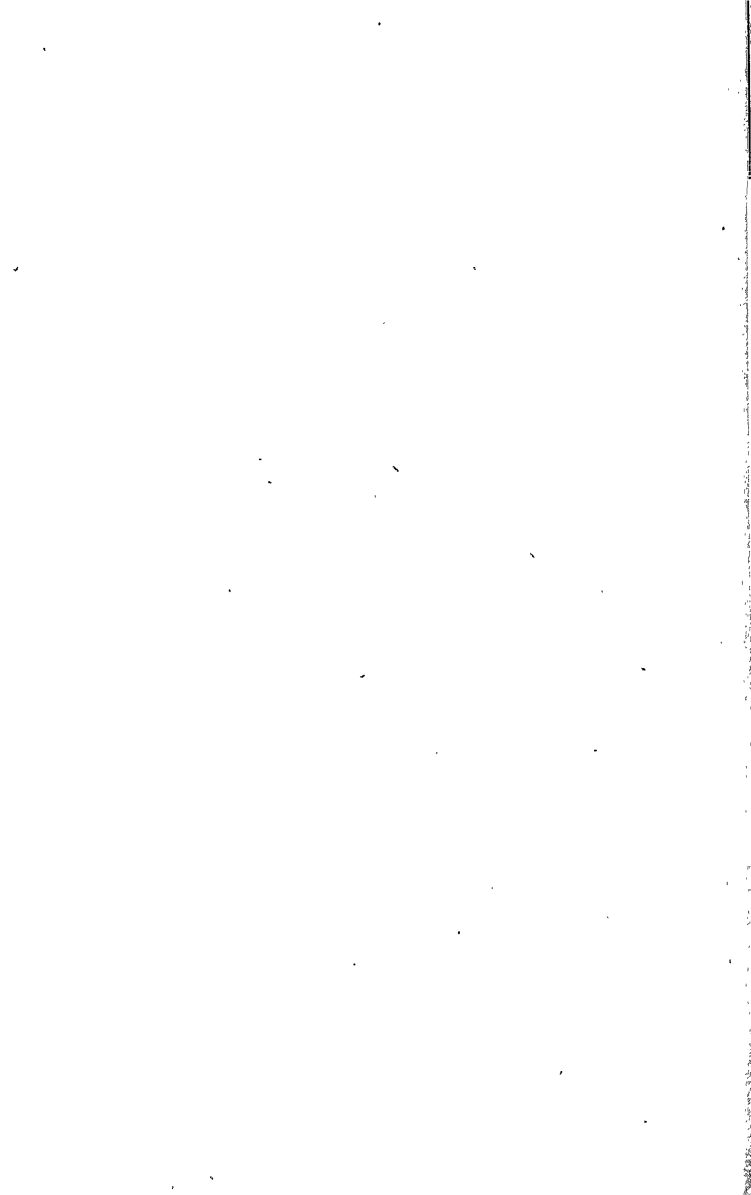
प्राचीन भारतीय कला के प्रसिद्ध स्थलों एवं कृतित्व तथा सांस्कृतिक तत्वों का संक्षिप्त परिचय

सैदपुर भितरी	—स्कन्दगुप्त के लाटस्तम्भ का स्थान, जिला गाजीपुर में सैदपुर कस्बे के समीप भितरी गांव
मामल्लपुरम्	—चिंगलपट मद्रास का दुर्गा मन्दिर
संकिसा	—एक स्तम्भ के ऊपर का परगहा जिस पर हाथी की मूर्ति है, जिला फरुखाबाद में है।
अतरंजीखेड़ा	—एटा से १० मील, यहाँ शुङ्ग, कुषाण, गुप्तकाल की मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुईं।
विक्रमशिला	—पत्थरघाट, भागलपुर से २४ मील, विश्वविद्यालय।
नालन्दा विहार	—बड़गाँव, पटना से दक्षिण पश्चिम में विहार।
अहिच्छत्रा	—रामनगर जिला बरेली, गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों का प्राप्ति स्थल।
होयशलेश्वर	—मैसूर का मन्दिर।
वलभी	—वला जि० काठियावाड़, बौद्ध-शिक्षा-केन्द्र
देवगढ़	—जि० झाँसी, गुप्तकालीन दशावतार मन्दिर।
तिगोवा	—जि० जबलपुर, गुप्तकालीन विष्णु-मन्दिर।
भाजा	—नासिक के समीप गुफा।
अङ्कोरवट	—कम्बोज का एक मन्दिर।
बोरोबुदुर	—जावा का एक मन्दिर।
अवलोकितेश्वर	” ”
दिलवाड़ा	—आबू के जैन मन्दिर।
हड़प्पा	—सिन्धु सभ्यता का नगर (जिला मिन्टगोमरी पाकिस्तान में।)
सारनाथ	—वाराणसी के समीप स्थान, बौद्ध स्तूप, स्तम्भ आदि
मेण्डुत	—जावा का एक मन्दिर।

बराबर की पहाड़ी —जिला गया, बिहार, मौर्यकालीन गुफाएँ।

खण्डगिरि —पुरी उड़ीसा की गुफाएँ।

भरहूत या भारहुत —बघेलखण्ड के पास बौद्धों की प्रसिद्ध गुफाएँ।

गिरनार —जूनागढ़ के समीप पर्वत।

श्रावस्ती —बलरामपुर स्टेशन से १० मील दूर, सहेत-महेत नाम से खण्डहर, उत्तर कोशलप्रदेश।

भूमरा —गुप्तकालीन शिव मन्दिर, नागोद, राजस्थान।

भीतरगांव —कानपुर जिला की नरवल तहसील, गुप्तकालीन ईंटों का मन्दिर।

कुशीनगर —कसिया, देवरिया से १६ मील दूर, बुद्ध की विशाल लेटी हुई प्रतिमा।

मोहनजोदड़ो —मुर्दों का टीला, सिन्धु सभ्यता का उन्नत नगर।

प्रज्ञा पारमिता —राजा रजससंग अमुवंभूमि के समय की १३ वीं शती की जावा की बौद्ध मूर्ति।

अंडाकृति —भारशिव मूर्तिशैली, जिसमें मुखमंडल अंडाकृति होता था।

पुष्पपुर —कनिष्क की राजधानी, यहाँ कनिष्क काल का सर्वाधिक श्रेष्ठ स्तूप बिलकुल ध्वस्त हो चुका है।

ऋषिपत्तन (इसिपत्तन) —प्राचीन काल में ऋषियों का प्रिय आश्रम स्थल, बाद में बुद्ध के पाँचों साथी तपस्वियों ने चुना और बुद्ध ने प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन किया, इसे अब सरनाथ कहते हैं।

भिस्त —गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों का प्राप्तिस्थल

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियां —तीन प्रकार की (१) देवी-देवताओं की (२) स्त्री-पुरुषों की (३) पशु-पक्षियों एवं अन्य प्राकृतिक अलंकरण।

त्रिमूर्ति —एलीफेंटा (बम्बई) गुफाओं में ८वीं शती की त्रिमूर्ति।

सास बहू का मन्दिर या सहस्रबाहू का मन्दिर —ग्वालियर किले में १०९३ ई० का मन्दिर, इसमें शिखर तथा छाजन शैली का सुन्दर सम्मिश्रण है।

कोरना —चारों ओर से गढ़ना, जिससे मूर्ति बेलाग हो जाय।

प्रारम्भिक प्रस्तर-युग —जिसमें मनुष्य केवल अनगढ़ पत्थर के औजार और हथियार प्रयोग करता था।

विकसित पत्थर-युग —जिसमें पत्थर के औजार और हथियार पालिशदार बनने लगे।

ताम्रयुग —जिसमें अग्नि एवं ताम्र का आविष्कार एवं प्रयोग आरम्भ हुआ।

कांस्य युग —जिसमें ताम्र के साथ रांगा मिलाकर शस्त्र और उपकरण बनने लगे।

लौह युग —जिसमें लोहे का आविष्कार तथा प्रयोग होने लगा।

मेगस्थनीज —सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार में ग्रीक राजदूत।

लाठलौर —कौशाम्बी में जैन मन्दिर के निकट अशोककाल का स्तम्भ (लाट)।

रमपुरवा —चंपारन का रमपुरवा गांव, अशोक की लाट से प्रसिद्ध।

लुंबिनी —रूम्मिदेई, नेपाल राज्य में तराई में गांव, बुद्ध का जन्म-स्थल, अशोक का लाट-स्थल।

लाठ भैरों —अशोक की लाट (काशी में), इसका ठूँठ ही बचा है।

चामरग्राहिणी —अशोककालीन मूर्तिकला का अद्वितीय नमूना, पटने के पास दीदारगंज से प्राप्त, पटना संग्रहालय में प्रदर्शित। राज-प्रासाद-सज्जा हेतु निर्मित।

चैत्य —वह निवास-वास्तु जो चिनाई करके बनाया जाय। 'ची' धातु से चैत्य शब्द बना, अर्थ है चयन करके राशि करना।

बरवीरा —यह स्थान जिला मुजफ्फरपुर में है, एक स्तम्भ है जिसके शीर्ष पर सिंह है, यह अशोककाल से पूर्व का माना जाता है।

गोमूत्रिका —बैल-मूतनी या बरद-मुतान की आकृति की बेल।

भीटा —प्रयाग के दक्षिण, यमुना पार, चेदि की राजधानी सहजाती, शुङ्गकाल का मूर्ति प्राप्ति स्थल।

बेसनगर —ग्वालियर राज्य, शुङ्गकाल का (१०० ई० पू०) ग्रीक वैष्णव हेलियोदोर द्वारा बनवाया गरुड़ स्तम्भ।

जगय्यापेटा —अमरावती के समीप, यहाँ शुङ्गयुगीन प्रस्तर मूर्ति प्राप्त हुई है।

अशोकीय कला	—राजकला है।
शुंगकालीन कला	—लोककला है।
अमरावती	—गंटूर जिले में कृष्णा नदी के तट पर अमरावती नामक कस्बा, जो आंध्रों का मूल प्रदेश था।
नागार्जुनकोंडा	—गंटूर जिले में, प्राचीन स्तूप एवं मूर्तिफलक, प्राप्ति-स्थल। यहाँ की मूर्तियाँ एवं अलंकरण पर रोमन (ग्रीक) प्रभाव है।
वेरूल	—एलोरा, पहाड़ काटकर बनाये गये मन्दिर।
कैलाश मन्दिर	—'वेरूल', अजन्ता से पचास मील।
एलिफेंटा	—बम्बई से छः मील दूर टापू (असली नाम घारापुरी) पर पर्वतों को काटकर बनाये मन्दिर।
मामल्लपुरम्	—कांची के सामने समुद्र तट पर चट्टान से काटकर बनाये, द्रविड़ शैली के विशाल मन्दिर, जिन्हें रथ कहते हैं। पल्लव राजाओं द्वारा निर्मित (६००–६२५ ई०)।
सप्तरथम्	—मामल्लपुरम् के सात मन्दिर यवभूमि, सुमात्रा,
सुवर्ण द्वीप	—जावा।
परशुरामेश्वर	—भुवनेश्वर स्थित ७५० ई० का मन्दिर।
मुक्तेश्वर	—भुवनेश्वर स्थित ९५० ई० ,, ,,
लिङ्गराज	— ,, ,, १००० ई० ,, ,,
मेघेश्वर	— ,, ,, १२०० ई० ,, ,,
सूर्यदेवल	—कोणार्क स्थित सूर्य मन्दिर १३०० ई० का।
नेमिनाथ मन्दिर	—गिरनार पर बना भगवान नेमिनाथ का मन्दिर १२७८ ई० से पूर्व का है।
योगिनियों के मन्दिर	—खजुराहो, भेड़ाघाट (जबलपुर), कोयम्बतूर, रानीपुर, झरिया, दुधही (ललितपुर) और कठहौंड़ी में हैं।
एकाम्रनाथ	—कांचीपुरम् में विजयनगर शैली का मन्दिर।
कबलाइकल्लू	—यहाँ का गणेश मन्दिर दक्षिण के भव्य मन्दिरों में गिना जाता है।
नचनाकुठारी	—अजयगढ़ राज्य में गुप्तकालीन पार्वती मन्दिर।
नागदा-बाडोली	—उदयपुर राज्य में, मन्दिरों के लिए प्रसिद्ध।
ओसियाँ	—मन्दिर, जोधपुर राज्य में।

मुक्तिगिरि	—जैन मन्दिर एवं तीर्थ ।
पालीताना	—जैन मन्दिर एवं तीर्थ ।
बादामी	—मन्दिर, बीजापुर जिला ।
श्रीरंगम्	—गोपुरवाला पल्लव शैली का मन्दिर, त्रिचनापल्ली में ।
श्रवणबेलगोला	—जैन मन्दिर हसन जिले में ।
हेलेबिड या हालेबिद (मैसूर,दक्षिणी कर्नाटक)	—यहाँ का होयशलेश्वर का मन्दिर अपूर्व तक्षण कला का नमूना है ।
वज्रलेप	—एक मसाला जो दीवारों पर ओप पैदा कर देता है तथा पत्थर की रक्षा करता है ।
नागर शैली	—मन्दिर वास्तु की उत्तर भारतीय शैली शिखर वाली ।
द्राविड शैली	—मन्दिर वास्तु की दक्षिण भारतीय शैली गोपुर वाली ।
बेसर शैली	—मन्दिर वास्तु की नागर और द्राविड़ की मिश्र शैली ।
मिश्र शैली	—मन्दिर वास्तु की नागर, द्राविड़, बेसर की मिश्र शैली ।
लाट या स्तम्भ	—अशोक की लाटें प्रसिद्ध हैं । ऊँचाई प्रायः ४० से ५० फुट, वजन प्रायः ५० टन ।
साँची का प्रवेश द्वार का विशालकाय तोरण	—दक्षिण के तोरण का एक भाग आन्ध्रवंश के राजा शातकर्णि और दूसरा विदिशा के हस्ति दस्तकारों ने बनवाया ।
अजन्ता की गुफाएँ	—लयण विहार, औरंगाबाद जिले में ।
कार्ले चैत्य भवन	—आन्ध्र में, निर्माता आन्ध्र राजाओं और रानियों की मूर्तियाँ बनी हैं ।
गान्धार कला	—ई० पू० प्रथम शताब्दी में आविर्भूत मूर्तिकला ।
मृण्मयी मूर्तियाँ या टैराकोटा	—पकाई हुई मिट्टी से बनाई गई शुङ्गकाल तथा गुप्तकाल की असंख्य मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं ।
परखम की मूर्ति	—जिला मथुरा, मौर्यकाल की यक्ष मूर्ति ।
लोरियानन्दनगढ़	—जि० चंपारन, बिहार राज्य, अशोक द्वारा निर्मित सिंह-शीर्ष-स्तम्भ ।
धमेख स्तूप सारनाथ	—गुप्तकालीन स्तूप, नलाकार पत्थर के ढोल की भाँति ईंटों का बना १२८ फुट ऊँचा ।

अमरावती स्तूप	—निर्माण ई० पू० दूसरी शती, सातवाहनों ने ई० २०० में इसकी बाढ़ बनवाई ।
बौद्ध गया का मन्दिर	—प्राचीन मन्दिर शुंगकाल में बना बोधिद्रुम में था नवीन रूप परवर्तीकाल में दिया गया ।
सांची स्तूप	—अशोक द्वारा निर्मित सुप्रसिद्ध स्तूप-अर्द्धवृत्ताकार शीर्ष कुछ चपटा, पक्की ईंटों का बना, काष्ठ-निर्मित चहारदीवारी ।
भारतीय वास्तुकला में जातक कथाएं	—भारहुत तथा गया के वेष्टनी पर अंकित बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ ।
लोमश ऋषि की गुफा	—अशोक तथा सम्प्रति द्वारा बनवाई गई बौद्ध गुफाएँ ।
जोगीमारा गुफा की चित्रकारी	—सरगुजा रियासत, रामगढ़ की पहाड़ियों पर स्थित-भित्तियों पर पीले भूरे रंग के मनुष्य एवं पशुचित्र ।
भारतीय कला पर ग्रीक प्रभाव	—गान्धार कला पर सर्वाधिक ।
फरगूसन	—भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध विदेशी विद्वान ।
स्तूप	—बौद्ध ग्रन्थों में इन्हें चैत्य कहते हैं, अस्थि-अवशेष पर निर्मित समाधि-पूजा स्थल ।
त्रिमूर्ति	—ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति, शुङ्गकाल में बनीं ।
चैत्य	—भूगर्भयुक्त स्तूप भवन, उपासक स्तूप की उपासना परिक्रमा भी करते रहें, संघ का कार्य भी चलता रहे, ऐसे भवन ।
विहार	—स्तूप के समीप बौद्ध भिक्षुओं के निवास ।
गुफामन्दिर	—पत्थर को काटकर बनाई गई, चमकदार पालिश लगाते थे, भिक्षुओं के निवास एवं उपासना गृह तथा कुछ वैष्णव धर्म के मन्दिर भी ।
भारतीय मूर्तियों के संग्रहालय	—तक्षशिला, लाहौर, मथुरा, इलाहाबाद, वाराणसी, सारनाथ, पटना, नालन्दा, कलकत्ता, राजशाही, बम्बई, मद्रास, कोलम्बो, लन्दन, बोस्टन ।
कार्ले चैत्य	—बम्बई और पूना के बीच गिरजाघरों जैसी बनावट की गुफाएँ, सर्वाधिक बड़ा चैत्य १२४·३ फुट ×४५·६ फुट ।
भल्लड स्तूप	—गुप्तकालीन तक्षशिला का स्तूप, चौकोर आधार पर स्थित असाधारण तूदे का ।

अमरावती तथा नागार्जुन कोंडा (जि० गंटूर)	—मूर्तिशिल्प के केन्द्र, इन मूर्तियों पर रोमन प्रभाव पाया जाता है, नागार्जुनकोंडा में इक्ष्वाकुवंशी राजाओं द्वारा निर्मित स्तूप था।
कन्हेरी की गुफाएँ	—बम्बई के समीप सालसेट टापू पर, कार्ली गुफा की अनुकृति।
पद्मपाणि तथा सिंहनाद अवलोकितेश्वर	—साधारण प्रस्तर की महोबे से प्राप्त प्राचीन मूर्तियाँ।
लयण	—बौद्ध विहार।
विष्णुध्वज	—मेहरोली का चन्द्र लौह स्तम्भ।
वात्स्यायन का कामसूत्र	—कामशास्त्र का एकमात्र उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थ।
भोज का समराङ्गणसूत्रधार	—धारानरेश भोज (१०४० ई०) द्वारा निर्मित वास्तु विद्या का ग्रन्थ।
भरत नाट्यशास्त्र	—संगीत एवं नाट्यशास्त्र का प्राचीनतम भरतमुनि द्वारा निर्मित प्रामाणिक ग्रन्थ।
आयुर्वेद	—ऋग्वेद का उपवेद।
धनुर्वेद	—यजुर्वेद का उपवेद।
गान्धर्व वेद (संगीत)	—सामवेद का उपवेद।
मानसार	—वास्तु शिल्प का सुप्रसिद्ध हर्षकालीन-ग्रन्थ।
ह्वेनसांग	—ह्वेनसांग भारत में बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करने को ६२९-६४५ ई० तक रहा।
अलबेरूनी	—मुस्लिम लेखक, १०१७-१०३० ई० में भारत भ्रमण किया।
विष्णुधर्मोत्तर पुराण	—इस पुराण के तृतीय भाग के ३—४३ अध्यायों में चित्र-सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा की गई है।
उपनयन	—एक प्रमुख संस्कार, इसके उपरान्त वेदाध्ययन आरम्भ होता है।
पंचमहायज्ञ	—गृहस्थाश्रम के लिए अनिवार्य।
विवाह-प्रकार	—मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाह निर्दिष्ट हैं, ब्राह्म विवाह सर्वोत्तम माना जाता है।
जाति व्यवस्था	—भारतवर्ष में चातुर्वर्ण्य एक सांस्कृतिक विशेषता है।
आश्रम व्यवस्था	—भारत में चातुराश्रम व्यवस्था एक सांस्कृतिक विशेषता है।

चौंसठ कलाएँ —वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित चौंसठ कलाएँ।

कुरुपांचाल —प्राचीन महाजनपद, महाभारत काल में समृद्धि के शिखर पर पुरुवंशी राजाओं द्वारा संस्थापित, नहुष, ययाति, दुष्यन्त, धृतराष्ट्र आदि।

बोगाजकोई (Boghaskoi) —एशिया माइनर का एक स्थान, मृतिका फलक प्राप्तिस्थल, १४वीं शती ई० पू० का सन्धि-पत्र, सन्धिरक्षक बेबीलोनियन, हिट्टाइट तथा भारतीय देवताओं के नाम।

तक्षशिला —महान् शिक्षा केन्द्र, चाणक्य का महाविद्यालय यहीं था।

नालन्दा विश्वविद्यालय —ह्वेनसांग का विद्या-स्थल, यहाँ उसके समय में १० हजार और ईत्सिंग के समय में १३ हजार विद्यार्थी थे, हर्षोत्तर काल में ध्वस्त हो गया।

सहायक हिन्दी ग्रन्थों की सूची

१. हिन्दू सभ्यता—डॉ० राधामुकुद मुकर्जी अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
२. भारतीय मूर्तिकला—रायकृष्णदास, द्वि० सं० ।
३. भारतीय वास्तुकला—परमेश्वरीलाल गुप्त, प्र० सं० ।
४. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ।
५. खजुराहो की देव प्रतिमाएँ—डॉ० रामाश्रय तिवारी, प्र० सं० ।
६. हिन्दी साहित्य (प्रथम खंड)—सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा, प्र० सं ।
७. मध्य देश—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प्र० सं० ।
८. भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा)—प्रथम खण्ड तथा द्वितीय खण्ड (औपनिषद धारा) डा० मङ्गलदेव शास्त्री, प्र० सं० ।
९. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वी० वरदाचार्य, अनुवादक डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, प्र० सं० ।
१०. संस्कृत साहित्य का इतिहास—पं० बलदेव उपाध्याय, पंचम सं० ।
११. भारतीय चित्रकला—रायकृष्णदास, द्वि० सं० ।
१२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जयचन्द्र विद्यालंकार, प्र० सं० ।
१३. अन्धकारयुगीन भारत—काशीप्रसाद जायसवाल, प्र० सं० ।
१४. अशोक—डी० आर० भण्डारकर, प्र० सं० ।
१५. वैदिक साहित्य—रामगोविन्द त्रिवेदी ।
१६. संस्कृत वाङ्मय के अमररत्न—जयचन्द्र विद्यालंकार ।
१७. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० बेनीप्रसाद ।
१८. भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त विद्यालंकार ।
१९. हिन्दू राजस्व—अम्बिकादत्त वाजपेयी ।
२०. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
२१. कल्याण का हिन्दू संस्कृति, २२. ब्रह्मवैवर्त पुराण,
२३. हिन्दू उपासना तथा २४. शिवांक—विशेषांक ।
२५. पिच्छिकमण्डलु—मुनि विद्यानन्द, द्वि० सं० ।
२६. पुरुदेव भक्ति गंगा—मुनि विद्यानन्द ।
२७. विश्वधर्म की रूपरेखा—मुनि विद्यानन्द ।
२८. आर्यों का आदिदेश—डॉ० सम्पूर्णानन्द ।
२९. मार्कण्डेय पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ।

३०. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० भोलाशंकर व्यास ।
३१. पुराण साहित्य की उत्पत्ति—नलिनीमोहन सान्याल ।
३२. ऋग्वेद संहिता (हिन्दी टीका सहित)—प्रथम अष्टक, रामगोविन्द त्रिवेदी और पं० गौरीनाथ झा, संवत् १९८८ ।
३३. संस्कृति के चार अध्याय—डॉ० रामधारीसिंह दिनकर, १९५६ ।
३४. भारतीय दर्शन—वाचस्पति गैरोला, १९६२ ।
३५. वैदिक कोष—हंसराज, प्र० सं० ।
३६. ऋग्वेद भाष्य भूमिका—स्वामी दयानन्द, प्र० सं० ।
३७. ऋग्वेद पर व्याख्यान—पं० भगवदत्त, प्र० सं० ।
३८. ऋग्वेदिक आर्य—राहुल सांकृत्यायन, प्र० सं० ।
३९. वैदिक साहित्य और संस्कृति—पं० बलदेव उपाध्याय, पंचम सं० ।
४०. आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ—पं० बलदेव उपाध्याय ।
४१. गुप्त साम्राज्य—डॉ० वासुदेव उपाध्याय ।
४२. गुप्त युग—आर० सी० मजूमदार ।
४३. भारत की संस्कृति और कला—डॉ० राधाकमल मुखर्जी ।
४४. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, चतुर्थ सं० ।
४५. मोहनजोदड़ो तथा सिन्धु सभ्यता—सतीशचन्द्र काला ।
४६. गीता रहस्य—लोकमान्य तिलक ।
४७. हर्षवर्धन—गौरीशंकर चटर्जी ।
४८. हुएनसांग का भारत भ्रमण—ठाकुरप्रसाद शर्मा ।
४९. पूर्व मध्यकालीन भारत—डॉ० वासुदेव उपाध्याय ।
५०. मुगलकालीन भारत—डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ।
५१. आर्य संस्कृति के मूलाधार—पं० बलदेव उपाध्याय, १९४७ ।
५२. युग-युगों में उत्तर प्रदेश—श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, १९५५ ।
५३. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—डा० नलिनाक्ष दत्त तथा श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, १९५६ ।
५४. प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास—रमेशचन्द्र दत्त, अनुवादक गोपालदास, कमलाकर तिवारी, १९६३ ।
५५. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।
५६. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन—डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर ।
५७. प्राचीन भारतीय लोकधर्म—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।
५८. भारतीय धर्म व्यवस्था—वाचस्पति गैरोला ।
५९. प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड—डा० हरिहरनाथ त्रिपाठी ।
६०. रामायणकालीन संस्कृति—डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास ।

६१. **वैदिक युग के भारतीय आभूषण**—डा० रायगोविन्दचन्द्र ।
६२. **संस्कृत और संस्कृति**—डा० राजेन्द्रप्रसाद ।
६३. **संस्कृत नाटक**—ए० बी० कीथ, अनुवादक डा० उदयभानु सिंह ।
६४. **जैन दर्शन**—महेन्द्रकुमार जैन ।
६५. **जैन दर्शनसार**—पं० चैनसुखदास ।
६६. **प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ**—परमात्माशरण ।
६७. **भारतीय पुरालिपि शास्त्र**—मंगलनाथसिंह ।
६८. **कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति**—डा० गायत्री वर्मा ।
६९. **कालिदास की लालित्य योजना**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
७०. **कालिदास का भारत**—डा० भगवतशरण उपाध्याय, १, २ भाग ।
७१. **कालिदास**—डा० वासुदेव विष्णु मिराशी ।
७२. **भारतीय कला**—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।
७३. **भारतीय इतिहास के स्रोत, सिक्के**—मू० ले० ई० जे० रैपसन (इण्डियन कॉएन्स), अनु० डा० रामकुमारराय
७४. **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान**—डा० हीरालाल जैन ।
७५. **भारतीय संस्कृति का इतिहास**—चतुरसेन शास्त्री ।
७६. **मध्यप्रदेश के पुरातत्व की रूपरेखा**—एम० जी० दीक्षित ।
७७. **विक्रमादित्य (संवत्-प्रवर्तक)**—डा० राजबली पाण्डेय ।
७८. **हिन्दू संस्कार**—डा० राजबली पाण्डेय, प्र० सं० ।
७९. **सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ-पद्धति)**—डा० मोतीचन्द्र ।
८०. **दण्डनीति**—केशव पण्डित, प्र० सं० ।
८१. **संस्कृत ग्रन्थ सूची (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज)** १, २ भाग ।
८२. **धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग १, २, व ३)** मूल लेखक—भारतरत्न डा० पी० वी० काने, अनु० अर्जुन कश्यप चौबे, प्र० सं०
८३. **वेदकालीन समाज**—डॉ० शिवदत्त ज्ञानी
८४. **वैदिक इतिहास विमर्श**—वैद्यनाथ शास्त्री ।
८५. **पुराण विमर्श**—पं० बलदेव उपाध्याय ।
८६. **अभिलेखमाला**—पं० रमाकान्त तथा हरिहर झा, प्र० सं०, सं० २०१९ ।
८७. **भारतीय संस्कृति का उत्थान**—डा० रामजी उपाध्याय, सं० २०१८ ।
८८. **हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : प्रथम भाग (हिन्दी साहित्य की पीठिका)**—सं० डा० राजबली पाण्डेय, सं० २०१४ वि० ।
८९. **संक्षिप्त वाल्मीकि रामायण**—डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास, १९६० ।

९०. श्री मद्भगवद्गीता—शांकरभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित, अनुवादक श्री हरि-कृष्णदास गोयन्दका, सं० २०१८।

९१. प्राचीन भारतीय साहित्य (इतिहास काव्य, पुराण और तन्त्र) (प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड)—ले० विंटरनित्ज, अनु० डा० रामचन्द्र पाण्डेय।

९२. प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रस्तावना, वेद-वेदाङ्ग)—विंटरनित्ज (अनु० लाजपतराय)।

९३. सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास (द्वि० सं० १९६५) —डा० बैजनाथ पुरी।

९४. भारतीय दर्शन—डा० उमेश मिश्र।

९५. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग) वेदों की शाखाएँ —ले० पं० भगवद्दत्त।

९६. वैदिक धर्म एवं दर्शन (प्रथम तथा द्वितीय भाग)—मूल लेखक डा० ए० बी० कीथ, अनुवादक डा० सूर्यकान्त शास्त्री, प्र० सं०।

९७. प्राचीन भारत का कला-विकास—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०।

९८. अथर्ववेद संहिता—वेदार्थबोधिनी
हिन्दी व्याख्या सहित—चौखम्बा

९९. ऋक्सूक्त वैजयन्ती—स० प्रो० आचार्य हरिदामोदर वेतणकर

१००. ऋग्वेद संहिता (प्रथमो भागः)—श्री मत्सायणाचार्य विरचित, माधवीयवेदार्थ प्रकाश संहिता, सम्पादक—श्रीमन्मोक्षमूलर भट्ट।

१०१. प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान—डा० वासुदेव उपाध्याय।

सहायक अंग्रेजी ग्रन्थों की सूची

1. The Vakataka Gupta Age
—*R. C. Majumdar & A. S. Altekar, 1960*
2. Ancient India—*R. S. Tripathi.*
3. Hindu Polity : *K. P. Jayaswal.*
4. Position of women in Hindu Civilisation—*Altekar.*
5. Indian Palaeography—*Rajbali Pandey.*
6. Rigvedic India—*A. C. Das.*
7. A History of Sanskrit Literature—*Dr. Keith.*
8. History of Sanskrit Literature—*Winternitz.*
9. Early History of India—*Smith.*
10. Excavation in Sind—*N. C. Mazumdar.*
11. Recent Discoveries in the Indus Valley—*Sri John Marshall.*
12. Mohenjodaro and the Indus Civilization.
—*Marshall, Macay and others.*
13. Indian Architecture—*O. C. Ganguli.*
14. A History of Fine art in India and Ceylon.
—*Vincent A. Smith.*
15. A Handbook of Indian Art—*F. B. Havel.*
16. Indian Architecture—*E. B. Havel.*
17. Ancient and Mediaeval architecture in India—*E. B. Havel.*
18. Introduction to Indian Art
—*Anand. K. Kumaraswamy, 1923.*
19. History of Indian and Indonesian Art— „ „ „ *1927.*
20. Archaeological Survey of India, Report, II Simla 1871
—*A. Cunningham.*
21. Vakataka Inscription in Cave XVI at Ajanta (Hyd. Ar. S. XIV) Hyderabad, 1941—*V. V. Mirashi.*
22. Catalogue of the coins of Ancient India (in the British Museum) London, 1936—*J. Allan.*
23. Catalogue of Coins in the Indian Museum, Calcutta, Vol. I Oxford, 1906—*V. A. Smith.*
24. The Age of Imperial Guptas—*R. D. Banerji 1933.*
25. Handbook to the Sculptures in the Mathura Museum, 1939—*Dr. V. S. Agrawala.*
26. Hindu Polity—*Narendra Nath.*

27. India through Ages—*Dr. Yadu Nath Sarkar.*
28. Cultural Heritage of India, Vol. III
—*Ram Krishna Param Hansa Smarak Granth.*
29. The fundamentals of Hindu Sociology
—*Smt. Akshya Kumari Devi.*
30. What can India teach us—*Max Muller.*
31. History of Ancient Sanskrit Literature—*Max Muller.*
32. Translation of the thirteen Principal Upanisads
—*R. E. Hume.*
33. India's Past—*A. A. Macdonell.*
34. History of Philosophy—*A. Weber.*
35. A History of Indian Literature Part I—*M. Winternitz.*
36. History of Indian Literature—*Weber.*
37. The History of Hindu Civilisation—*C. E. M. Joad.*
38. A History of Dharmshastra—*P. V. Kane.*
39. Collected Works of—R. G. Bhandarkar.
40. The Orion or Researches into the Antiquity of the Vedas
—*B. G. Tilak.*
41. The Indus Civilization—*Mackay.*
42. Mohenjodoro seals deciphered
—*W. C. Kavyatirtha Sankhyarnava.*.
43. Prehistoric India—*Piggot.*
44. What happened in History—*V. Garden Child.*
45. Translation of the Fragments of the Indica of Magasthenes
—*Bonn, 1846.*
46. Modern Review (Monthly) Aug., 1932.
47. Jainism in Bihar—*P. C. Roy Chaudhry.*
48. Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol. II.
49. History of Sanskrit Literature—*C. V. Vaidya.*
50. Vedic Index—*Macdonell & Keith.*
51. Selected Inscription—*DisKalkar.*
52. Pre Musalmann India, Vol. I—*Rangacharya.*
53. Vedic Age —*R. C. Majumdar.*
54. Ancient India — ,, ,, ,,
55. The Indus Civilization — ,, ,, ,,
56. Age of Nand and Maurya—*Nilkanth Shastri.*
57. The Buddhist India—*Rati Lal Mehra.*
58. Dynastic History of India—*Raj Choudhry.*
59. Indian Philosophy—*Dr. S. Radhakrishnan.*
60. Ancient India—*J. W. M. Crindle.*

61. Intercourse between India and the Western World —*H. G. Rawl.*
62. Life in Gupta Age—*R. N. Saletore.*
63. The Discovery of India—*Pt. J. L. Nehru.*
64. Fall of Mughal Empire—*Sir Jadu Nath Sarkar.*
65. India in the Ramayan Age—*Dr. S. N. Vyas.*
66. A Study of Hindu art and Architecture —*Lalit Kumar Shukla.*
67. Archaeological Survey of Western India, Vol. IV.
68. Archaeological Remains, Monuments and Museums —*A. Ghosh—I & II Parts.*
69. Archaeology in India.
70. Archives in India—*Sailen Ghose.*
71. Woman in Ancient India—*M. E. R. Martin.*
72. Women in Manu & his seven commentators —*Dr. Ram Mohan Das.*
73. Women in Sanskrit Dramas—*Ratnamayidevi Dikshit.*
74. The Mystery of the Mahabharata—*Dr. N. V. Thadani.*
75. Studies in the Budhistic Culture of India —*Lalmani Joshi.*
76. Foundations of Indian Culture—*K. M. Munshi.*
77. Lights on Vedanta—*Dr. Veeramani Pd. Upadhyaya.*
78. Essay on the Gita—*Sri Aurobind.*
79. Concordance to Principal Upanishads and Bhagavadgita —*J. E. Jacab.*
80. Sacred Books of the East Series (8 Volumes) 1967.
81. The Principal Upanishads—*Dr. S. Radhakrishnan 1951.*
82. Vastu Shastra Vol. I & II—*D. N. Shukla.*
83. Shilpa Shastra—Hindu Achievements in Aeronautics & Five Arts—*D. N. Shukla.*
84. Hymns of Rigveda—*Max Muller.*
85. Hymns of Rigveda—*T. H. Griffith.*
86. Hymns from the Rigveda—*Peterson*

Cultural history — India
India — Cultural history